धारावाही हिन्दीमें

एकादशोपनिषद्—मूल-सहित

[ब्रह्म-विद्या]

(लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार)

आर्य-संस्कृतिके प्राण उपनिषद् हैं। उपनिषदोंके अनेक अनुवाद हुए हैं, परन्तु प्रस्तुत अनुवाद सब अनुवादोंसे विशेषता रखता है। इस अनुवादमें हिन्दीको प्रधानता दी गई है। जो व्यक्ति संस्कृतके बखेड़ेमें न पड़कर उपनिषद्‌का तत्त्व ग्रहण करना चाहे वह सिर्फ हिन्दी भाग पढ़ जाय। उसे कोई स्थल ऐसा नहीं मिलेगा जो सरल न हो, स्पष्ट न हो, जिसमें किसी तरहकी कोई भी उलझन हो। ऊपर मोटे-मोटे अक्षरोंमें हिन्दी भाग दिया गया है, यह हिन्दी भाग धारावाही तौरपर दिया गया है, और जो-कोई हिन्दी तथा मूल संस्कृतकी तुलना करना चाहे उसके लिए अंक देकर नीचे संस्कृत भाग भी दे दिया गया है। फुटनोट में दिये संस्कृत भागको छोडकर जो सिर्फ हिन्दी भाग पढना चाहे वह धारावाही हिंदी भागको पढता चला जाय—विषय एकदम स्पष्ट होता चला जायगा, कहीं, किसी तरहका अटकाव नहीं आयगा। पुस्तककी सबसे बडी विशेषता यही है कि अनुवादमें मक्खीपर मक्खी मारनेकी कोशिश नहीं की गई, विषयको खोलकर रख दिया गया है। साधारण पढे-लिखे लोगो तथा संस्कृतके अगाध पंडितों—दोनोंके लिये यह नवीन ढंगका ग्रन्थ है। यही इस अनुवादकी मौलिकता है।

मुख्य-मुख्य उपनिषद् ग्यारह मानी गई हैं। इन सभी उपनिषदों का धारावाही हिन्दी अनुवाद इस ग्रन्थमें मूल-सहित दे दिया गया है। पुस्तकको रोचक बनानेके लिये जगह-जगह चित्र भी दिये गये हैं। सजिल्द पुस्तक का मूल्य बारह रुपया।

ब्रह्मचर्य-सन्देश

[लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार]

नवयुवकोको 'ब्रह्मचर्य' जैसे गम्भीर विषयपर सरल, सुन्दर भाषामें जो-कुछ कहा जा सकता है इस पुस्तकमें कह दिया गया है। स्वर्गवासी स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराजने इस पुस्तककी भूमिका लिखी थी। स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज भारत-भूमिके पहले व्यक्ति थे जिन्होने शिक्षाके क्षेत्रमें 'ब्रह्मचर्य'को क्रियात्मक महत्त्व देनेके लिये गुरुकुल कांगड़ीकी स्थापना की थी। ऐसे महापुरुषने इस पुस्तककी भूमिका इसीलिये लिखी थी क्योकि उन्होने पुस्तकके महत्त्वको देख लिया था। इस पुस्तकने हिन्दी साहित्यमें अमर स्थान बना लिया है। पुस्तकके चार सस्करण निकल चुके है, पाँचवें सस्करणका प्रबन्ध हो रहा है। पुस्तककी श्रेष्ठता इसीसे सिद्ध है कि इसके गुजराती में दो स्वतत्र अनुवाद हो चुके है।

खंडवाका 'कर्मवीर'-पत्र लिखता है—"इस विषयपर हिन्दीमें सबसे अधिक प्रामाणिक, सबसे अधिक खोजपूर्ण और सबसे अधिक ज्ञातव्य बातोसे भरी हुई यही पुस्तक देखनेमें आयी है।"

दिल्लीका 'अर्जुन' लिखता है—"हम चाहते है कि प्रत्येक नव-युवकके हाथमें यह पुस्तक हो।"

लखनऊकी 'माधुरी' लिखती है—"भाषा परिमार्जित और वर्णन-शैली एकदम अछूती है। मालूम होता है, कोई विज्ञानवेत्ता सासारिक तत्त्व-विवेचनापर व्याख्यान दे रहा है। आजकल जितनी पुस्तकें इस विषयपर निकली है, उन सबमें यह बढिया है।"

पुस्तक सचित्र तथा सजिल्द है। मूल्य साढे चार रुपया।

शिक्षा-शास्त्र

लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार तथा आचार्या चन्द्रावती लखनपाल एम० ए०, बी० टी० (एम० पी०)

'शिक्षा' के सम्बन्धमें जितने आधुनिक विचार है वे सब इस ग्रन्थमें, थोडे-सेमें, अत्यन्त सरल तथा रोचक भाषामें दे दिये गये हैं। शिक्षाके सिद्धान्त(Principles of Education), शिक्षा की विधि(Method of Education), शिक्षाका विधान (Organisation of Education) तथा भारतीय शिक्षाका आदिकालसे आजतकका इतिहास (History of Indian Education)—ये सब विषय इस ग्रन्थमें एक स्थान पर दे दिये गये हैं। इस पुस्तककी उपयोगिता इसी बातसे स्पष्ट है कि शिक्षा-संस्थाओमें जहा-जहां 'शिक्षा' विषय पढाया जाता है वहा-वहा इस पुस्तकका सर्वोत्कृष्ट स्थान है।

पुस्तककी भूमिका श्रीसम्पूर्णानन्दजीकी उस समयकी लिखी हुई है जब वे शिक्षा-मत्री थे। सजिल्द पुस्तकका दाम तीन रुपया।

स्त्रियों की स्थिति

लेखिका—आचार्या चन्द्रावती लखनपाल एम० ए०, बी० टी० (एम० पी०)

इस पुस्तककी लेखिकाको, इस पुस्तकके लिखनेपर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने सर्वोत्तम लेखिका घोषित कर ५०० (पाच सौ) रुपयेका 'सेकसरिया पुरस्कार' दिया था। इस पुस्तकमें स्त्रियो सम्बन्धी प्रश्नोपर बिल्कुल मौलिक ढगसे विचार किया गया है। पुस्तककी विचार-धारा में एक प्रवाह है जो साहित्यिक पुस्तको में कम देखने में आता है। यह पुस्तक पिता अपनी पुत्रीको, पति अपनी पत्नीको और भाई अपनी बहिनको भेंट दे तो इससे बढकर दूसरी भेंट नहीं हो सकती।

सजिल्द पुस्तकका दाम साढे तीन रुपया।

मगलाप्रसाद परितोपिक-प्राप्त

शिक्षा-मनोविज्ञान

लेखिका—आचार्या चन्द्रावती लखनपाल एम० ए०, बी० टी०

'शिक्षा-मनोविज्ञान' पर यह हिन्दीमें सर्वोत्तम पुस्तक है। इसपर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनने १२०० (बारह सौ) रुपयेका मगलाप्रसाद-पारितोषिक देकर लेखिकाको सम्मानित किया है।

काशी-विश्वविद्यालयके ट्रेनिंग कॉलेजके उस समयके प्रिन्सिपल जिस समय यह पुस्तक लिखी गई थी रायबहादुर पं० लज्जाशंकर झा, आई० ई० एस० ने इस पुस्तकपर निम्न सम्मति प्रकट की थी :—

"मुझे शिक्षा-मनोविज्ञान विषयसे विशेष प्रेम है, और मुझे इस विषय की अनेक पुस्तकें देखनेका अवसर मिला है। हिन्दीमें इस विषयपर अभी तीन-चार ही पुस्तकें छपी है, वे भी देखी है, परन्तु चन्द्रावतीजीकी पुस्तकमें निम्न गुण मुझे बहुत अधिक पसन्द आये :—

१ चन्द्रावतीजीने विषयका बहुत ही अच्छा अध्ययन कर लिया है, और उनकी बुद्धि कुशाग्र और निर्मल होनेके कारण उन्होंने विषयकी बारीकियोंको भी खूब समझा है।

२. विषय बहुत ही रोचकरूपसे सामने रखा गया है, शब्दाडम्बर नहीं है। भाषा सरल तथा शुद्ध है। पारिभाषिक शब्द मनको एकदम ठीक जचते है।

३ उदाहरण अपने अनुभव से दिये है।

४ मनोविज्ञान जटिल विषय है, परन्तु लेखिकाने ट्रेनिंग कॉलेजकी पद्धतियोंका अनुसरण करके विषय अत्यन्त रोचक और बहुत ही स्पष्ट बना दिया है।

चन्द्रावतीजी ने ऐसी उत्तम पुस्तक लिखकर हिन्दी-साहित्यकी भारी सेवा की है, और ट्रेनिंग कॉलेजको तो वरतंतुके शिष्यके समान १४ करोडकी दक्षिणा चुका दी है।"

पुस्तक सचित्र है, सजिल्द है—दाम पाच रुपया।

विषय-सूची

भूमिका

पिछले दिनो योरुपसे फ्रंक बुकमैनकी दो सौ स्त्री-पुरुषोकी मडली भारतमें आयी, और उन्होने जगह-जगह एक वातकी धूम मचा दी। उनका कहना था कि वे ससारको एक नये सिरेसे बनाना चाहते हैं। अब-तक हमने विश्वके विकासमें ईर्षा-द्वेष, लूट-खसोट, छीना-झपटीको आधार बनाकर सब-कुछ किया, इससे लडाई-झगडे-अशान्ति बढी, अब हम इन तत्त्वोके स्थानमें सत्य, प्रेम, सहानुभूति, त्याग, तपस्याको आधार बनाकर विश्वका नव-निर्माण करना चाहते हैं। इस विचार-धाराको उन्होने 'नैतिक-सैन्यीकरण' (Moral Re-armament) का नाम दिया है। भौतिकवादके गढ योरुपमें आध्यात्मिकताकी इस प्रकारकी प्रति-क्रियाका उत्पन्न हो जाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। भारतके ऋषि-मुनियोने सहस्रो वर्ष पहले, अनुभवसे, यह निष्कर्ष निकाल लिया था कि भौतिकवाद जिन तत्त्वोको आधार बनाकर चलना चाहता है वे सारहीन है, उन्हें जीवनकी नींवमें डालकर चलनेसे मनुष्य एक कदम भी आगे नहीं बढ सकता। आजतक काम-क्रोध-लोभ-मोहको आधार बनाकर चलनेसे दुनियाँ कहां तक आगे बढी ?

भारतके आध्यात्मिक विचारकोका तो कहना यह था कि और तो और, भौतिकवाद भी इन तत्त्वोके सहारे अपने भवनका निर्माण नहीं कर सकता। कौन भौतिकवादी है जो मार-काट, झूठ, चोरी, बेईमानी और संयमहीनताको ठीक कहता हो ? कोई नहीं कहता। परन्तु क्यो नहीं कहता ?

जब, जो दीखता है वही सत्य है, जो नहीं दीखता वह झूठ है, तब तो स्वार्थ ही संसारका अंतिम लक्ष्य हो सकता है, परार्थ, सेवा, प्रेम, मैत्री, बन्धुत्व— ये सिर्फ मन परचानेके तत्त्व हो सकते हैं, ऐसे तत्त्व जो जबतक स्वार्थको सिद्ध करें तबतक ठीक, जहां व्यक्तिके स्वार्थमें बाधक पड़ें, वहा गलत। भौतिकवादी दृष्टिसे ऐसा ही होना चाहिये, परन्तु आश्चर्यकी बात है कि भौतिकवाद भी उन्हीं तत्त्वोंका नाम लेता है जिनका नाम अध्यात्मवाद लेता है। सचाई, प्रेम, ईमानदारी और इनसे मिलते-जुलते तत्त्व जो अध्यात्मवादकी नींवमें पडे हैं उन्हें भौतिकवाद भी छोड़ना नहीं चाहता। प्रश्न यही है कि भौतिकवाद इन्हें एकदम छोड देनेसे क्यो घबराता है? इस प्रश्नका उत्तर यही हो सकता है कि भौतिकवाद इन आध्यात्मिक तत्त्वोंको इसलिए नहीं छोडना चाहता क्योंकि उसे भी दीखता है कि घोर-से-घोर जड़वादी जगत्में सचाईसे ही काम चलता है, झूठसे नहीं, प्रेमसे ही इस मशीनकी कर्कशताको मिटाया जा सकता है, ईर्षा-द्वेष, लडाई-झगड़ेसे नहीं। हां, इसमें सन्देह नहीं कि क्योंकि अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि सार्वत्रिक तथा सार्वभौम रूपसे अध्यात्म-तत्त्व हैं, भौतिकवादके ये मूलतत्त्व नहीं हैं, इसलिए भौतिकवाद इन तत्त्वोंको तभी तक पकडता है जबतक ये व्यक्तिके स्वार्थको सिद्ध करते दीखते हैं, जहां इनसे व्यक्तिको अपना स्वार्थ सिद्ध होता नहीं दीखता वहीं वह इनसे किनारा काटनेकी कोशिश करता है। भौतिकवादीको सचाई तबतक ठीक जंचती है जबतक इससे उसका मतलब सिद्ध होता है, जहां स्वार्थको ठेस लगी वहीं झूठ ठीक और सचाई ग़लत लगने लगती है। ईमानदारी भी तभी तक ठीक है जबतक अपना मतलब निकलता हो, जहा स्वार्थ बेईमानीसे सिद्ध होता हो वहां बेईमानी ठीक मालूम पड़ती है। स्वय कोई सच बोलना नहीं चाहता, परन्तु दूसरेको झूठ बोलते देख उसपर बरस पडता है; स्वयं हरेक बेई-

मानी करता है, दूसरेको ईमानदारीसे न वरतते देख तिलमिला उठता है; अपने आप दुराचार करे तो कुछ नहीं, परन्तु दूसरेको सदाचारसे हटते देखकर सहन नहीं करता। अपने लिये कुछ नहीं, दूसरेके लिये सब-कुछ। भौतिकवाद इस दृष्टि-कोणपर टिकनेका प्रयत्न करता है, परन्तु धीरे-धीरे यह जाहिर होने लगता है कि यह दृष्टि अपनेको स्वयं काट डालती है। यह कैसे हो सकता है कि हम झूठ और वेईमानी को अपना आधार बनायें और दूसरोसे सच और ईमानदारीकी आशा करें ? यह स्थिति टिक नहीं सकती। दूसरेके लिये जो ठीक है वही हमारे लिये भी ठीक है—ऐसा मानने से ही व्यवहार चल सकता है। सचाई, ईमानदारी, प्रेम—ये तत्त्व जव दूसरे में हो तभी मेरा काम चलता है, इनके बिना नहीं, तव मेरेमें भी तो इन्हीं तत्त्वोके आनेसे ससारका कारोबार चलेगा। तभी तो प्रगाढ भौतिकवाद-की अवस्थामें भी सत्य, अहिंसा, प्रेम, विश्व-बन्धुत्व आदिके आध्यात्मिक-तत्त्व मानो हमें चिपटे-से जाते है, हमें छोडते नहीं। हमारे चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने असत्यको सत्य, द्वेषको प्रेम, दुराचारको सदाचार छुरीकी तेज धारकी तरह चीरता हुआ आगे बढ आता है। ऐसा क्यो होता है ? ऐसा इसलिये होता है क्योकि ये ही तत्त्व शाश्वत है, नित्य है, भौतिकवादके लाख कोशिश करनेपर भी हम इनसे अपना पीछा नहीं छुडा सकते। ये आध्यात्मिक-तत्त्व विश्वकी रचनाके आधारमें नींव बनकर बैठे हुए है। जिसने कहा था—'सत्येनोत्तभिता भूमि.'—सत्यपर भूमि टिकी हुई है—उसने एक ऐसी सचाईकी घोषणा की थी जिसे सहस्रो वर्षोंकी भौतिकवादकी टक्कर भी नहीं हिला सकी। भौतिकवादी विश्व की रचनामें कुछ भौतिक तत्त्वोका दर्शन करते है, ये तत्त्व ठीक है, इससे कोई इन्कार नहीं करता, परन्तु भारतके तत्त्व-वेत्ताओने कुछ ऐसे मूल-तत्त्वोके दर्शन किये थे जिन्हें अगर विश्वकी नींवमेंसे खींच लिया जाय

तो यह विशाल जगत् मट्टीके ढेरकी तरह नीचे आ गिरता है। इन तत्त्वोके दर्शन करनेवालोने आर्य-सस्कृतिको जन्म दिया था, और उन्होने इन्हीं तत्त्वोको आधार बनाकर जीवनके भव्य-भवन को खडा किया था। इस पुस्तकमें हम जगह-जगह उन्हीं तत्त्वोके दर्शन करेंगे।

आर्य-सस्कृतिके विषयमें बहिरंग-दृष्टिसे कई पुस्तकें लिखी गयी है। यह सस्कृति कब उत्पन्न हुई, कहा उत्पन्न हुई, ऐतिहासिक दृष्टिसे कहा-कहा पहुँची ? हमने इस पुस्तकमें अन्तरग-दृष्टिसे विचार किया है। आर्य-सस्कृति क्या है, इसके मूल-तत्त्व क्या है, उनका वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार क्या है, वर्तमानकालीन विचार-धारामें उनका क्या स्थान है, भारतके ऋषि-मुनियोकी जीवनके प्रति दृष्टि क्या थी, संस्कृतिके जिन मूल-तत्त्वोका उन्होने दर्शन किया था उन्हें जीवनमें क्रियात्मक तथा व्यावहारिक रूप किस प्रकार दिया था—इन्हीं सब बातोका इस पुस्तकमें विवेचन करनेका प्रयत्न किया गया है।

विद्या-विहार
देहरादून

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

[१]

आर्य-संस्कृतिका केन्द्रीय-विचार

सदियोकी पराधीनताके बाद आज भारत स्वाधीनताके मार्गपर चल पडा है। अबतक हम दूसरोके दिखाये मार्गपर चलते थे, अब अपने निर्धारण किये हुए मार्गपर चलेंगे। हमारा मार्ग क्या होगा—यह भविष्यत् बतलायेगा, परन्तु भूतके आधारपर, भारतीय विचारधाराकी परपराके आधारपर, भारतीय-साहित्यके आधारपर यह बतलाया जा सकता है कि अबतक हमारे मार्गकी दिशा क्या रही है, हम पराधीन होनेसे पहले सैकडो नही, हजारो सालोतक किस मार्गपर, और उस मार्गपर भी किस दिशाकी तरफ चलते रहे है। आर्य-सस्कृतिके मूल-तत्त्वोको जाननेवालोका यह निश्चित विचार है कि प्राचीनकालमें भारतके ऋषि-महर्षियोने भारतको जिस मार्गपर डाला था, इस देशके सम्मुख जो लक्ष्य निर्धारित कर दिया था, वही मार्ग और वही लक्ष्य हमारा और ससारका कल्याण कर सकता है, और अब फिर भारतको अपने तथा विश्वके कल्याणके लिये उसी मार्गपर चलना होगा, उसी ध्येयको अपना लक्ष्य बनाना होगा। भारतके भविष्यका निर्माण अगर ऋषि-मुनियोके निर्धारित किये हुए लक्ष्यको सम्मुख रखकर होगा, तो यह देश फिरसे

ससारका मार्ग-प्रदर्शक बनेगा, फिरसे दुनियाँका सरताज होगा। परन्तु प्रश्न उठता है कि वह लक्ष्य क्या था, उसे कहा ढूढें, कहा पायें ?

उस लक्ष्यको पानेके लिये हमें 'आर्य-सस्कृति'के मूल-तत्त्वोकी खोजमें निकलना होगा। इस देशने अपने यौवन-कालमें एक 'सस्कृति' को जन्म दिया था जो अन्य सस्कृतियोसे भिन्न थी। जैसे आजकल बडे-बड़े शहरो पर गौरव किया जाता है, अमुक शहरमें चालीस मजिलके मकान हैं, साठ-साठ मीलके दायरेतक मकान-ही-मकान बने हुए हैं, वैसे भारतीय संस्कृतिमें बड़े-बड़े तपोवनोपर गौरव किया जाता था। अमुक ऋषि दण्डकारण्यमें रहते हैं, अमुक ऋषि बृहदारण्यमें निवास करते है ! उस संस्कृतिमें शहर तो थे, परन्तु शहरोकी अपेक्षा जगल अधिक मशहूर थे। शहर चारो तरफसे ऐसे वनोसे घिरे हुए थे, जिनमें तपस्वी लोग अपनी कुटियाओंमें बैठे आध्यात्मिक तत्त्वोका चितन किया करते थे। तपोवनोकी वह सस्कृति आजकी शहरोंकी सभ्यतासे मौलिकरूपमें भिन्न थी। हम इस पुस्तकमें जगह-जगह उस सस्कृतिका उल्लेख करेंगे, परन्तु क्योकि आजकलके लोग तपवनोके उन ऋषि-मुनियोके लिये 'सभ्य' शब्दका प्रयोग करते हुए हिचकिचाते है इसलिये यह जान लेना आवश्यक है कि 'सभ्यता' तथा 'सस्कृति' म क्या भेद है, और अगर हम उन्हें 'सभ्य' न कहें, तो क्या हमारे किसी मान-दडसे वे जीवनकी तुलामें हमसे नीचे उतरते है ?

'सभ्यता' भौतिक और 'सस्कृति' आध्यात्मिक है—

'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' में आधारभूत भेद है। सभ्यता शरीर है, संस्कृति आत्मा है; सभ्यता बाहरकी चीज है, संस्कृति भीतरकी चीज है; सभ्यता भौतिक विकास का नाम है, सस्कृति आध्यात्मिक विकासका

नाम है । रेल, तार, रेडियो, मोटर, हवाई जहाज आदि—ये सब सभ्यताके विकासके निदर्शक हैं; सचाई-झूठ, ईमानदारी-बेईमानी, सन्तोष-असतोष, सयम-सयमहीनता आदि—ये सब सस्कृतिके ऊचे या नीचे विकासके निदर्शक हैं ।

यह जरूरी नहीं कि संस्कृतिके विकासमें हम इस परिणामपर ही पहुचें कि हमें जीवनमें सचाई से ही काम लेना चाहिए, झूठसे नही; ईमानदारीसे ही रहना चाहिए, बेईमानीसे नहीं, सतोषको ही लक्ष्य बनाना चाहिए, असन्तोषको नही; संयमसे ही रहना चाहिए, असंयमसे नहीं । हो सकता है, कोई देश ऐसी सस्कृतिको ही अपनाये जिसमें झूठ, बेईमानी, असन्तोष, सयमहीनता आदि ही आधारभूत तत्त्व हो, परन्तु ऐसोको 'सु'-संस्कृत नहीं कहा जाता । सस्कृतिके क्षेत्रमें जो लोग अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा इसी प्रकारके आध्यात्मिक तत्त्वोको आधार बनाकर चलेंगे वे एक प्रकारकी सस्कृतिको जन्म देंगे, जो हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह आदिके दूसरी प्रकारके तत्त्वोको आधार बनाकर चलेंगे वे दूसरे प्रकारकी सस्कृतिको जन्म देंगे । इन दोनोका क्षेत्र संस्कृति होगी—एक ऊची सस्कृति, दूसरी नीची सस्कृति—परन्तु उसे सभ्यता नहीं कहा जायगा । सभ्यताका संबध हिंसा-अहिंसासे, सत्य-असत्यसे, अस्तेय-स्तयसे, ब्रह्मचर्य-अब्रह्मचर्यसे, अपरिग्रह-परिग्रहसे नही । एक व्यक्ति पैसेवाला है, बडे भारी मकानमें रहता है, दो-चार मोटरें है, पाच-दस नौकर है, घरमें रेडियो है, परन्तु परले दर्जेका झूठा, बेईमान, दुराचारी, शराबी है । वह सभ्य है, सुसस्कृत नहीं; ऊचे अर्थोमें, उसके पास सभ्यता है, संस्कृति नहीं, और अगर उसके पास कोई संस्कृति है, तो वह ऊची-सस्कृति, दैवी संस्कृति नहीं, नीची-सस्कृति, आसुरी सस्कृति है, क्योकि वह अहिंसाके स्थानमें हिंसाको, सत्यके स्थानमें असत्य-

को, अस्तेयके स्थानमें स्तेयको, ब्रह्मचर्यके स्थान में अब्रह्मचर्यको, अपरिग्रहके स्थानमें परिग्रहको जीवनका आधार बनाये हुए है। नीची, आसुरी सस्कृतिको—ऐसी सस्कृतिको जो झूठ, बेईमानी, ईर्षा, द्वेष, घृणा आदिपर खडी हो—कोई सस्कृति नहीं कहता, इसलिये हम भी इस प्रकारकी सस्कृतिके लिये 'सस्कृति' शब्दका प्रयोग नहीं करेंगे। इस दृष्टिसे कोई व्यक्ति 'सभ्य' होता हुआ 'असस्कृत' हो सकता है, और 'सुसस्कृत' होता हुआ 'असभ्य' हो सकता है क्योंकि सभ्यता भौतिक है, बाहरकी चीज है, संस्कृति—अच्छी हो, बुरी हो—आध्यात्मिक है, भीतरकी वस्तु है। विश्वामित्र ऋषि जगलमें एक पर्ण-कुटीमें रहते थे, वशिष्ठ ऋषि चर्म पहनते थे, महाराजा रामचन्द्र घोडेके रथपर सवारी करते थे, 'सभ्यता' की दृष्टिसे आजकलके महलोमें रहनेवालो, मिलोका मुलायम कपडा पहननेवालो और हवाई जहाजकी सवारी करनेवालो से वे नीचे थे, परन्तु 'सस्कृति' की दृष्टिसे वे आजकलके लोगोसे बहुत ऊचे थे, क्योंकि आत्म-तत्त्वको निखारनेवाले, नीचेको ऊंचा बनानेवाले, मनुष्यको मनुष्य बनानेवाले सस्कार उनके रोम-रोममें बसे हुए थे।

'सभ्यता' और 'सस्कृति' साथ-साथ भी चल सकती है, एक दूसरे के बिना भी रह सकती हैं। यह हो सकता है कि एक देश भौतिक-दृष्टि से अत्यन्त उन्नत हो, उसमें रेल, तार, रेडियो, मोटर—सब-कुछ हो, और साथ ही उस देशके वासी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदिके आध्यात्मिक तत्त्वोको भी जीवनका मुख्य सूत्र समझते हो। यह तो सबसे ऊंची अवस्था है, आदर्श स्थिति है। इस अवस्थामें उस देशकी सभ्यता तथा सस्कृति दोनो ऊची कही जायगी। यह भी हो सकता है कि एक देश भौतिक दृष्टियोसे बहुत ऊचा हो, वहां विज्ञानके सब आविष्कार अपनी चरम सीमापर पहुच चुके हो, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टिसे वह बहुत

नीचा हो। वहां मोटरें हो, परन्तु मोटरोपर बैठकर लोग डाके डालते हो; रेडियो हो, परन्तु रेडियोपर अश्लील और गन्दे ही गाने गाये जाते हो। इस अवस्थामें उस देशकी सभ्यता ऊची, परन्तु सस्कृति नीची कही जायगी। यह भी हो सकता है कि एक देश भौतिक-दृष्टिसे नीचे स्तर में हो, परन्तु आत्मिक-स्तरमें बहुत ऊंचा उठा हुआ हो। उस देशके वासी दूसरेके दु.खमें दु खी होते हो, दूसरेके कल्याणके लिये अपने स्वार्थ को तिलाजलि देते हो, झूठ, बेईमानी, दुराचारसे दूर रहते हो, परन्तु वे मोटरोके बजाय बैलगाडियोमें चलते हो, महलोके बजाय झोपडोमें रहते हो। इस अवस्थामें वह देश सभ्यतामें भले ही पिछडा हुआ गिना जाय, परन्तु सस्कृतिमें उस देशके सामने सिर झुकाना होगा।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सभ्यता' तथा 'सस्कृति' में ऊचा स्थान संस्कृतिका है—ऐसी सस्कृतिका जिसके आधारमें सचाई, ईमानदारी, सतोष, संयम, प्रेम आदि आध्यात्मिक-तत्त्व काम कर रहे हो। रेल, तार, रेडियोकी ससारको इतनी आवश्यकता नहीं, जितनी सचाई, ईमानदारी, सयम और विश्व-प्रेमकी। दोनोका होना सबसे अच्छा, परन्तु दोनो न हो तो सस्कृतिका होना सभ्यतासे अच्छा। सभ्यता को संस्कृतिकी रक्षाके लिये छोडा जा सकता है, सस्कृतिको सभ्यताकी रक्षाके लिये नहीं छोडा जा सकता। आत्माके लिये शरीर छूट सकता है, शरीरके लिये आत्मा कैसे छूटेगा?

सस्कृति किसी सशक्त केन्द्रीय-विचारसे उत्पन्न होती है—

हमने देखा कि 'सभ्यता' तथा 'सस्कृति' में क्या भेद है। हमने यह भी देखा कि 'सस्कृति' क्या है? परन्तु 'संस्कृति' उत्पन्न कैसे होती है? 'सस्कृति' का उद्भव जातिके जीवनके किसी ऐसे सशक्त विचारसे होता

है जो उस जातिके जीवन-रूपी वृत्तका मानो केन्द्र होता है, उस जातिके विकासकी सम्पूर्ण धारा उसी विचार-रूपी स्रोतसे मानो प्रवाहित होती है। जिस जातिके पास उसके जीवनको विकसित करनेवाला ऐसा सशक्त केन्द्रीय विचार नहीं होता, उस जातिकी सस्कृति शून्यके बराबर होती है, जिसके पास होता है उसकी संस्कृति उस जातिको सैकडोमें एक बना देती है। संस्कृतिका प्रवाह जीवनके किसी केन्द्रीय विचारसे प्रस्फुटित होता है। यह विचार ऐसा होता है जैसे शरीरमें आत्मा। आत्मासे शरीरका जीवन है, उस केन्द्रीय-विचारसे संस्कृतिका जीवन है। यह विचार जितना प्रबल होगा उतनी सस्कृति प्रबल होगी, प्राणवती होगी, यह विचार जितना निर्बल होगा उतनी सस्कृति निर्बल होगी, प्राणहीन होगी। ससारमें एक नहीं अनेक सस्कृतिया आयीं और नष्ट हो गयीं। क्यो नष्ट हुई? इस-लिये क्योकि उन सस्कृतियोका केन्द्रीय-विचार निर्बल पड गया, ससार में विचारोके संघर्षमें वह टिक नहीं सका। जिस जातिके जीवनमें कोई केन्द्रीय विचार नहीं होता, ऐसा विचार नहीं होता जिसके लिये वह जाति जीती-मरती है, वह ससारमें विजय प्राप्त करती हुई भी उस जातिके सम्मुख सिर झुका देती है जिसे इसने जीता होता है। जिस जातिके जीवनमें कोई केन्द्रीय-विचार होता है, ऐसा विचार होता है जो उसे मरते-मरते भी जिन्दा रख सके, वह पराजित होती हुई भी विजेताओके सामने सिर नहीं झुकाती। मिस्र, ग्रीस, रोम, बैबीलोनकी सस्कृतिया नष्ट हो गयी। क्यों नष्ट हुई? इसलिये क्योकि इन देशोकी सस्कृतियोको जीवित रखनेवाला कोई ऐसा सबल, सशक्त, प्राणवान् विचार नहीं रहा जो इनकी सस्कृतियोको जीवित रख सकता। ये देश तो अब भी मौजूद है, परन्तु अब जो-कुछ है, वह ईंट-पत्थर है, जिस केन्द्रीय विचारने इन ईंट-पत्थरोको खडा किया था, जिस विचारने मिस्रको मिस्र, यूनानको यूनान और

रोमको रोम बनाया था वह समाप्त हो गया—आत्मा चला गया, शरीर रह गया, परन्तु सस्कृति तो आत्मा है, शरीर नहीं, इसलिये शरीरके रह जानेपर भी आत्माके न होनेके कारण उन देशोका होना-न-होना बराबर है। भारत सदियोतक पराधीन रहा, इस पराधीनताको भारतके शरीरने माना, इसके आत्माने नहीं माना। क्यो नहीं माना? इसलिये क्योकि भारतीय संस्कृतिके आधारमें कोई ऐसा केन्द्रीय विचार था, जो दबाये दब नहीं सका, मिटाये मिट नही सका, हटाये हट नहीं सका।

आर्य-सस्कृतिका केन्द्रीय-विचार—

वह केन्द्रीय-विचार क्या था? भारतकी संस्कृतिके प्राण वेद रहे है, उपनिषद् रहे है, गीता रही है। यहाकी सस्कृतिका मूल-मत्र वही विचार था जिसका वेदके ऋषियोने गान किया था, जिसका उपनिषदोंके मुनियो ने उपदेश दिया था, जिसका गीतामें श्रीकृष्णने प्रतिपादन किया था। यहाका मूल-भूत विचार एक था—प्रकृति है, परन्तु प्रकृति ही सब-कुछ नहीं, प्रकृतिके पीछे आत्म-तत्त्व है, वही तत्त्व जिसे कुछ लोग परमात्मा कहते है; शरीर है, परन्तु शरीर ही सब-कुछ नहीं, शरीरके पीछे भी आत्म-तत्त्व है, वही तत्त्व जिसे कुछ लोग जीवात्मा कहते है। प्रकृति और शरीर का खेल संसार है, ससार है, तो ससारका भोगना भी टल नहीं सकता; परन्तु जैसा सत्य यह है कि ससारको हमने भोगना है, वैसा ही अटल सत्य यह भी है कि ससारको हमने छोडना भी है। परमात्म-तत्त्वके सामने प्रकृति-तत्त्व तुच्छ है, जीवात्म-तत्त्वके सामने शरीर-तत्त्व तुच्छ है। जीवात्म-तत्त्वने शरीरको साधन बनाकर परमात्म-तत्त्वकी तरफ आगे-आगे बढते जाना है, जहा पहुच चुका है उसे छोडकर जहा नहीं पहुचा वहा कदम बढाना है। द्वैत मानें, अद्वैत मानें, आस्तिकवाद मानें, नास्तिकवाद मानें—

आर्य-सस्कृतिकी घोषणा है कि जब प्रत्येक व्यक्तिको ससार किसी-न-किसी दिन छोड़ना है, तब ससारमें रमे रहना, इसीके भोगोमें लिप्त रहना किसीका अन्तिम लक्ष्य नहीं हो सकता। सुख तो नास्तिक-से-नास्तिक भी चाहता है। ससारको भोगनेमें सुख है, परन्तु इन भोगोमें लिप्त रहनेमें सुख नहीं। जीवनका वही मार्ग सुख देनेवाला है जिससे मनुष्य ससार को भोगता हुआ भी उसमें लिप्त न हो—'एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे'। जब अन्तिम सत्ता इसकी नही, उसकी है, विश्वकी नहीं, विश्वात्माकी है, तब निर्लेप, निस्सग, निष्काम-भावसे ससारमें रहना—यही तो जीवनका एकमात्र लक्ष्य रह जाता है। इस विचारमें ससार को बिल्कुल त्याग देनेका, जगलमें भाग जानेका भाव नहीं है। आर्य-सस्कृति यथार्थवादी सस्कृति है। ससार जो-कुछ दिखायी देता है वह उसे वैसा मानती है, उसकी सत्ताको पूरी तरहसे स्वीकार करती है। यह ससार हमारे भोगनेके लिये रचा गया है। यह इसलिये नहीं रचा गया कि इसे देखकर हम आखें मूद लें, इससे भाग खडे हो। आर्य-सस्कृतिका मौलिक विचार यह है कि ससार तो भोगनेके लिये ही रचा गया है, इसे भोगो, परन्तु भोगते-भोगते इसमें इतने लिप्त न हो जाओ कि अपनी सुध-बुध ही भुला दो, अपने आपेको इसीमें खो दो। ससारको भोगो, परन्तु त्याग-पूर्वक, ससारमें रहो, परन्तु निर्लिप्त होकर, निस्सग होकर, इसमें रहते हुए भी इसमें न रहनेके समान, पानीमें कमल-दलकी तरह, घीमें पानीकी बूदकी तरह! यह सब इसलिये, क्योकि यथार्थवादी दृष्टिसे जैसे ससार का होना सत्य है वैसे यथार्थवादी दृष्टिसे ही ससारका हमसे छूटना भी सत्य है। 'भोगना' और 'त्यागना'—इन दोनो सत्योका सम्मिश्रण ससारकी और किसी सस्कृतिमें नहीं है, सिर्फ आर्य-सस्कृतिमें है। अन्य सस्कृतिया इन दोनोमेंसे सिर्फ एक सत्यको ले भागी है। कोई त्यागवादको ले बैठी

है, कोई भोगवादको; किसीने प्रकृतिवादको, भौतिकवादको जन्म दिया, किसीने कोरे अध्यात्मवादको । भोग और त्यागका समन्वय, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का मेल सिर्फ आर्य-सस्कृतिम पाया जाता है, और यही इस सस्कृतिका आधार-भूत मौलिक विचार है ।

हम पहले ही कह चुके है कि ससारकी महान् सस्कृतिया किसी केन्द्रीय विचारका विकास होती है । वह विचार जितना प्रबल होगा, उतनी ही वह सस्कृति बलवती होगी, उस विचारके वेगको अपने विकासमें प्रकट कर सकेगी, जितना वह विचार निर्बल होगा, उतनी ही वह संस्कृति भी निष्प्राण-सी, निर्बल-सी होगी । जो सस्कृति जीवित रहना चाहती है उसके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने आधार-भूत मूल-विचारके वेगकी प्रबलताको बनाये रखे। उसके लिये यह भी आवश्यक हो जाता है कि उस विचारकी प्रबलताके साथ-साथ उस विचारकी धारा-वाहिकताको भी कायम रख सके। यह न हो कि आज वह विचार आखोके सामने आया, कल लुप्त हो गया। आज क्या, और कल क्या, एक पीढ़ी क्या, और दस पीढ़िया क्या, उस जातिके चढावके दिन क्या, और उतरावके दिन क्या—वह विचार उस जातिका श्वास-प्रश्वास हो, जीवन-मरण हो, और उस जातिके धारावाहिक जीवनमें धारावाहिक रूपसे बना रह सके। जो जाति अपने जीवनमें अपनी सस्कृतिके आधारभूत केन्द्रीय-विचारको इस प्रकार जागरूक रख सकती है, उस जातिमें समय-समयपर ऐसे व्यक्ति प्रकट होते रहते है जिनका जीवन उस केन्द्रीय-विचारका प्रतीक होता है, मूर्त-रूप होता है, जिनके जीवनमें उस केन्द्रीय-विचारको हम उतरा हुआ देख सकते हैं। संस्कृतिका बल बढे, उसमें वेग दिखाई दे, और हमारी सस्कृतिका केन्द्रीय-विचार व्यक्ति-व्यक्तिमें, सबमें नहीं तो किसी एक ही व्यक्तिमें हमें मूर्त-रूपमें दीख पडे—इसके लिये उस केन्द्रीय-विचार

की प्राण-प्रतिष्ठा करते रहनेकी, उसे सवल वनानेकी आवश्यकता है, वह जितना सवल होगा उतना ही वह देश में, जाति में, और देश-जातिके स्त्री-पुरषोके जीवनोमें उतरता हुआ दीख पडेगा।

भारतीय-सस्कृतिके जिस मूल केन्द्रीय-विचारका हमने उल्लेख किया वह यहाके व्यक्तियो, और यहाकी जातिके जीवनको प्रभावित करता रहा है। हमारी जाति इतिहासमें अनेक प्रकारकी उथल-पुथल में से गुजरी। इसके चढावके दिन भी आये, उतरावके दिन भी आये, परन्तु हमारी सस्कृतिका केन्द्रीय-विचार कम-अधिक रूपमें सदा इस जाति का मार्ग-प्रदर्शन करता रहा। समय था जव हमने इसी केन्द्रीय-विचारका विकास करते-करते अपने सामाजिक संगठनका निर्माण किया था। समय था जव इसी केन्द्रीय-विचारको लेकर हमने ससार भरको अपने विचारो में दीक्षित किया था। ऐसा भी समय आया जव हम संसारके इतिहास के पन्नोमें से मिट-से गये। उस समय राखके नीचे दवी आगकी तरह हमारी संस्कृति अपने केन्द्रीय-विचारको लेकर धीमे-धीमे सुलगती रही, परन्तु क्योकि उसे फिरसे प्रचड ज्वालाका रूप धारण करना था, फिरसे अन्धकारमें हाथ टटोलत पथ-भ्रष्ट विश्वका मार्ग-प्रदर्शन करना था इस-लिये वह नष्ट नहीं हुई। आज फिर हमें अपनी संस्कृतिके केन्द्रीय-विचारको लेकर पहले अपने देशका नव-निर्माण करना है, फिर विश्वको अपनी सस्कृतिका सन्देश सुनाना है। हमारी सस्कृतिके केन्द्रीय-विचारमें वह बल है या नहीं कि अपने देशका नव-निर्माण कर सके, या विश्व-शाति का वह सन्देश संसारके सम्मुख रख सके जिसके लिये आज प्रत्येक देश व्याकुल हो रहा है—यह देखनेका समय तो आज आया है। आज भारत स्वतत्र होनेके बाद अपने भविष्यका निर्माण करने जा रहा है। भारत जो कुछ वनेगा, उसका संसारके भविष्यपर भारी प्रभाव पडनेवाला

हैं। भारतका भविष्य, भारतके भूत-कालकी विचार परम्पराको तोडकर, सैकडो और हजारो वर्षोंकी ऋषि-मुनियोकी तपस्याको नगण्य समझकर नहीं बनाया जा सकता। हम जिस नवीन रचनाका निर्माण करने लगेंगे, कोई-न-कोई उस रचनासे मेल खानेवाला प्राचीन विचार उस रचनाको आकर झांकने लगेगा, उस रचनामें अपनी पुट देने लगेगा। हम अपने देशकी प्राचीन संस्कृतिके विना एक कदम भी आगे नहीं बढ सकते, और उस संस्कृतिको समझनेके लिये उसके 'केन्द्रीय-विचार' को समझे बिना आगे कदम नहीं रख सकते।

[२]

विचारोंके संघर्षमें आर्य-संस्कृतिका दृष्टिकोण

आर्थिक दृष्टिकोण और उसकी प्रतिक्रियाए––

इस समय एक प्रवल विचार ससारका शासन कर रहा है। वह विचार यह है कि इस दुनियांमें जो कुछ दीखता है वही असल है, वही हमारी समस्या है, वही हमारा प्रश्न है, हमें उसीका हल करना है। हम अपनी तरफ देखें तो हमें अपना शरीर दीखता है, दुनियाँकी तरफ देखें तो यह जमीन, यह पानी, यह आग, यह वायु, यह आसमान—यही कुछ दीखता है। संसारमें असली चीज मनुष्यमें उसका शरीर, और विश्वमें यह प्रकृति–बस, यही सब-कुछ है। इन्हे पा लिया तो सब पा लिया, इन्हे खो दिया तो सब खो दिया।

यही सबसे बडा विचार है जिससे दुनियाँके सब कारोबार चल रहे है, और सदियोतक चलते रहे है। शरीर ही असली चीज है, और इसे चलानेके लिये रुपये-पैसेकी जरूरत है। यह विचार संसारमें इतना प्रवल रहा है, और हो रहा है कि इसीको केन्द्र बनाकर दुनियाँमें कई वादोका जन्म हुआ। रुपया-पैसा जमा करनेका कभी यह तरीका समझा जाता था कि दूसरेके पास जो-कुछ है उसे जबर्दस्ती छीन लिया जाय।

ऐसा करनेवाले चोर-डाकू-लुटेरे कहे जाते है, परन्तु यही काम सगठित रूपमें राजा, महाराजा, बादशाह करते रहे। इसी ख्यालको लेकर सिकन्दर अपनी फौजोके बलपर दुनियांमें लूट मचानेके लिये चल पडा था। इसी ख्यालको लेकर महमूद गजनवीने गजनीमें दुनियाँकी दौलत लूटकर जमा कर दी थी। इसी ख़्यालको लेकर नैपोलियनने योरुपमें लूट मचायी थी। एक बादशाहके सामने जब एक डाकूको लाया गया तो उसने बादशाहसे कहा कि उसमें और बादशाहमें इसके सिवा क्या अन्तर है कि वह एक छोटा लुटेरा है, और बादशाह बडा लुटेरा? बहुत बड़े लुटेरोको बादशाह कहते है।

किसी समय फौजें खड़ी करके दुनियांमें लूट मचाई जाती थी, और इस प्रकार धन-दौलत जमा की जाती थी। उसके बाद एक दूसरा युग आया। इस समय लूट मचाकर रुपया जमा करना उतना सभ्य तरीका नहीं समझा जाने लगा जितना वणिज-व्यापार करके रुपया जमा करना। इस युगमें कल-कारखाने बने, रुपया पैदा करनेके नये-नये तरीके निकाले जाने लगे, व्यापार बढा। कोई समय था जब आफ्रीकाके जगल बजर भूमिके तौरपर पड़े हुए थे। वहां अग्रेज व्यापारी जा बसे। भारतवर्षसे कुली भर्ती करके वहा भेजे गये। ये मजदूरी करते थे, और इन्हे कौड़ियां देकर अंग्रेज व्यापारी मालोमाल होते थे। व्यापार बढ़ानेकी ख़ातिर साम्राज्य कायम हुए। अंग्रेज लोग भारतमें व्यापारकी ख़ातिर ही आये, और जब उन्होने देख लिया कि यहा रहना व्यापारकी दृष्टिसे, पैसा कमानेकी दृष्टिसे किसी प्रकार लाभप्रद नहीं, तो फौरन यहांसे चल दिये।

सिकन्दर, महमूद, नैपोलियनका युग और बडे-बड़े राज्योका वणिज-व्यापारसे रुपया कमानेका युग—ये दोनो 'पूजीवाद' के युग है। राजा लोगोका फौजें लेकर लूटके लिये निकल पडना, और अग्रेज व्यापारियो

का कल-कारखानो द्वारा पैसा जमा करना—दोनो पू जीवादी विचार-धाराके परिणाम हैं। परन्तु क्या यह विचार-धारा देरतक टिक सकती है ? क्या यह लूट-खसोट देरतक चल सकती है ? मनुष्य तो मनुष्य है। जब कोई अपनेसे अधिक किसी दूसरेको समृद्ध देखता है, अपनेसे अच्छा खाते देखता, अच्छा पीते देखता, अच्छा पहनते देखता, अच्छे मकान में रहते देखता है, तब उसमें असतोष उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। यह कैसे हो सकता है कि हमारा रसोइया हमें हलवा-पूरी बनाकर खिलाये, स्वयं रूखी रोटी खाये, परन्तु विद्रोह न करे ? यह कैसे हो सकता है कि जुलाहा हमारे लिये रेशमके कपडे बुने, और स्वयं चीथडोमें रहकर सुख-चैनसे बैठा रहे ? यह कैसे हो सकता है कि मजदूर हमारे लिये महल खड़ा करनेमें अपना लहू बहाये, और स्वय एक झोपड़ीमें पड़ा सर्दीमें ठिठरता हुआ भी हमारे साथ अपना मुकाबिला न करे। पू जीवादी सगठनमें हमारे समाजकी रचना ऐसी है कि हम दूसरेसे मजदूरी कराते हे, स्वयं कुछ नहीं करते, उसकी कमाईका बड़ा हिस्सा स्वयं खा जाते हैं। हम मजदूरकी कमाईसे बीस रुपये कमाते है, उसमेंसे दो रुपये उसकी झोलीमें डालकर अठारह रुपये अपनी जेबके हवाले करते हैं । हम कहते है, हमने पूंजी लगाई, परन्तु बीस रुपये पू जीसे तो नहीं उत्पन्न हुए, ये तो मजदूरकी मेहनतसे उत्पन्न हुए हैं। पूजी पड़ी-पड़ी क्या कर लेती अगर मेहनत न होती ? पू जी भी अगर लगी है, तो पू ंजी और मेहनतमेंसे किसका हक ज्यादा है ? क्या बीस रुपयेके मुनाफेमें मेहनतका हक सिर्फ दो रुपया, और पूंजीका हक अठारह रुपया है ? जब आजका मजदूर देखता है कि उसके पैदा किये हुए बीस रुपयेमेंसे लगभग सारा हिस्सा पूंजीपति ले जा रहा है तब उसके हृदयमें पू ंजीवादके प्रति विद्रोह उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। यही विद्रोहकी अवस्था एक नवीन विचारधाराको जन्म दे रही है ।

एक तरफ पूजीपति है, दूसरी तरफ मजदूर। मजदूर अपने और पूजी-पतियोमें एक भारी खाई देख रहे है। घर-घरमें समस्या खड़ी हो गई है। नौकर रखना मुश्किल हो गया है, और ज्यो-ज्यो समय गुजरता जायगा, मुश्किल होता जायगा। सबकी माग बढ़ रही है। कुछ साल पहले दफ़्तर के अच्छे-अच्छे बाबुओको जो मिलता था वह नौकरोको मिलने लगा है, और उससे भी उनका सतोष नहीं होता। यह समस्या सब जगह देश-देशमें खडी हो गई है, इसीका नाम 'साम्यवाद' है, इसीका नाम 'कम्यू-निज़्म' है।

अगर हमारी वास्तविक समस्या पैसा है, तो यह भी ठीक है कि यह समस्या किसी एक-दोकी नहीं, सभीकी है, और मनुष्य की इस समस्या का हल तभी होगा जब सबको आवश्यकतानुसार पैसा मिलने लगेगा। अगर कुछ लोगोको इसलिये ज्यादा पैसा मिलता है क्योंकि वे पढ़े-लिखे है, ज्यादा लायक है, तो सबको पढ़ने-लिखने और लायक होनेका मौका देना होगा। हर हालतमें सबको आवश्यकतानुसार पैसा मिले, किसीकी आर्थिक समस्या हल हुए बग़ैर न रहे, तभी मनुष्य-समाजका भला होगा। पूंजीवादके प्रति विद्रोही विचारोकी दिशा इसी तरफ है। तभी चारो तरफ समाजवाद और कम्यूनिज़्मका बोलबाला है। चीन में क्या हो रहा है? कोरियामें क्या हो रहा है? ईरानके प्राइम मिनिस्टर रज़माराको क्यो मारा गया था? पाकिस्तानमें लियाकतके समय बडे-बडे मिलिटरी अफसरोको क्यो पकड़ा गया था? भारतमें तैलंगाना में क्या हुआ?—ये सब पूजीवादी विचारधाराके विरुद्ध प्रतिक्रियाएं है। पूंजीवाद और समाजवाद, या दूसरे शब्दोंमें पूंजीवाद और कम्यूनि-ज़्म—ये दो विचारधाराएं है जिनमें आज संघर्ष चल रहा है। अखाड़े-मेंसे पूंजीवाद आसानीसे भागनेको तैयार नहीं, इसके साथ दो मल्लोका

मुकाविला हो रहा है—एक है समाजवाद, दूसरा है कम्यूनिज्म। समाजवाद और कम्यूनिज्मकी उत्पत्ति, इनके विकास और इनकी वारीकियोंमें हमें जानेकी जरूरत नही, इन दोनो विचारधाराओका लक्ष्य अमीरी-गरीवीके भेदको मिटाना है । दोनो पूजीवादके शत्रु है, दोनो सम्पत्ति का सबमें सम-विभाग चाहते है। समाजवाद जरा धीमी चालसे चलता है, कम्यूनिजम अपने आदर्शतक पहुचनेके लिये मानो दौडा चला जा रहा है, पूंजीवादको तोप-वन्दूकसे उडा देना चाहता है। कोई समय था जव कम्यूनिज्मका नाम भी सुननेमें नहीं आया था। साम्यवादका नाम सुनते थे, वह भी अर्थशास्त्रकी पुस्तकोमें। उस समय पूजीवादका ही वोलवाला था । आज समय बदल गया है, पूजीवादकी जडें हिल गई है। जहां-जहा पूंजीवाद है वहा-वहां वह समाजवादकी दिशाकी तरफ ही चल पडा है । उसे कम्यूनिज्मसे इतना भय पैदा हो गया है कि हरेक राष्ट्र खुद-ब-खुद समाजवादी हो जाना ज्यादा पसन्द कर रहा है। उसे मालूम है कि अगर अमीर-गरीवका भेद बना रहेगा, तो कोई भी राष्ट्र आजके युगमें, आजकी हवामें टिक नहीं सकता । इग्लैंड भी तो समाजवादी हो गया था, वहा समाजवादी दल शासनारूढ हो गया था। भारतमें क्या हो रहा है ? यहा भी तो वही हवा वह रही है। कहनेको यहाके समाजवादी भले ही कहते रहे कि भारतमें पूजीवादी शासन है, परन्तु यथार्थ-रूपमें हम देख क्या रहे है ? पुराने आदर्श ढह रहे है, नये आदर्श खडे हो रहे है । जो राजा लोग सदियोसे शासन कर रहे थे, वे तीन सालमें एक झोकेसे समाप्त हो गये । जमींदारी प्रथाका अन्त हो गया । सडकोपर लारिया सरकार चलाने लगी । सहकारी-समितिया धडाधड़ बनती चली जा रही हैं। जो मुनाफा व्यापारी लोग उठाते थे वह सरकार उठाने लगी है, और यह इसलिये ताकि उस मुनाफेको कुछ लोगोके हाथमें केन्द्रित

करनेके वजाय सबमें बाट दिया जाय—अमीर-गरीबका भेद मिट जाय। जैसे किसी समय समाजवाद किताबी चीज थी, वैसे आज यह दीख रहा है कि पूजीवाद किताबी चीज होती जा रही है, पूजीवादी भी पूजीवाद के पक्षमें बोलनेसे लजाते है, वे भी समाजवादी भाषामें ही बोलना पसन्द करते है।

विचारोके सघर्षमें यह परिवर्तन है जो आज हमें अपनी आखोके सामने दीख रहा है। हमारे देखते-देखते वह युग आ जायगा जब पूजीवाद समाप्त हो जायगा, साम्यवादी विचारधाराका चारो तरफ बोलबाला होगा, और जो राष्ट्र इस विचार-सरणीपर नहीं सोचेगा वहाकी जनता क्रोधमें उठ खडी होगी, और क्रातिकारी मार्गसे राज्यकी सत्ताको पलटनेका प्रयत्न करेगी। यह तरीका कम्यूनिज्मका होगा, परन्तु यह जरूरी नहीं कि कम्यूनिज्मसे ही अमीर-गरीबका भेद मिटे। जो सघर्ष हमारे सामने हो रहा है उसका यह परिणाम अवश्य होगा कि पूजीवाद समाप्त हो जायगा, अमीर-गरीबके भेदकी खाई मिट जायगी, परन्तु यह साम्यवादी या कम्यूनिज्मके ही तरीकेसे होगा—इसे कौन कह सकता है? विनोबा भावे भी तो समताके सन्देशवाहक है, वे हिंसाके स्थानमें अहिंसाके, घृणा के स्थानमें प्रेमके उपायोसे आर्थिक विषमताकी समस्याको हल करनेका प्रयत्न कर रहे है। वैदिक आदर्श भी तो यही है। 'समानी प्रपा सह वो अन्न-भाग समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि'—का अभिप्राय यही है कि राष्ट्रके सब प्राणियोको एक-सा खानेको मिले, एक-सा पीनेको मिले, किसीको किसी बातकी कमी न रहे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि ससारमें समता किस साधनसे आयेगी, हा, दुनियाँका रुख यह अवश्य बतलाता है कि किसी भी साधनसे हो, अब भेद-भाव टिक नहीं सकता। कोई समय था जब गोरी जातिया समझती थीं कि काली जातियोमें कोई ऐसी कमी है

जिससे वे गोरी जातियोके मुकाबिलेमें हीन हैं। भारत तथा अन्य एशियाई देशोको देरतक पराधीन रखनेका यह भी बडा कारण था। परन्तु अब जातिगत भेद अपने-आप मिटता चला जा रहा है, और मानव-समाजको समझ आता जा रहा है कि ये भेद टिक नही सकते। आफ्रीकामें आज भी वहाके निवासियोको वे अधिकार नही दिये जा रहे जो वहाके गोरो को प्राप्त है, परन्तु आजकी विचारधारामें इस भेद-भावको न्याय-सगत समझा सकना असभव है। कोई समय था जब इस भेदको स्वाभाविक माना जाता था। अपने देशमें ऐसी जातिया रही है जिन्हे छूनातक पाप समझा जाता था। परन्तु ये विचार कबतक चलते ? अभी हमारे देखते-देखते अछूतपन ख़तम हो गया, रहा-सहा ख़तम होता जा रहा है। मनुष्य-मनुष्यमें भेद-भावको मिटानेवाले कानून बनने लगे है। स्त्रियोको ही देखें तो समय था जब उनमें जीवात्मातक नहीं माना जाता था। योरुप-के इतिहासमें ऐसा समय था जब पुरुषमें आत्मा माना जाता था, स्त्रीमें नहीं। परन्तु क्या यह अवस्था टिक सकी ? आज योरुपके हर देशमें स्त्रियो-को वही अधिकार प्राप्त है जो पुरुषोको है। यह सब क्या सूचित करता है ? क्या इससे यह सूचित नहीं होता कि विचारोके संघर्षका यह अवश्य-भावी परिणाम होनेवाला है कि मनुष्यद्वारा खडे किये हुए कृत्रिम भेद-भाव मिट जायेंगे, मनुष्य एकताकी तरफ कदम बढायेगा। जिस प्रकार ये सामाजिक भेद मिट रहे है, मानव-जाति एकताकी तरफ चल रही है, क्या इसी प्रकार आर्थिक भेद नही मिटेंगे, और क्या ससारमें कोई ऐसा समय नहीं आयेगा जब किसी व्यक्तिपर भी अगुली उठाकर यह नहीं कहा जा सकेगा कि वह ग़रीब है, उसे भर पेट खानेको नहीं मिलता, कपडा ओढ़नेको नहीं मिलता, मकान रहनेको नहीं मिलता, उसके बच्चोको पढने को नहीं मिलता, वह रोगी हो तो उसका दवा-दारू नहीं हो सकता !

संसार जिस दिशाकी तरफ बढ रहा है, और अबतक जो कुछ हो चुका है अगर वही आनेवाले युगका निदर्शक है, तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि समाजवादसे हो, या कम्यूनिज्मसे हो—इच्छा-पूर्वक हो, या अनिच्छा-पूर्वक हो—समझाने-बुझानेसे हो, या तोप-बन्दूक और लाठी-तलवारसे हो—अब वह जमाना नहीं रह सकता जब कोई व्यक्ति जरूरत-से ज्यादा खाता हो और कोई भूखा मरता हो, किसीके पास किसी चीजका बेअन्त हो और कोई हर चीजके लिये तरसता हो। ऐसा युग आ रहा है, आज नहीं तो कल, कल नहीं परसो—'समानी प्रपा सह वो अन्नभाग' का वैदिक-युग आयेगा—इसे कोई रोक नहीं सकता।

आर्थिक-समस्या मनुष्यकी पहली पर अन्तिम समस्या नही है—

यह तो अन्धेको भी दीख रहा है कि आगे आनेवाला युग पूंजीवाद का नहीं होगा, समाजवादका, कम्यूनिज्मका, समताका और अगर इनसे भी कोई प्रबल विचारधारा उठ खड़ी हुई, तो उसका युग होगा। परन्तु क्या इन वादोके सघर्षके बाद विचारोंका कोई और सघर्ष भी होगा? आर्य-सस्कृतिके दृष्टिकोणसे विचार करनेवालोका उत्तर है कि होगा, और अवश्य होगा। असलमें पूंजीवाद, समाजवाद और कम्यूनिज्ममें कोई मौलिक भेद नहीं है। ये एक ही भौतिकवादी सस्कृतिके कच्चे-बच्चे हैं। कहनेको ये एक-दूसरेके शत्रु है, परन्तु असलमें जीवनके प्रति इन तीनोका दृष्टि-बिन्दु एक ही है। पूंजीवादका आदर्श पैसा है, समाजवादका आदर्श पैसा है, कम्यूनिज्मका आदर्श पैसा है। इन तीनोका एकस्वरसे कहना है कि पैसेका प्रश्न हल हो गया तो मनुष्यकी पूरी-पूरी समस्याका हल हो गया। मनुष्यकी असली समस्या आर्थिक है, और उसीका इन्हे हल करना है। भौतिकवादी सस्कृतिके इन तीनो वादोके मुकाबिलेमें अध्यात्मवादी

आर्य-सस्कृतिका दृष्टिकोण यह है कि आर्थिक समस्याके हल हो जानेपर भी मनुष्यकी वास्तविक समस्या हल नहीं हो जाती। मनुष्य इस भौतिक शरीरतक ही समाप्त नहीं हो जाता, भूख-प्यास शान्त कर देने मात्रसे उसकी शाति नहीं हो जाती। जो-कुछ दीखता है वह सब 'आत्म तत्त्व' का विकास है—इस मानव-शरीरके पीछे आत्मा है, प्रकृतिकी ओटके पीछे परमात्मा है। हम शरीर नहीं, आत्मा हैं; ससारकी वास्तविक सत्ता प्रकृति नहीं, परमात्मा है। जीवनके प्रति यह दृष्टि-कोण आर्य-सस्कृतिका दृष्टि-कोण है। यह दृष्टि-कोण मानव-जीवनकी समस्याको बिल्कुल बदल देता है। आर्य-सस्कृतिके इस दृष्टि-कोणके अनुसार पूंजीवाद, समाजवाद और कम्यूनिज्म—ये तीनो मनुष्यको पशुके स्तरपर मानकर उसकी समस्याका हल करते हैं, मनुष्यको शरीरमात्र समझते हैं। परन्तु क्या हमारा अनुभव हमें यह बताता है कि हम शरीरके अतिरिक्त कुछ नहीं हैं? शरीरको जैसे भूख-प्यास लगती है, और इस भूख-प्यासको, और शरीरकी अन्य वासनाओको तृप्त करनेके लिये जैसे ससारमें स्वार्थ का राज्य है, लोग एक-दूसरेके ख़ूनके प्यासे फिरते हैं, चारो तरफ छीना-झपटी चल रही है, मत्स्य-न्यायका बोलबाला है, ऐसे ही क्या हमारा यह अनुभव भी नहीं है कि हमें भूख-प्यासके अतिरिक्त, इनसे कोई ऊंची चीज भी लगती है, कभी-कभी दूसरेके दु खमें मर मिटनेकी तडपन भी हम में उत्पन्न होती है, कभी-कभी दूसरेका ख़ून लेनेके बजाय दूसरेके लिये ख़ून देनेकी इच्छा भी प्रबल हो उठती है, कभी-कभी स्वार्थको कुचलकर परार्थ-भावनामें हमें अपने जीवनकी अधिक पूर्णता दीख पडती है। क्या ये अनुभव कभी-कभी हमें अपने ही वैयक्तिक जीवन में नही होते? इसके अतिरिक्त क्या यह सत्य नही है कि लाखो-करोडोमें जो व्यक्ति अपने शरीरकी पर्वा नही करता, भूख-प्यासको भूलकर दूसरोके भलेके लिये

अपना भला भूल जाता है, सारी दुनियाँ उसकी तरफ सिर उठाकर देखने लगती है, उसे अपना 'हीरो', अपना आदर्श समझने लगती है। बुद्ध, ईसा, दयानन्द, गाधीको क्या हम इसलिये याद नहीं करते क्योकि वे अपने लिये नहीं, दुनियाके लिये जिये ? क्या यह सब-कुछ सिद्ध नहीं करता कि यद्यपि हम पैसा बटोरनेमें लगे हुए है, तो भी अपने अन्तरात्मामें, पैसा बटोरनेकी अपेक्षा पैसेको छोड़नेको—जानमें, अनजानमें—ऊचा आदर्श समझे हुए है। हम आज विश्व-शाति, विश्व-प्रेमके नारे लगा रहे है। ठीक भी है, ये ही सत्य है, ये ही विश्व की वास्तविक सत्ताए है, मूल-तत्त्व है, परन्तु विश्व-शाति और विश्व-प्रेमका इतना शोर मचानेपर भी विश्वमें अशाति और द्वेष ही बढ रहे है—इसका क्या कारण है ? इसका कारण यही है कि विश्वकी आधार-भूत इन मौलिक सत्ताओके समुद्रकी लहरें जब उमड-उमड़कर आती है, तब वे आकर भौतिकवादके हमारे दृष्टिकोण की चट्टान से टकराकर लौट जाती है। पूजीवाद, समाजवाद और कम्यूनिज्म क्या है ?—ये भौतिकवादकी चट्टानें ही तो है जो आर्य-सस्कृतिकी लहरोको आगे नहीं बढने देतीं, ये वे दीवारें है जिनमें आज हम कैदीकी तरह बन्द है, जो आज मानवको इस शरीर ही से, शरीरकी भूख-प्यास ही से घेरे हुए है, शरीरसे बाहर उसे झांकने ही नहीं देतीं। हम जबतक इन भौतिकवादोसे बधे रहेंगे, इनमें कैद रहेंगे, तबतक विश्व-शाति और विश्व-प्रेम का नाम भर लेते रहेंगे, इन्हें प्राप्त नहीं कर सकेंगे। नाम तो इसलिये लेते रहेगे क्योकि सत्य यही है, यथार्थ यही है, और इसीलिये जब ये सत्ताएं उमड़कर आती है, तो अपनी दिव्य-झलकसे घोर-से-घोर भौतिकवादी और कट्टर-से-कट्टर नास्तिकको भी विचलित-सा कर जाती है, परन्तु भौतिकवादोमें जकडे हुए हम इन मौलिक सत्ताओको पा इसलिये नहीं सकेंगे क्योकि यद्यपि आर्य-संस्कृतिका अध्यात्मवाद भौतिक-

वादको अपना साधन समझता है तथापि भौतिकवाद अध्यात्मवादके साथ किसी प्रकारका समझौता करनेको तैयार नही । कोरे भौतिक-वादकी दृष्टिसे मै क्यो किसीका भला करू जवतक वह भला भी मेरे ही भलेके लिये न हो, क्यो किसीके लिये मरू जवतक मेरा मरना मेरे ही जीवनके लिये न हो । ससारके जितने ऊचे-से-ऊचे आदर्श है वे तभीतक टिक सकते है जवतक जीवनके प्रति हमारा दृष्टिकोण आध्यात्मिक हो, आर्य-सस्कृतिका हो; पूजीवादी, समाजवादी या कम्यू-निस्ट दृष्टिकोणसे वे आदर्श टिक ही नही सकते । हा, हम फिर भी इन आदर्शोंकी माला अवश्य जपते रहते है, इनके नारे अवश्य लगाते रहते है--इसका कारण यह है कि जैसे एक कैदी जेलखानेमें वन्द होता हुआ बाहर निकलनेसे विवश होता है, परन्तु बाहरकी स्वतत्र वायु के झोके उसके ध्यानकी डोरको वाहर खींचे रखते है, इसी प्रकार इन वादोकी कैद में जकड़े हुए हम अपनेको विवश पा रहे है, परन्तु इनकी चहारदीवारीके बाहर, इनसे दूर जो आदर्श चमक रहे है, वे हमारे ध्यानको खींचे वगैर भी नहीं मानते । उन आदर्शोंका और इन वादोका कोई मेल नहीं, परन्तु इन वादोमें इतनी हिम्मत भी नहीं कि उन आदर्शोंको ठुकराकर अलग फेंक सकें, क्योकि उन्हें देखकर इनके लिये यह कह सकना असम्भव हो जाता है कि उनके बिना ये भी टिक सकेंगे या नहीं । असलमें भौतिकवादोके टिकनेका एक ही आधार हो सकता है, और वह यही कि वे आदर्श जो दूरसे चमक रहे है, वे जो दुनियाँमें आ-आकर रह जाते है, वे जिनकी झलक देखकर हम सव उनकी तरफ आखें उठाये खडे है, वे आदर्श---भौतिकवादोसे---पूजी-वादसे, समाजवादसे, कम्यूनिज्मसे—मूर्तरूपमें आ सकते है ? अगर ये वाद मनुष्यकी सिर्फ भूख-प्यास मिटा सकते है, अगर ये उसे और किसी प्रकारकी शांति नहीं दे सकते, तो ये मनुष्यके एक बहुत छोटे-से प्रश्नको, उसकी बहुत

छोटी-सी समस्याको हल करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि भूख-प्यासको मिटाना मनुष्यका एक अत्यन्त ही महान् प्रश्न है, परन्तु यहीं तो पूंजीवाद, समाजवाद और कम्यूनिज्मके मुकाबिलेमें अध्यात्मवादी आर्य-संस्कृति का स्थान आता है। आर्य-संस्कृतिके अध्यात्मवादका दृष्टिकोण मानवमें मनुष्य-शरीरकी सत्ताको मानकर आगे चलता है, भौतिकवादका दृष्टि-कोण शरीरके बाद अन्य किसी. सत्तासे इन्कार करता है। शरीर है, परन्तु मानवका यह आदि है, अन्त नहीं, इसीकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करते-करते अपनेको मिटा देना हमारा लक्ष्य नहीं। आर्य-संस्कृतिका अध्यात्मवाद यह नहीं कहता कि हमें शरीरको भूल जाना है, हमें मनुष्य की आर्थिक-समस्या को हल नहीं करना। शरीर तो सत्य है, और इतना अधिक सत्य है कि यही दीखता है, अन्य कुछ नहीं, इतना अधिक दीखता है कि अपने स्वामी आत्माको ही इसने अपने पीछे ढक दिया है। ऐसी अवस्था में शरीरकी चिन्ता कैसे छोडी जा सकती है। 'जीवेम शरद शतम्'—सौ बरसतक जीनेकी इच्छा रखनेवाले शरीरको घृणाकी दृष्टिसे कैसे देख सकते थे? शरीर सत्य है, तो भूख-प्यास भी सत्य है, इन्हें भी नहीं भुलाया जा सकता। अपनी भूख-प्यासको मिटानेका काम पूंजीवादका है। अपनी ही नहीं, हर-एक व्यक्तिकी भूख-प्यास मिटानेका काम जनतंत्रवादका है, समाजवाद का है, कम्यूनिज्म का है। इस दृष्टिसे आर्य-संस्कृतिके अध्यात्मवादको, अपने उद्देश्यमें आगे कदम रखनेके लिये, संसारकी भूख-प्यासकी समस्याको मिटानेवाले सभी वादोंकी आवश्यकता है, और जो वाद इस समस्याको सबसे अधिक, सबसे अच्छी तरहसे हल कर सके उसकी सबसे अधिक आवश्यकता है। हां, आर्य-संस्कृतिका कहना यह अवश्य है कि जब ये वाद संसारकी आर्थिक विषमताकी समस्याको हल कर लें तब मैदानसे हट जायं, तब भी मनुष्य-समाजको अपनी रस्सियोंमें न बांधे रखें।

पूजीवाद, समाजवाद, कम्यूनिज्म—आधारमें भौतिकवादी सस्कृतिके परिणाम है, जहा भौतिकवादी सस्कृतिका कार्य समाप्त हो जाता है वहा अध्यात्मवादी आर्य-सस्कृतिका कार्य प्रारम्भ होता है। जैसे कोरा भौतिकवाद ससारका भला नहीं कर सकता वैसे कोरा अध्यात्मवाद भी ससारका भला नहीं कर सकता। इकतरफापन ससारकी आधार-भूत सचाई नही है। आर्य-संस्कृति भौतिकवादका तिरस्कार नहीं करती, उसे विकासके मार्गमें अपना साधन समझती है, क्योकि इस सस्कृतिके दृष्टिकोण में शरीर आत्माकी तरफ ले जानेका साधन है, प्रकृति परमात्माकी तरफ ले जानेका साधन है। हम शरीरसे चलें, परन्तु शरीरतक रुक न जाय, प्रकृतिसे चलें, परन्तु प्रकृतितक रुक न जाय—यही आजके युगको आर्य-सस्कृतिका सन्देश है और यही सदेश आर्य-सस्कृति सदियोसे देती चली आयी ह ।

[३]

निष्काम-कर्म

'निष्कर्मण्यता' तथा 'निष्कामता'--

हम पहले लिख आये हैं कि आर्य-संस्कृतिका जीवनके प्रति दृष्टिकोण त्याग-पूर्वक भोगका दृष्टिकोण है । हम ससारमें रहे, परन्तु निर्लिप्त होकर, निस्संग होकर, निष्काम-भावसे । जीवनमें सकाम-भावनासे रहना और निष्काम-भावनासे रहना--इन दोनोमें महान् भेद है, और इस भेदको सम्मुख रखकर आर्य-साहित्यका निर्माण हुआ है । इस प्रकारके साहित्यमें गीताका सबसे ऊचा स्थान है। गीताने सदियोसे भारतीय जनताके जीवनको प्रभावित किया है । गीताका आधार उपनिषद् है--'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दन.' । इन उपनिषदोको आधार बनाकर किसी समय भारतमें निष्कामके स्थान पर निष्कर्मण्यता की लहर चल पड़ी थी--'निष्कर्मण्यता'--अर्थात काम ही न करना। ब्रह्म ही सत्य है, अन्य सब-कुछ मिथ्या है—इस प्रकारकी शिक्षाका प्रचार करके लोग कर्म-मात्रसे मुंह फेरने लगे थे । उपनिषदोका अभिप्राय, वेदान्त का तात्पर्य, अध्यात्मवादका सार यही समझा जाता था कि ससार

छोड दो, भगवा पहन लो, कोई काम मत करो। इस अवस्थासे तत्कालीन विचारक-समुदाय सोचमें पड गया था। इसलिये उपनिषदोके, वेदान्तके, अध्यात्मवादके ही शुद्ध, सत्य रूपको—कर्म त्यागनेके स्थानमें कर्म करने परन्तु कर्ममें निहित वासनाको त्यागनेके सिद्धान्तको, 'निष्कर्मण्यता'के स्थानमें 'निष्काम-भाव'के सिद्धान्तको प्रकट करनेके लिये गीताका निर्माण हुआ। गीताने आर्य-संस्कृतिकी लुप्त होती हुई विचारधाराको फिरसे सबके सामने लाकर रख दिया। उपनिषदोकी, वेदान्तकी, विशुद्ध आर्य-संस्कृतिके अध्यात्मवादकी विचारधारा यह थी कि ब्रह्म सत्य है, परन्तु इस संसारसे भी तो इन्कार नहीं किया जाता—हा, इस संसारके मुकाबिले-में अन्तिम-सत्ता, यथार्थ-सत्ता शरीरकी नहीं, आत्माकी है, प्रकृतिकी नहीं, परमात्माकी है। गीताने कहा कि क्योकि शरीर है इसलिये शरीरसे काम करो, परन्तु क्योकि अन्तिम-सत्ता इसकी नहीं है, इसलिये इसमें लिप्त होनेसे बचे रहो, क्योकि ससार है इसलिये इसका भी उपभोग करो, परन्तु क्योकि अन्तिम-सत्ता इसकी भी नहीं है, इसलिये इस ससार में भी लिप्त होनेसे बचे रहो। उपनिषदोका, वेदान्तका, अध्यात्मवादका अभिप्राय 'निष्कर्मण्यता' समझा जाता है, असलमें, इस समझमें भूल है। भारतीय अध्यात्मवादका, आर्य-सस्कृतिका यह अभिप्राय नहीं है। इसका अभिप्राय 'निष्कर्मण्य' जीवन बनानेके स्थानमें 'निष्काम' जीवन बनाने से है। उपनिषदोके, वेदान्तके, अध्यात्मवादके समझनेमें जो भूल हो रही थी उसे श्रीकृष्ण महाराजने गीतामें दूर कर दिया। 'निष्काम-भाव' का विचार आर्य-संस्कृतिकी विचारधाराका एक मौलिक विचार है, और क्योकि इस विचारको जितने स्पष्ट तौरपर गीतामें समझाया गया है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं, इसलिये हम गीताके ही शब्दोमें, इस अध्यायमें 'निष्काम-कर्म' पर विचार करेंगे।

अर्जुनका कोरा अध्यात्मवाद—

गीताका प्रारभ धृतराष्ट्रकी वाणीसे होता है जिसमें वे सजयको संबोधन करके कहते हैं—

> धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सव ।
> मामका. पाडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ।।

हे सजय ! जब युद्ध-क्षेत्रमें-कौरव और पांडव आमने-सामने हुए तब क्या हुआ ? संजयने युद्धका वर्णन करते हुए आखोदेखी घटनाका इस प्रकार वर्णन किया—

> सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।
> यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्
> कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ।।

हे राजन् ! जब लडाई शुरू होनेवाली थी तब अर्जुनने कृष्ण महाराजसे कहा, मेरे रथको दोनो सेनाओके बीचमें ले चलो ताकि मै देख सकूं कि इस संग्राममें मुझे किन-किनसे लडना है । यह सुनकर कृष्ण महाराज, जो सारथिका काम कर रहे थे, रथको हांककर बीचमें ले गये । अर्जुनने चारों तरफ नजर दौडाकर देखा, उसीके सगे-संबंधी, उसीके घर-बारके लोग लडनेके लिये जमा हो रहे थे । यह देखकर अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—

> सीदन्ति मम गात्राणि मुख च परिशुष्यति ।
> वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।।
> गाडीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते ।
> न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मन. ।।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्य सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥

हे कृष्ण ! मेरे तो अंग शिथिल हुए जा रहे हैं, मुख सूखा जा रहा है, शरीरमें कपकपी छूट रही है, हाथसे गांडीव सरका जा रहा है, शरीर जल-सा रहा है, सिरमें चक्कर आ रहा है । मेरे चारो तरफ भाई-भतीजे, चचा-ताऊ, गुरु तथा अन्य निकटके संबंधी लडनेको खडे हैं। मुझे राज-काज कुछ नहीं चाहिये, संसारके भोग-ऐश्वर्य कुछ नहीं चाहिये। 'श्रेयो भोक्तु भैक्ष्यमपीहलोके'——संसारमें भिक्षा मांगकर जीवन-निर्वाह करना अच्छा ; 'भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्'——सगे-संबंधियोसे लडकर जीने की इच्छा रुधिरसे सने हुए भोग भोगनेकी इच्छाके समान है।

कृष्ण महाराजने अर्जुनके हृदयको जब इस प्रकार बैठते देखा तो बोले——

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैब्यं मास्मगमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥

अर्जुन ! मोहमें मत पड, आर्य लोगोका काम मैदानसे भागना नहीं। मैदान छोड़कर भागनेसे मनुष्यकी अपकीर्ति होती है, सुख-शान्तिका यह मार्ग नहीं है, संसारको इस प्रकार छोडकर भाग पड़ना——ये 'प्रज्ञावाद'——ये बडे-बड़े आध्यात्मिक उपदेश जो तुम देने लगे हो, ये सब अध्यात्मवाद नहीं, यह क्लीवता है, नपुंसकता है। दिलको मजबूत बनाओ और इस दुर्बलताको झटका देकर अलग कर दो ।

श्रीकृष्णका, आर्य-सस्कृतिका अध्यात्मवाद--

सगे-संबधियोको इस प्रकार भौतिक ऐश्वर्यके लिये लडते देखकर, उन लोगोको जो बचपनसें साथ-साथ खेले, साथ-साथ उठे-बैठे, भाई-भाई की तरह रहे, उन्हे सम्पत्तिके लिये एक-दूसरेके खूनका प्यासा देखकर अगर कोई जरा भी सोचने लगे, तो किसके हृदयमें वैराग्य नहीं उत्पन्न हो जाता, कौन संसारको मिथ्या नहीं समझने लगता। सदियो पहले अर्जुनने इसी दृष्टिसे सोचा, और जीवनसे निराश होकर खडा हो गया, आज भी कोई उसी दृष्टिसे देखे, तो उसे जीवनमें कोई तत्त्व नजर न आये। निराश अर्जुनमें गीताने आशाका संचार कर दिया, मैदानसे भागते हुए अर्जुनको गीताने मैदानमें फिरसे ला खड़ा किया, तो क्या श्रीकृष्णने यह सब-कुछ अर्जुनको यह समझाकर किया कि ससार मौज मारनेकी जगह है, लडो और सगे-संबंधियोको मारकर गुलछर्रे उड़ाओ ? नहीं, अर्जुनकी अध्यात्मवादी विचारधाराको काटनेके लिये श्रीकृष्णने प्रकृतिवादी विचारधाराका उपदेश नहीं दिया। जैसे अर्जुन अध्यात्मवादी बातें करने लगा था, वैसे श्रीकृष्ण भी अध्यात्मवादी बातें ही करने लगे, उन्होने भी यही कहा कि यह शरीर मट्टी का चोला है, जैसे कपडे के मैला होनेपर उसे उतार फेंकते हे वैसे शरीरके पुराना हो जानेपर वह बदल दिया जाता है, आत्मा ही नित्य है, शरीर अनित्य है। कोरी अध्यात्मवादी सस्कृति, संसार असार है, यह-सब दो दिनका मेला है—यह कहकर संसारसे भाग खडी होती है, अर्जुन भी ऐसा ही करने लगा था, परन्तु आर्य-संस्कृतिने जिस अध्यात्मवादको जन्म दिया था वह संसारको असार भी कहती थी, और ससारको छोड़कर भागती भी नहीं थी, शरीरको आत्माका बदलनेवाला चोला भी कहती थी, और हाथपर हाथ धरकर बैठती भी नहीं थी। आर्य-सस्कृतिकी इसी विचारधाराको श्रीकृष्ण

महाराजने खोलकर अर्जुनके सामने रखा और अध्यात्मवादी होते हुए भी उसे ससारसे भागनेके स्थानपर ससारमें डटनेका उपदेश दिया।

श्रीकृष्णका अध्यात्मवाद एक रहस्यकी व्याख्या है—

ससार को असार मानना और फिर भी इसमें डटना—यह एक नवीन विचारधारा है। प्रकृतिवादी ससारको ही सब-कुछ मानते हैं, उनका ससारम डटना स्वाभाविक है। अध्यात्मवादी ससारको असार मानते है, उनका संसारसे भाग खडे होना भी स्वाभाविक है। परन्तु संसारको असार मानना और फिर भी इसमें डटे रहना—यह एक परस्पर-विरोधी-सी विचारधारा जान पडती है, तो भी इसमें कोई परस्पर विरोध नही, यही असली, यथार्थ-विचारधारा है, यही आर्य-सस्कृति की विचारधारा है, इसीका श्रीकृष्ण महाराजने गीतामें उपदेश दिया है। श्रीकृष्ण भी समझते थे कि लोग इस विचार-सरणीसे चकरायेंगे, इसलिये उन्होने गीतामें कहा है कि यही विचार सही विचार है, यह रहस्यमय विचार है, यह उसीको समझ आता है जिसे गुरु अपना योग्य शिष्य समझकर इस विचारकी दीक्षा देता है। गीताको पढनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण महाराजने इस विचारधारा की अर्जुनको वैसे ही मन्त्र-दीक्षा दी ी जैसे आचार्य अपने अन्तेवासीको देता है। श्रीकृष्ण कहते है—

इम विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदु॰।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परतप॥
स एवायं मया तेऽद्य योग. प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं चेतदुत्तमम्॥

जिस मन्त्रकी, रहस्यकी मैंने तुझे दीक्षा दी है, वह 'अव्यय' है—नष्ट नहीं हो सकता। इस मन्त्रकी सबसे पहले विवस्वान्‌ने मनुको दीक्षा दी थी, मनुने इक्ष्वाकुको, और इस प्रकार गुरु-शिष्य-परम्परासे यह मन्त्र—यह रहस्य—आजतक चला आ रहा है। आर्य-संस्कृतिके इस रहस्यको बीचमें लोग भूल गये थे, और इसीका यह परिणाम था कि जीवनके वास्तविक पथसे वे विचलित हो गये, भटक गये। कृष्ण महाराज अर्जुनको कहते हैं कि क्योंकि तू मेरा भक्त है, सखा है, इसलिये मैं तुझे उस रहस्य में दीक्षित करता हूं। गीताके इस स्थलसे यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्णने अर्जुनको किसी बीज-मन्त्रकी, किसी रहस्यकी, दीक्षा दी है, वह रहस्य आर्य-संस्कृतिका रहस्य है, वह विवस्वान्‌से चला आ रहा है, परम्परासे उसी विचारधारामें गुरु अपने शिष्योंको दीक्षित करते रहे हैं, अगर वह बीच-में लुप्त हो गया तो कोई पर्वा नहीं, उसकी श्रीकृष्ण फिरसे अर्जुनको दीक्षा दे रहे हैं।

श्रीकृष्ण महाराजने जिस रहस्यकी अर्जुनको दीक्षा दी उसीका उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा—'इमं विवस्वते योगम्'—इस योगको विवस्वान्‌के प्रति पहले प्रकट किया गया था। फिर लिखा है—'स एवायं मया तेऽद्य योग. प्रोक्तः पुरातन.'—यही योग आज मैंने तुझे बताया है। अर्थात्, श्रीकृष्ण महाराजने आर्य-संस्कृतिके जिस रहस्यका अर्जुनके सम्मुख उद्‌घाटन किया उसका नाम 'योग-मार्ग' था। कृष्ण महाराजने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'योग-मार्ग'के रहस्यका उद्‌घाटन उन्होंने अवश्य किया, परन्तु यह कोई बिलकुल नयी ही बात नही थी। यह तो वही आर्य-संस्कृतिका पुराना सन्देश था जो मानव-समाजको कभी विवस्वान्‌के द्वारा, कभी इक्ष्वाकुके द्वारा, कभी मनुके द्वारा, और कभी आर्य-जातिके अन्य अनेक अग्रगण्य नेताओंके

द्वारा समय-समयपर मिलता रहा। मानव-समाजके प्रति दिये गये इसी रहस्यमय 'योग-मार्ग' की गीतामें स्थान-स्थानपर व्याख्या है।

योग-मार्ग तथा सांख्य-मार्ग—

'योग-मार्ग' क्या है—इसे समझानेके लिये गीतामें 'योग-मार्ग' तथा उसके विरोधी 'सांख्य-मार्ग' इन दोनोका वर्णन किया गया है। किसी वातको समझनेके लिये उसके विरोधीको समझ लेना उस वातके यथार्थ-बोधमें सहायक होता है। सर्दको समझनेके लिये गर्मको समझना, लम्बेपनको समझनेके लिये छोटेपनको समझना, ऊंचाईको समझनेके लिये नीचाईको समझना आवश्यक है। उस समय 'योग-मार्ग'का विरोधी मार्ग 'सांख्य-मार्ग' कहाता था। 'योग-मार्ग'का दूसरा नाम 'कर्मयोग' और 'सांख्य-मार्ग'का दूसरा नाम 'कर्म-सन्यास' था। गीतामें इन दोनो मार्गोंका उल्लेख करते हुए लिखा है—

> लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
> ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

हे अर्जुन! संसारमें दो ही मार्ग हैं—'ज्ञान-मार्ग' तथा 'कर्म-मार्ग'। 'ज्ञान-मार्ग'को 'सांख्य-मार्ग' कहते है, 'कर्म-मार्ग'को 'योग-मार्ग' कहते हैं। यह नहीं कि श्रीकृष्ण महाराजके समय ही जीवन-यापनके दो मार्ग थे। तब तो थे ही, परन्तु तब या अव, इन्हीं दो मार्गोंसे, इन्ही दो दृष्टि-कोणोसे मानव-समाजका निर्वाह होता है। उपनिषद्में भी तो नचिकेताकी कथाका उल्लेख करते हुए इन्हीं दो मार्गोंका निर्देश किया गया है। गीताका कथन है कि इन दोनो मार्गोंमेंसे 'योग-मार्ग' ही उपादेय है, 'सांख्य-मार्ग' नहीं। 'सांख्य-मार्गी' कर्म-सन्यासका उपदेश देते है। उनका कहना है कि संसार निस्सार है, इसे सार समझकर कर्म करना दुःखका कारण है,

इसलिये इसे निस्सार समझकर कर्मका परित्याग कर देना चाहिये, कुछ करना ही नहीं चाहिये, जब कुछ करेंगे नहीं तब दुःख कहांसे होगा ? अर्जुनको भी तो लड़नेके लिये कहा जा रहा था, लडो और साम्राज्यको जीतकर राजा बनो। अर्जुनने कहा, यह संसार निस्सार है, जो आज हमारा भाई है वह कल हमारा शत्रु बनकर खडा हो जाता है, मैं इस ससारको पाकर क्या करूंगा, इसे पानेके स्थानमें इसे छोड़नेमें ही मनुष्यका भला है। अर्जुन 'सांख्य-मार्ग'पर चल पड़ा था। अर्जुनको 'साख्य-मार्ग'पर, 'कर्म-संन्यास'की राहपर कदम बढ़ाते देखकर श्रीकृष्णने कहा, यह गलत रास्ता है, संसारकी तरफ पीठ फेर देनेसे, कुछ भी कर्म न करनेसे दुनियांका कोई व्यवहार नहीं चल सकता—

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवश कर्म सर्व प्रकृतिजैर्गुणै. ॥

कर्म छोड़कर कौन रह सकता है ? कर्म करना तो हमारी प्रकृतिमें निहित है। हम चाहें, न चाहे, ससारमें हम आ पडे हैं, इससे इन्कार किया नहीं जा सकता, कर्म किये बग़ैर रहा नही जा सकता। जगत् सत्य हो, असत्य हो, यथार्थ हो, मिथ्या हो—जब हम चारो तरफ ससारसे घिरे हैं तब कैसे हो सकता है कि इसे बिलकुल मिथ्या समझकर हम काम छोडकर बैठ जाय ? परन्तु अगर काम करेंगे तो दु ख लगा रहेगा, इस दु खसे छुटकारा कैसे होगा ? यह समस्या अर्जुनको ही नही, प्रत्येक व्यक्तिकी है, प्रत्येक ऐसे व्यक्तिकी जो जीवनके प्रश्नपर विचार करता है ।

कर्म नही, कर्मके फलकी आशा छोडना निष्काम-कर्म है—

श्रीकृष्ण महाराजने इस समस्याका गीतामें जो उत्तर दिया है वह

आर्य-सस्कृतिका मानो बीज-मंत्र है। गीता पूछती है, कर्म क्यो न करें, ससारसे नाता क्यो तोड़ दें ? इसलिये न, क्योकि मनुष्य ससारमें लिप्त हो जाता है, कर्म मनुष्यको बाध लेता है। अगर यही बात है तब ऐसा उपाय क्यो न निकालें जिससे 'कर्म' तो हो जाय, क्योकि कर्मके बगैर हम रह ही नहीं सकते, परन्तु कर्मसे उत्पन्न होनेवाला 'बन्धन' पैदा न हो, ससार भी बना रहे और ससार से होनेवाला लेप भी न हो, साप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। गीताने आर्य-सस्कृतिके जिस रहस्यमय सन्देशका वर्णन किया है, वह आर्य-संस्कृतिका बीज-मत्र यही है कि कर्म करते जाओ, परन्तु उसके बन्धनको मत पडने दो, ससारमें रहो, इसलिये रहो क्योकि तुम इसे छोडना चाहो तब भी छोड़ नहीं सकते, परन्तु इसमें रहते हुए इसके भोक्ता बनकर रहो, इसके भोग्य बनकर मत रहो, जीवनके चरखेपर शरीर-रूपी पूनी लेकर कर्मका सूत कातते जाओ, परन्तु उसमें गाठ मत पडने दो——यह विचारधारा है जिसका उपदेश श्रीकृष्णने अर्जुनको दिया है, इसीको गीताने 'कर्म-योग' कहा है।

परन्तु क्या यह सभव है कि हम ससारमें रहे और उसमें लिप्त न हो, कर्म करें और कर्मका बन्धन न पडने दें ? आर्य-सस्कृतिके अध्यात्मवाद-का कहना है कि यह सभव ही नहीं है, यही जीवनका सही रास्ता है। कर्म करते हुए उसके बधनको न पड़ने देना, ससारमें रहते हुए ससारसे मुक्त रहना——इस मार्गका उल्लेख करते हुए गीताका कथन है——

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि॥
योगस्थ कुरु कर्माणि सग त्यक्त्वा धनजय।
सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा समत्व योग उच्यते॥

विहाय कामान् य सर्वान् पुमाश्चरति निस्पृह ।
निर्ममो निरहकार. स शातिमधिगच्छति ।।

कर्म करो, फलकी इच्छा मत करो । कर्मके फलकी कौन आशा नहीं करता ? हरेक करता है। वह आशा करना 'सग' कहाता है, 'सकाम-भाव' कहाता है, उस आशाका त्याग देना 'निस्सग-कर्म' है, 'निष्काम-भाव' है। हे अर्जुन ! तू कर्म कर, परन्तु निस्सग होकर, निष्काम होकर, निर्लिप्त होकर—बस, यही 'योग-मार्ग' है। निस्सग-कर्म करनेका परिणाम यह होगा कि कर्ममें सिद्धि हो, असिद्धि हो, सफलता हो, असफलता हो, मनुष्यमें समता रहेगी, और समता रहेगी तो शाति रहेगी, दु ख नहीं होगा ।

'कर्म-संन्यास' या 'सांख्य-मार्ग' तो सीधा-सादा उत्तर देता है—ससार असार है, इसमें कर्म क्या करना, इसलिये कर्मका झगड़ा छोड़ो, कर्म छूट जायगा, तो कर्म-जन्य दु.ख अपने-आप छूटेगा । इसके विपरीत, 'कर्म-मार्ग' या 'योग-मार्ग', यह कहता है कि संसार असार तो है, परन्तु इसकी सत्तासे भी तो इन्कार नहीं किया जा सकता, ससार है, तो कर्म छोड़े भी छूट नही सकता । कर्म नहीं छूट सकता, परन्तु हा, कर्मके साथ लगा हुआ कर्म-फल का जो मोह है, सग है, ममता है, कामना है, अहकार है, मैंने किया अत. मुझे ऐसा फल मिले, वैसा फल मिले, यह भावना है—इसका त्याग किया जा सकता है । 'साख्य-मार्ग' तथा 'योग-मार्ग'—दोनोका उद्देश्य एक है, दोनो कर्मके बन्धनमें नहीं पड़ना चाहते—'साख्ययोगौ पृथग्बाला. प्रवदन्ति न पडिता'—परन्तु 'साख्य-मार्ग' कर्मके बन्धनको छोडनेके लिये कर्मको ही छोड बैठता है, और 'योग-मार्ग'—वह मार्ग जिसका प्रारम्भ विवस्वानके समयसे हुआ था, जो इक्ष्वाकु और मनुका मार्ग

था, जो समय-समयपर लुप्त होता रहा परन्तु आर्य-सस्कृतिकी विचारधाराके वेगके कारण लुप्त होता-होता वार-वार प्रकट होता रहा, जिसका श्रीकृष्णने गीतामें उपदेश दिया—वह मार्ग जीवनके प्रति क्रियात्मक दृष्टिकोण लेकर कहता है कि कर्म मत छोडो, कर्म-फलकी आशासे दु ख होता है अत. उस आशाको त्याग दो । जीवनमें कार्य करनेकी इस दृष्टिको, इस विचारधाराको निष्काम-कर्म, निस्संग-कर्म, निर्मम-भाव, निर्मोह-भाव, निरहकार-भाव कहा गया है । यह हो सकता है कि जिस व्यक्तिको कर्ममेंसे संग काट देनेके लिये कहा जाय वह सगको छोडनेके बजाय कर्मको ही छोड बैठे, परन्तु जव हमने यह भली प्रकार जान लिया कि कर्म तो हमसे छूट ही नहीं सकता—और यही बात श्रीकृष्णने अर्जुनको वार-वार समझानेका यत्न किया है—तव तो हमारे पास सिर्फ एक मार्ग रह जाता है, और वह है संगको, फलाशाको, मोहको, कर्म-फलके साथ आसक्तिको छोड देना । श्रीकृष्ण महाराज इस वातको भली भाति समझते थे कि यदि संगको, आसक्तिको छोडनेके लिये कहा जायगा तो मनुष्य कर्मसे ही उदासीन हो जायगा, उत्साहसे कार्य न करेगा, इसीलिये उन्होंने कहा—

सक्ता. कर्मण्यविद्वासो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वास्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसग्रहम् ॥

जैसे मूर्ख लोग कर्म-फलकी आशासे, अत्यन्त उत्साहसे किसी कार्य को करते है, वैसे विद्वान् लोग बिना कर्म-फलकी आशासे, उससे भी दुगने उत्साहसे काममें जुटे रहते है । 'निस्सग-भाव' का यह परिणाम नही होना चाहिये कि कर्म करनेमें शिथिलता आ जाय—तव तो

'योग-मार्ग' 'सांख्य-मार्ग' ही हो जायगा। काम तो मनुष्य दुगुने उत्साहसे करे, परन्तु काम करता हुआ ऐसे ही रहे मानो कुछ किया ही नहीं, किया और करके अलग हो गये, उससे चिपटकर न बैठ रहे—यही 'निष्काम-कर्म' है।

निष्काम-कर्म असंभव नहीं, संभव है—

कर्म करते हुए उसके फलकी आशा न करना कहनेमें सरल परन्तु करनेमें कठिन है। प्रत्येक व्यक्ति फलकी आशासे काम करता है। क्या कोई ऐसा उपाय है जिससे हम अपने भीतर फलकी आशा न करनेकी भावनाको, अनासक्तिको जन्म दे सकें? इसीका उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण महाराजने कहा है कि जो लोग जीवनको यज्ञमय बना लेते हैं वे अपने-आप 'निष्काम-कर्म' करने लगते हैं। गीतामें लिखा है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन. ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसग: समाचर ॥
यज्ञशिष्टाशिन सन्त. मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुजते ते त्वघ पापा. ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

जीवनको यज्ञ समझकर चलो। यज्ञका अभिप्राय है—'त्याग'। स्वार्थकी भावनाको छोड देना ही तो यज्ञ है। यज्ञ करते हुए मनुष्य अपनेको परमात्माकी महान शक्तिके सहारे छोड़ देता है। मैं कुछ नहीं, तू ही सब-कुछ है, मेरा कुछ नहीं, सब तेरा-ही-तेरा है—'इदन्न मम'—यही भावना यज्ञकी आधार-भूत भावना है, यही भावना यज्ञमें जगमगा उठती है। जो भावना यज्ञ में होती है वही भावना अगर जीवनके प्रत्येक कार्यमें अनुप्राणित कर दी जाय, तब तो प्रत्येक कार्य यज्ञ हो गया, जीवन ही यज्ञमय हो गया। यज्ञमय नि स्वार्थ

जीवन बितानेवालेको गीतामें 'आत्मरत'-'आत्मतृप्त'-'आत्मसंतुष्ट' कहा गया है—वह अपनेमें रमा हुआ है, आत्ममें भरा हुआ है, अपने आत्मामें सन्तुष्ट है। स्वार्थमय जीवन बितानेवालेको 'इंद्रियाराम' कहा गया है, वह इन्द्रियोंके साथ खेलता है, आत्मासे दूर भागता है। स्वार्थकी भावनाको छोड़कर निस्संग, निष्काम, निर्मोह कार्य करना आर्य-संस्कृतिका रहस्यमय उपदेश है, उसका बीज-मन्त्र है, और जीवनकी गूढ़तम समस्यापर यही उसकी दार्शनिक विचारधारा है।

जीवनको यज्ञ समझना, अनासक्तिसे संसारमें रहना कोई अनहोनी बात नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवनके किसी-न-किसी पहलूमें निष्काम, निस्संग, निर्मोह, निस्वार्थकी अवस्थाको अनुभव करता है। डाक्टर मरीजोंको दवाई देता है, कोई बच जाता है, कोई मर जाता है। जो मरीज मर जाते हैं उनके लिये डाक्टरको किसीने रोते नहीं देखा। डाक्टरोंके हाथों सैकड़ों रोज मरते हैं, परन्तु सभी डाक्टर हंसते-खेलते देखे जाते हैं, उसी डाक्टरके घर यदि उसका बालक मर जाय तो वह अपनेको संभाल नहीं सकता, बिलख-बिलखकर रोने लगता है। जो बुद्धि वह दूसरेके लिये धारण कर सकता है वह अपने घरके लिये क्यों नहीं धारण कर सकता ? उसमें निष्काम-भावका, अनासक्तिका बीज है, तभी तो वह अपने हाथसे बीमारोंको मरते देखकर भी यह कहकर कि मुझसे जो-कुछ हो सकता था मैंने किया, बिना रोये-धोये अपने काममें जुट जाता है। इसी निष्काम-भावनाको जीवनमें व्यापक बनानेसे जीवन यज्ञमय हो जाता है। एक देवीका पति मर गया, दूसरी देवियां आकर उसे समझाती हैं, सब आकर कह जाती हैं, जीवनमें हरेकको किसी-न-किसी दिन यह दिन देखना है, इसलिये चित्तको संभालो, अपनेको विचलित मत होने दो, परन्तु उनके लिये जब वही दिन आता है, तब वे भी अपनेको संभाल नहीं

ग्रातीं, विचलित हो उठती हैं । वे दूसरेसे निस्सगता, निष्कामता, अना-सक्तिकी आशा करती है, तो उनसे भी तो वही आशा की जा सकती है । एक व्यापारीका माल लुट गया, हम उसे जाकर समझाते हैं, लेकिन अपने मालके लुट जानेपर हमारी भी वही दशा हो जाती है । यह सब क्यो होता है ? यह इसलिये कि जब हम दु खी नहीं होते तब तो हमने निष्कामता, निस्सग-भाव धारण किया होता है, जब दु.खी होते हैं तब सकामता, सग-भाव धारण किया होता है । दुनियाँमें रहते हुए दुनियाँसे अलग रहना, कर्म करते हुए भी मानो कर्म न करना, जालमें फसते हुए भी जालको काटते जाना, पानीमें गोता लगाकर भी—'पद्मपत्रमिवाम्भसा'—पानीमें न भीजना—यह कृष्ण महाराजका बताया हुआ जीवनका गुर है, आर्य-सस्कृतिका मूल-मत्र है । इस प्रकार की भावनाका उदय जीवनमें यज्ञ-वृत्ति धारण करनेसे होता है, स्वार्थसे नहीं, परार्थसे होता है, भोग-भावसे नहीं, त्याग-बुद्धिसे होता है । यज्ञमें बार-बार जो 'स्वाहा' शब्दका उच्चारण किया जाता है उसका भी यही अभिप्राय है । स्वाहा शब्द 'ओहाक् त्यागे' धातुसे निष्पन्न हुआ है । 'स्वाहा', अर्थात् 'त्याग'—'इदन्न मम'—यह मेरा नहीं, भगवान्-का है ! जो अपने सब-कुछ कियेको यज्ञकी भावनासे 'स्वाहा'का उच्चारण कर, भगवान्के चरणोमें भेट कर देता है, वह बेलाग हो जाता है, बेदाग हो जाता है, और उसके कर्ममेंसे मनुष्यको दु ख पहुंचाने-वाला सगका काटा निकल जाता है। भगवान्के चरणोमें सब कर्मोंको भेंट चढानेका उपदेश देते हुए गीतामें लिखा है—

> तस्मादसक्त सततं कार्यं कर्म समाचर ।
> असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुष. ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वर ॥

हे अर्जुन ! असक्त होकर, और यह सोचकर कि कर्म तुझे करना है, फल भगवान्‌के अर्पित करना है, जीवन-क्षेत्रमें कदम बढाये जा। याद रख, सकाम-भावना एक ज्वर है, बुखार है। विगतज्वर होकर काम कर । सकाम-भावना एक ज्वर है तभी तो अनुकूल फल न मिलने-पर मनुष्य विक्षिप्त हो जाता है, अधीर हो जाता है। इस ज्वरसे मुक्त होनेका उपाय एक ही है, और वह है 'निष्काम-भावना'से कर्म करना, निष्कर्मण्यताके स्थानमें जीवनमें निष्कामताको उत्पन्न करना।

फलकी आशा क्यो न करे ?—

इस प्रकरणमें यह प्रश्न खडा होना स्वाभाविक है कि जब हम कर्म करते है तब फलकी आशा क्यो न करें ? क्या सिर्फ इसलिये कि अनुकूल फल नहीं होगा, तो हमें दु ख होगा ? सिर्फ उस दु खसे बचनेके लिये ? यह तो कायरता है। फलकी आशा न करनेका सिर्फ व्यावहारिक नही, कोई दार्शनिक आधार भी होना चाहिये । वह दार्शनिक आधार क्या है ? फलकी आशा न करने का यह अभिप्राय नहीं है कि हमारे कर्मका फल ही नहीं मिलेगा। इसका आशय सिर्फ इतना है कि जो भी फल मिलेगा, यह जरूरी नहीं कि वह हमारी इच्छाके अनुकूल ही हो । फल हमारे अनुकूल भी हो सकता है, प्रतिकूल भी । फलकी अनुकूलता-प्रतिकूलता-पर ही मनुष्य सुखी-दु खी होता है। परन्तु सोचनेकी बात तो यह है कि कर्म करना तो अपने हाथमें है, फल तो अपने हाथमें नही है। फल किसी और शक्तिके हाथमें है। फिर, जो चीज अपने हाथमें नहीं है, उसके लिये हम क्यो सुखी हो, क्यो दु खी हो, और क्यो उसके साथ हम अपना

ऐसा नाता जोडें जिससे ऐसा प्रतीत होने लगे कि वह अपने हाथकी चीज है। किसी कर्मके फल उत्पन्न होनेमें एक कारण नहीं, सैकड़ों कारण हो सकते हैं। ससार कितना विशाल है, उसमें कितने कारण मिलकर किसी कार्यको उत्पन्न करनेमें सहायक होते होगे। कुछ कारणोका हमें ज्ञान है, कुछका नहीं। इस विशाल विश्वमें हमीं तो नहीं, लाखो-करोड़ो प्राणी हैं। सभीको सम्मुख रखकर ही तो विश्वकी विशाल-दृष्टिसे काम हो रहा होगा, हमारी दृष्टिसे ही तो विश्वका चक्र नहीं चल रहा। विश्वका सचालन करनेवाली दृष्टि समन्वयात्मक दृष्टि है, उसमें छोटे-से-छोटेसे लेकर बडे-से-बडे तक सभी प्राणी समा जाते हैं। हो सकता है, किसी औरके दृष्टिकोणसे हमारी इच्छा, और हमारे दृष्टिकोणसे किसी और-की इच्छा कट जाती हो, परन्तु यह जोड़-तोड हमारे बसकी चीज तो नहीं, यह तो उसीके बसकी है जिसके बहीखातेमें हम सबका हिसाब दर्ज है। ऐसी अवस्थामें संभव मार्ग सिर्फ यह रह जाता है कि हम अपना कार्य करते चलें, और 'इदन्न मम' कहकर 'फल' को विश्वात्माके चरणो-में रख दें, हम अपनी संकुचित दृष्टिसे न देखकर विश्वात्माकी विशाल दृष्टिसे देखें। इसी भावको प्रकट करनेके लिये श्रीकृष्णने गीतामें अर्जुन-को विराट्-स्वरूपका दर्शन कराया है।

विराट्-स्वरूप के दर्शन—

विराट्-स्वरूपके दर्शन करानेका यह अभिप्राय नहीं है कि कृष्ण महाराजने मुह खोला और उनकी दाढोमें कहीं रथ फस रहे थे, कही भीष्म-द्रोण अटक रहे थे। विश्वके सचालनमें जिस विशाल-दृष्टिसे काम हो रहा है, जिस प्रकार करोडो प्राणियोंके कर्मोंका समन्वय हो रहा है, उसीको तरफ सकेत करके अर्जुनको कहा गया—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथसहस्रश. ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥

ससारके सचालनमें जिन सैकडो, हजारो दृष्टिकोणोका, नाना तथा विविध कारणोका समन्वय करना पडता है, उसे जाननेके वाद कोई व्यक्ति अपनेको केन्द्र मानकर वात न करेगा, इसलिये श्रीकृष्ण महाराजने अर्जुनकी आखें खोलीं, और उसे 'विराट्-स्वरूप' का दर्शन कराया। अर्जुनको मानो दीखने लगा कि कर्म-चक्रमें पडकर भीष्म, द्रोण, सूतपुत्र, राजे-महाराजे विश्वके नियामककी मानो दष्ट्रामें पिसते चले जा रहे हैं। अर्जुनकी जो संकुचित दृष्टि थी, जिससे वह किसीको भाई, किसीको भतीजा, किसीको चचा और किसीको ताऊ समझे बैठा था, और जो-कुछ होने जा रहा था उसे देखकर आसू बहा रहा था, वह विशाल दृष्टिमें परिणत हो गयी, और उसे मानो दीखने लगा कि कर्मोंके चक्रको चलाने-फिरानेवाला, विश्वका सूत्रात्मा इस चक्रको किधर चलाने जा रहा है। इसी भावको गीतामें यू कहा है—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्त ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिता प्रत्यनीकेषु योधा' ॥

उस समय जो पापका प्रचण्ड वेग उठ खड़ा हुआ था उसका विश्वके संचालकको नाश तो करना ही था। अर्जुन कितना ही रोता, इस पापका, अव्यवस्थाका अन्त-समय आ गया था। श्रीकृष्णने अर्जुनका ज्ञान-नेत्र खोलकर उसे कार्य-कारणके अखड, निर्दय, निर्मम नियमका संचालन दिखाकर मनुष्यकी सकुचित दृष्टिके स्थानपर विश्वकी विशाल दृष्टिका दर्शन करा दिया। अर्जुनको समझ पड गया कि वह तो इस सम्पूर्ण

निमित्त-मात्र होगा, उसके बिना भी सब-कुछ होकर रहेगा।
यामक शक्तिके इस 'विराट्-रूप'के दर्शन करते ही अर्जुनके
दूर हो गये और 'निष्काम-कर्म'का संदेश उसके भीतर इतना
गया कि वह भीरुता और क्लीवता छोडकर, संसारकी असारता
उससे भागनेके स्थानपर वीर-पुरुषकी तरह युद्धके लिये डटकर
हो गया। अब उसे ऐसा अनुभव होने लगा मानो कर्ममें तन-मनसे
नेपर भी वह कुछ नहीं कर रहा। गीतामें इस मनोभावको प्रकट
हुए लिखा है--

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिता. ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माण तमाहु. पण्डितं बुधाः ॥
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥

जो कर्म करता है, परन्तु कामनासे नहीं करता, जो ज्ञानकी अग्निसे
के अन्तर्निहित 'कामना' को दग्ध कर देता है, जला देता है, जो कर्म-
लकी भावनाको, संगको, मोहको, आसक्तिको छोड़ देता है, उसका
ा सदा तृप्त रहता है, उसे किसी दूसरेका आश्रय, सहारा ढूंढ़नेकी
श्यकता नहीं रहती। वह कर्म करता है, परन्तु दिन-रात सब-कुछ
ं हुए भी मानो कुछ नहीं करता।

सदियां बीत गयीं जब अर्जुनको श्रीकृष्णने आर्य-संस्कृतिका यह संदेश
या था। अर्जुनके जीवन-रूपी रथका संचालन श्रीकृष्ण महाराजने
थि बनकर किया था। सारथिका काम रथका चलानामात्र नहीं,
तु ठीक रास्तेसे रथका चलाना है। सारथि रास्ता दिखानेवाला
ा है, पथ-प्रदर्शक होता है। आज हम भी अपनेको अर्जुनकी स्थितिमें
सकते हैं। जीवनमें समय-समयपर सबके सम्मुख द्विविधाकी-

सी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अर्जुनके सम्मुख जब युद्धका सम्पूर्ण दृश्य आया, तो वह विचलित हो उठा। इस युद्धका फल क्या होगा ? हार होगी, जीत होगी ? इस संग्राममें पड़ूं, न पड़ूं ? अपने प्रतिदिनके मिलनेवालोंसे लड़ूं, न लड़ूं ? क्या हमारे जीवनमें भी ऐसी स्थिति प्राय: नहीं उपस्थित हो जाती ? हम उन लोगोंका साथ देते हैं जिनका साथ हमें नहीं देना चाहिये, इसलिये कि वे हमारे मित्र हैं, मिलने-जुलनेवाले हैं। हम उनसे लड़ाई मोल लेना नहीं चाहते, इसलिये नहीं चाहते कि हमें सन्देह होता है कि हम जीतेंगे, या हारेंगे ! गीतामें दिया गया श्रीकृष्णका सन्देश कहता है—'ऐ आजके नौजवान अर्जुन ! भगवान्‌के विराट् स्वरूपका दर्शन कर, अपनी संकुचित दृष्टिसे मत देख। पाप ज्यों-ज्यों बढ़ता है, त्यों-त्यों उसके विनाशका समय निकट आता जाता है। यह तो नष्ट होकर रहेगा, फिर तू ही इसके विनाशमें पहल क्यों नहीं करता ? क्या तुझे यह द्विविधा है, यह घबराहट है कि तुझे सफलता मिलेगी, या न मिलेगी ? देख, तेरा यह सोचना बेकार है, तू 'निष्काम-भाव' से अपना कर्त्तव्य पालन किये जा, और फलको भेंटके रूपमें भगवान्‌के चरणोंमें चढ़ा दे।' अर्जुन चले गये, श्रीकृष्ण चले गये, परन्तु श्रीकृष्णने जिस जादूसे अर्जुनकी दुविधा, उसकी क्लीवता, उसकी कायरताको दूर किया था वह आज भी गीताके उपदेशके रूपमें मौजूद है, और जिस समय भी किसी नवयुवकमें दुविधा या कायरताके विचारका उदय हो, उसी समय उसे दूर करनेवाले 'निष्काम-कर्म'के उदात्त विचारकी गूंज गीताके पन्ने-पन्नेसे उठती हुई सुनाई पड़ सकती है। गीताके पन्ने-पन्नेसे गूंजनेवाला आर्य-संस्कृतिका यह सन्देश जबतक सूर्य और चन्द्र रहेंगे तबतक अमर रहेगा। यह सन्देश आर्य-संस्कृतिके मूल-तत्त्वोंमेंसे एक सबसे महान् तत्त्व है।

[४]

कर्मका सिद्धान्त

अपने देशके प्रचलित कथानकोके अनुसार मनुष्य-देह चौरासी लाख योनियोंके बाद मिलता है। एक अन्धेका दृष्टान्त दिया जाता है जो चौरासी लाख दरवाज़ोंवाली घुमरघेरीके भीतर उसकी दीवारके साथ-साथ बाहर निकलनेका रास्ता टटोल रहा है। इसमें केवल एक दरवाजा खुला है, बाकी सब रास्ते बन्द है, परन्तु जब वह अन्धा हाथसे टटोलता-टटोलता खुले दरवाजेके समीप पहुंचता है, तो उसे ज़ोर-की खुजली उठती है, और वह आगे निकल जाता है, और फिर चौरासी लाख दरवाजोको खटखटानेके फेरमें पड जाता है। पशु-पक्षियोकी भिन्न-भिन्न योनिया वे वन्द दरवाजे है जिनमेंसे आत्म-तत्त्व बाहर निकलकर स्वतंत्र होनेका यत्न करता है, परन्तु इनमेंसे निकल नहीं सकता, मनुष्यकी योनि खुला दरवाजा है, इसपर पहुचकर यह आत्मा अपने बन्धनोको काटकर स्वतंत्र हो सकता है, परन्तु काम-क्रोध-लोभ-मोहकी खुजली उसका ध्यान दूसरी तरफ खींच देती है, और वह फिर जन्म-जन्मान्तरोके इसी चक्रमें फिरता हुआ बाहर निकलनेका रास्ता टटोला करता है।

जिन लोगोंने हमारे समाजके एक-एक झोंपडेतक ऐसे कथानकोंको पहुंचाया था उन्होंने चौरासी लाख योनियोंकी गिनती नहीं की थी, मनुष्य-देहके महत्त्वको समझानेके लिये ऐसे कथानकोंको रचा था। वे लोग मानव-जीवनको एक खिलवाड नहीं समझते थे, एक समस्या समझते थे, उनका कथन था कि मनुष्य-योनि बडी दुर्लभ है, उसे पाकर उसे हाथसे यूंही निकल जाने देना मूर्खताकी पराकाष्ठा है।

कर्म तथा कार्य-कारणका नियम—

इस सारे लम्बे-चौड़े चक्रमें पड़ जानेका कारण क्या है? उनका कहना था कि इसका कारण है—'कर्म'। परन्तु यह 'कर्म' क्या वस्तु है? भौतिक-जगत्का आधार-भूत नियम कार्य-कारणका नियम है—इसे सब-कोई जानता है। कोई कार्य ऐसा नहीं हो सकता जिसका कारण न हो, न कोई कारण ही ऐसा हो सकता है जिसका कोई कार्य न हो। जिस कार्यका कारण नहीं वह कार्य नहीं, जिस कारण का कार्य नहीं वह कारण नहीं। यही कार्य-कारणका नियम जब भौतिक-जगत्के स्थानमें आध्यात्मिक-जगत्में काम कर रहा होता है तब इसे 'कर्मका सिद्धान्त' कहते हैं। कार्य-कारणके भौतिक-नियमका आध्यात्मिक-रूप ही कर्म है।

कार्य-कारणका नियम भौतिक-जगत्का एक अटल नियम है। कारण उपस्थित होगा, तो कार्य होकर रहेगा। एक सुन्दर दो मासका बच्चा पाला पडते हुए नंगा बाहर पडा रह गया। उसे सर्दी लग ही जायगी, सर्दी इस बातकी पर्वा नहीं करेगी कि बच्चा छोटा-सा है, दो मासका ही है, सुन्दर है, माता-पिताकी भूलसे बाहर रह गया है, उसका अपना कोई दोष नहीं है। कुछ नहीं—किसी बातकी रियायत नहीं,

कारण उपस्थित हुआ है, कार्य होगा—अवश्य होगा, किसी तरह की ननु-नचकी सुनवाई नहीं होगी। पत्थरसे टक्कर होगी तो चोट लगेगी, आगमें हाथ पडेगा तो झुलस जायगा, पानीमें कपड़ा गिरेगा तो गीला अवश्य होगा—यह निर्दय, निर्मम कार्य-कारणका नियम विश्वका सचालन कर रहा है। इस नियमसे ही सूर्य उदय होता है, चन्द्र अपनी रश्मियोका विस्तार करता है, पृथिवी अपनी परिधिपर घूमती है, समुद्रमें ज्वार-भाटा आता है। 'अवश्यभाविता' कार्य-कारणके नियमकी आत्मा है—कारणका कार्य अवश्यभावी है, उसे टाला नहीं जा सकता।

'अवश्यभाविता'के साथ-साथ कार्य-कारणका नियम एक 'चक्र'-में चलता चला जाता है। कारण कार्यको उत्पन्न करता है, वह कार्य फिर कारण बन जाता है, अपनेसे अगले कार्यको उत्पन्न कर देता है—और इस प्रकार प्रत्येक कारण अपनेसे पिछलेका कार्य और अगलेका कारण बनता चला जाता है, और यह प्रवाह सृष्टिका अनन्त-प्रवाह बन जाता है। बीज वृक्षको उत्पन्न करता है, वही वृक्ष फिर बीजको उत्पन्न कर देता है, वह बीज अगले वृक्षको जन्म देता है, और यह परम्परा अनन्तकी ओर मुख किये आगे-ही-आगे बढती चली जाती है।

कर्ममे 'अवश्यभाविता' तथा 'चक्रपना'—

क्योंकि 'कर्म'का सिद्धान्त 'कार्य-कारण'का ही सिद्धान्त है, इसलिये कर्ममें भी कार्य-कारणकी दोनो बातें—'अवश्यभाविता' तथा 'चक्रपना' पायी जाती है। प्रत्येक कर्मका फल अवश्य भोगना पडता है—यह 'अवश्यभाविता' है, प्रत्येक कर्मका फल, फल न रहकर, स्वय एक कर्म बन जाता है, ऐसा कर्म जिसका फिर आगे फल मिलता है—यह 'चक्र' है। कर्मका 'चक्र' कैसे चलता है? हमें किसीने मारा। उसका हमें यह

मारना या 'फल' है, या 'कर्म' है, या 'कार्य' है, या 'कारण' है। अर्थात्, या तो यह किसी पिछले कर्मका हमें 'फल' मिला है, या जिसने हमें मारा उसने एक नया 'कर्म' किया, एक नया कारण उत्पन्न किया जिसका उसे आगे फल मिलना है। अगर हमें 'फल' मिला है तो यह किसी कारणका 'कार्य' है, और अगर हम थप्पड़ खाकर चुप रह जायं, गुस्सातक न करें, तो यह 'फल' शान्त हो जाय, और अगली कार्य-कारण-परंपराको खड़ा न करे। परन्तु ऐसा नहीं होता। हमें किसीने मारा, इसलिये हम उसका बदला अवश्य लेंगे, सीधे थप्पड़का जवाब थप्पड़से न दे सकेंगे, तो दूसरे किसी उपायकी सोचेंगे, और कुछ नहीं, तो बैठे-बैठे मनमें ही संकल्प-विकल्पोंका ताना-बाना बुनेंगे। नतीजा यह होगा कि अगर यह 'फल' था, हमारे ही कर्मोंका परिणाम था, किसी पिछले कारणका 'कार्य' था, तो भी यह सिर्फ 'कार्य' या 'फल' न रहकर फिर कारण बन जाता है, और अगले चक्रको चला देता है। और, अगर यह हमारे किसी पिछले कर्मका फल नहीं था, एक नया कारण था, जिसने हमें थप्पड मारा उसने एक नया सिलसिला शुरू किया था, तब तो कार्य-कारणके नियमके अनुसार उसे इसका फल मिलना ही है—इससे भी चक्रका चल पड़ना स्वाभाविक ही है। हर हालतमें, प्रत्येक 'कर्म'—चाहे वह कारण हो, चाहे कार्य—एक चक्रको चला देता है, और प्रत्येक कर्म पिछले कर्मका कार्य और अगलेका कारण बनता चला जाता है। इस प्रकार यह 'आत्म-तत्त्व' कर्मोंके एक ऐसे जालमें बंध जाता है जिसमेंसे निकलनेका कोई उपाय नहीं सूझता। इसमेंसे निकलनेका हर झटका एक दूसरी गांठ बाध देता है, और जितनी गांठें खुलती जाती है उतनी ही नयी गाठें पड़ती जाती हैं।

'कर्मका चक्र' तथा 'भाग्य'—

'कार्य-कारण'के अटल नियममेंसे बच निकलनेका कोई रास्ता नहीं, तो

क्या 'कर्म'के बन्धनोसे बच निकलनेका भी कोई रास्ता नहीं ? तब तो जो-कुछ हो रहा है—ठीक हो या गलत—ऐसा होना ही है, कुछ टल नहीं सकता, जो-कुछ हो रहा है वह कर्मोंका फल है, जो-कुछ होगा वह कर्मोंका फल होगा, हम इसमें क्या कर सकते हैं ? अगर बुरा हो रहा है तब भी हमारे बसका नहीं, अगर अच्छा हो रहा है तब भी हमारे बसका नहीं। कार्य-कारण-के अटल नियमकी तरह कर्मका अटल नियम काम करेगा, हम चाहेंगे तब भी करेगा, न चाहेंगे, उलटा चाहेंगे, तब भी करेगा। इसीको आम बोलचालकी भाषामें 'कर्मोंका लेखा', 'प्रारब्ध', 'भाग्य', 'दैव' आदि शब्दोसे पुकारा जाता है। अगर कार्य-कारणका नियम ही आध्यात्मिक-जगत्में कर्म-का सिद्धान्त है, तो जैसे कार्य-कारणके नियममें 'अवश्यंभाविता' और 'चक्रता' है, वैसे कर्ममें भी अवश्यभाविता और चक्रका होना आवश्यक है—यही 'प्रारब्ध' है, 'भाग्य' है, 'दैव' है। अच्छा-बुरा जो-कुछ हो रहा है वह कार्य-कारणका विस्तार है, पिछले कारण ऐसे थे जिनसे वर्तमान कार्य ही उत्पन्न हो सकते थे, दूसरे नहीं, इस समयके कार्योंसे ऐसे कारण बन रहे हैं जिनसे आगे होनेवाले कार्य ही उत्पन्न हो सकते हैं, दूसरे नहीं। कर्मों-के सिद्धान्तको मानकर चलनेका यह भयकर परिणाम सामने आ खड़ा होता है। आत्म-तत्त्वकी स्वतन्त्रता—वह स्वतन्त्रता जिसके लिये हम क्षण-क्षण तरसते हैं, जिसके लिये जातिया और देश सदियोतक जीवन-मरणका युद्ध किया करती हैं—वह स्वतन्त्रता एक मरु-मरीचिकाकी तरह कभी हाथमें न आनेवाली वस्तु हो जाती है। 'पुरुषार्थ' के स्थानमें 'भाग्य' एक लम्बा-चौडा लेखा लेकर हमारे सामने आ खडा होता है।

कर्म तथा वर्तमान विज्ञान—

इस उलझनमेंसे निकलनेका क्या रास्ता है ? सबसे आसान रास्ता तो

यह है कि कर्मके सिद्धान्तको ही न मानें। कर्मको कार्य-कारणका ही एक रूप माननेसे ही तो पूर्वजन्म और पुनर्जन्म मानना पडता है, इन्हे माननेसे कर्मोंकी उलझन उठ खडी होती है। यह न मानकर इतना ही मानें कि जो-कुछ हो रहा है इस जन्ममें हो रहा है। हम पैदा हुए--माता-पिताके रज-वीर्यके द्वारा उनके तथा 'वंश-परंपरा' (Heredity) के संस्कारो को लेकर जन्म, उसके बाद जैसी 'परिस्थिति' (Environment) में रहे उसके अनुसार बने या बिगडे, अन्तमें समाप्त हो गये। न पिछला सिलसिला, न अगला सिलसिला, यहीकी कहानी यहीं समाप्त हो गयी। वर्तमान विज्ञान यही मानता है। परन्तु क्या ऐसा हो सकता है? क्या विज्ञान कार्य-कारणके नियमको छोड सकता है? जो विज्ञान अभावसे भावका उत्पन्न होना, और भावका अभावमें चला जाना नहीं मानता, वह चेतनाके इस जन्ममें एकाएक, अकारण उत्पन्न होने, और एकाएक समाप्त हो जानेको कैसे मान सकता है? परन्तु क्या पूर्वजन्म और पुनर्जन्मको न मानना चेतनाका अकारण उत्पन्न होना और अकारण ही नष्ट हो जाना नहीं है? विज्ञान, जिसका आधार ही कार्य-कारणका नियम है, विज्ञान कहाता हुआ कर्मके उस सिद्धान्तसे कैसे इन्कार कर सकता है, जो अगर कुछ है तो कार्य-करणका ही नियम है, और कुछ नहीं है। यह कैसे हो सकता है कि 'चेतना'-जैसी एक महान्, अद्वितीय, विलक्षण सत्ता उत्पन्न हो जाय, और उसका पीछे कोई निशानतक न हो, यह 'चेतना' इस जीवनमें कुछ देर-तक अपनी झलक दिखाकर एकाएक आँखोसे ओझल हो जाय, और आगे उसका अता-पता न हो? यहीं होना और यहीं समाप्त हो जाना असंभव है, तभी संभव है अगर काय-कारणका नियम न हो। इसके अतिरिक्त इस विचारम भी 'स्वतंत्रता' कहा है? 'वंशपरंपरा' और 'परिस्थिति' ही तो हमें बनाती है। इस विचारमें, अवैज्ञानिक तौरसे कार्य-कारणके

नियमको तिलांजलि देकर, यह माना जाता है कि पिछले जन्मके कर्म नहीं है, कर्म इस जन्मके आगे भी नहीं है। इस जन्ममें वंश-परम्परा के—माता-पिताके ही नहीं, पितामह, प्रपितामह और पिछली सभी पीढियोंके संस्कारोमें बंधकर पैदा होना, और इस जन्ममें भी परिस्थितियोंका ही दास बने रहना, परिस्थितिको अपने अनुकूल बनानेके स्थानमें परिस्थिति-के थपेड़े खाकर जैसा वह बनाये वैसा बन जाना—इस विचारमें तो यह माना जाता है। इसमें आत्माकी स्वतन्त्रता कहा रही, पुरुषार्थ कहा रहा? अगर पिछले जन्मके 'कर्म' इस जन्मके कारण नहीं है, तो जीवन प्रारंभ करते ही हम सबमें इतनी विषमता क्यो? अभी तो हमने कुछ किया ही नहीं! इसका उत्तर आधुनिक विज्ञानके पंडित 'वंश-परपरा' और 'परिस्थिति'से देते है। माता-पिताके रज-वीर्यकी भिन्नता, और जिन भिन्न-भिन्न परिस्थितियोमें वे अपनी सन्तानोको रखते है उससे प्राणी-प्राणीमें भेद उत्पन्न हो जाता है। इसका अभिप्राय तो यह हुआ कि हमने कुछ नही किया, माता-पिताने किया, और उनके किये का फल उन्हे मिलने के स्थानमें हमें मिला। माता-पिताके अच्छे-बुरे कामोका फल माता-पिताको मिलना चाहिये, या हमें? प्रश्नोंका प्रश्न, महान् प्रश्न, वह प्रश्न जिसका 'वंशपरपरा' तथा 'परिस्थिति'का नाम लेनेवाले विज्ञानके पास कोई उत्तर नहीं है, यह है कि हमने क्या किया था जो हमें ऐसे माता-पिताके साथ बांध दिया गया जिनके रज-वीर्यमें रोगके कीटाणु थे, जो हमें अच्छी परिस्थितियोंमें नहीं रख सकते थे? इसका उत्तर इसके सिवाय क्या दिया जा सकता है कि हम तो है ही नहीं—यह 'हम' एक आकस्मिक घटना है, हम आकस्मिक रूपमें ही उत्पन्न हो गये, और आकस्मिक रूपमें ही समाप्त हो जायेंगे। परन्तु कार्य-कारणका अटल नियम माननेवाले विज्ञानके यहा तो आकस्मिक कुछ है ही नहीं। ऐसी अवस्थामें 'वंशपरपरा' और

'परिस्थिति' मान लेनेसे ही जन्मकी प्रारंभिक विषमताओंको आकस्मिक, अकारण मानना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अच्छे माता-पिताकी बुरी संतान, बुरे माता-पिताकी अच्छी संतान, उत्तम-से-उत्तम परिस्थितिमें नीच-से-नीच व्यक्ति, नीच-से-नीच परिस्थितिमें उत्तम-से-उत्तम व्यक्ति क्यों पैदा हो जाते हैं? फिर, अन्तमें, यह सारा लेखा एकदम समाप्त हो जाता है। ऐसा क्यों? हरेक वही-खाता जब शुरू होता है, तो कुछ रकम लेकर शुरू होता है, हर दिनके जोड़में कुछ लेना, कुछ देना बना रहता है, सालके बाद जब दूसरी वही खोली जाती है तब पिछलीका लेना-देना अंकित करके हिसाब आगे चलता है। क्या जीवनकी वही बिना किसी हिसाबके है? यह बिना लेने-देनेके शुरू हो जाती है, बिना लेखा पूरा किये समाप्त हो जाती है? ऐसा कैसे हो सकता है?—नहीं हो सकता, विज्ञान भी जबतक कार्य-कारणके नियमपर स्थित है आर्य-संस्कृतिके कर्मके सिद्धान्त-से इन्कार नहीं कर सकता।

कर्म तथा मतमतान्तर—

यहूदी, ईसाई तथा मुसलमान कर्मके सिद्धान्तको अटल रूपसे नहीं मानते। उनका कहना है कि इस जन्ममें परमात्माने आत्माको पैदा कर दिया। उनके कर्मोंके कारण पैदा कर दिया, या यूंही पैदा कर दिया—इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं। इस जन्ममें अच्छे कर्म करनेवाले स्वर्ग चले जायेंगे, बुरे कर्म करनेवाले नरक चले जायेंगे। वे वर्तमान वैज्ञानिकोंकी तरह जीवनका आकस्मिक उत्पन्न होना तो मानते हैं—भले ही परमात्माने उत्पन्न किया हो, हुआ तो यूं ही, बिना हमारी जिम्मेदारीके—परन्तु वर्तमान वैज्ञानिकोंकी तरह इस सब हिसाब-किताबको अकारण राख करके चल देना नहीं मानते। इस जन्मके कर्मोंका फल स्वर्ग या नरक मानते हैं, और

स्वर्ग-नरकको अनन्त मानते है ? परन्तु इस जन्मके थोड़े-से, सान्त कर्मोंका अनन्त फल कैसे हो सकता है ? हमने इस जन्ममें कुछ अच्छे काम किये, कुछ बुरे किये। अगर अच्छे बुरोकी अपेक्षा कुछ ही ज्यादा हो गये, तो हमें सदाके लिये स्वर्ग मिल गया, अगर कुछ कम रह गये, तो सदाके लिये नरकमें धकेल दिये गये—यह विचार कार्य-कारणके नियमके विपरीत है। कर्मका सिद्धान्त अगर ठीक है, तो पूर्व-जन्म भी मानना पड़ता है, पुनर्जन्म भी मानना पड़ता है। यह तो हमें दीख रहा है कि अगर कार्य-कारणका नियम एक सत्य-नियम है, तो कर्मोंका लेखा भी एक अमिट लेखा है, यह हिसाब पीछेसे चला आता है, इस जन्ममें यह हमारे हाथमें आ जाता है, और जब इस जन्ममें हम जीवनकी इस बहीको बन्द करते है तो आगे कहीं इसी लेन-देनसे अगला हिसाब शुरू करते है, इसी हिसाबसे बधे रहते है। और कोई कल्पना कार्य-कारणके नियमको छोडकर ही की जा सकती है, इसके बिना नहीं। कर्मके सिद्धान्तका आधारभूत तत्त्व यह है कि कर्मका फल अवश्य मिलता है। मनुष्यकी सबसे बड़ी समस्या यह रही है कि वह कर्म तो कर लेता है, परन्तु अगर उसका कड़वा फल मिले तो उससे बचना चाहता है। मनकी इसी कमजोरीके कारण फलसे बचनेके मनुष्य अनेक उपाय ढूढता है। कोई कहता है, मन्दिरमें जाओ, मस्जिदमें जाओ, गिर्जेमें जाओ, यहां डुबकी लगाओ, वहा गोता लगाओ, इसमें यकीन लाओ, उसको दान दो—इस उपायसे, उस उपायसे कर्म अपना फल नहीं देगा, परन्तु ये सब मनुष्यके मनकी कमजोरी है, ये सब समस्याका हल करनेके नहीं, समस्यासे बचनेके प्रयत्न है।

भाग्य अथवा पुरुषार्थ—एक समस्या—

तो फिर वही प्रश्न जहा-का-तहां उठ खडा होता है। क्या हम प्रारब्धसे, दैवसे, भाग्यसे, पिछले कर्मोंसे इस प्रकार जकड़े हुए है कि इनकी

'अवश्यभाविता' और इनके 'चक्र'मेंसे निकल ही नही सकते, जो होना है वह होना ही है, मस्तकमें जो रेखा खिच गयी वह अमिट है—'भवितव्यता वलीयसी'—या जीवनमें पुरुषार्थको, स्वतन्त्रताको भी कोई स्थान है, हम नया कुछ भी कर सकते है ? आर्य-सस्कृतिने विश्वमें कार्य-कारणके व्यापक भौतिक नियमको देखकर उसीको आध्यात्मिक-जगत्में कर्मके सिद्धान्तका नाम दिया, कर्मके सिद्धान्तको माननेसे उसके लिये पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म-को मानना आवश्यक हो गया, परन्तु इनके माननेसे उसके सामने एक महान् समस्या उठ खडी हुई। आत्माको आर्य-सस्कृति कर्ता मानती है, कर्म नही; भोक्ता मानती है, भोग्य नहीं, स्वतन्त्र मानती है, परतन्त्र नहीं—फिर कर्मके सिद्धान्तके साथ जिसमें आत्म-तत्त्व परतत्र हो जाता है यह आत्म-तत्त्वकी स्वतत्रता की सगति कैसे करे ?

भाग्य तथा पुरुषार्थ, आत्म-तत्त्वका कर्मोंके बन्धनके साथ बधा होना तथा स्वतन्त्ररूपसे कार्य कर सकना—इन दोनो बातोकी सगति समझनेके लिये 'कर्म' को कुछ और गहराईसे समझनेकी जरूरत है।

सञ्चित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण-कर्म—

'कर्म' तीन तरहका माना गया है—'सचित', 'प्रारब्ध' तथा 'क्रियमाण'। पिछले जन्मोसे लेकर अबतकका जितना कर्म है वह 'सचित' कहलाता है। 'सचित' कर्मोंमेंसे किन्हींका फल मिल चुका है, वे अब 'सचित' नहीं रहे, कुछका मिलने लग रहा है, कुछका अभी मिलना वाकी है। जिनका फल मिल चुका, या जिनका मिलने लग रहा है, उन्हें 'प्रारब्ध' कहते है। 'प्रारब्ध' इसलिये क्योकि उनका फल मिलना 'प्रारभ' हो गया है। 'प्रारभ' से 'प्रारब्ध'। जिन कर्मोंका अभी फल मिलना बाकी रह गया वे 'सचित' की श्रेणीमें ही है। 'सचित' और 'प्रारब्ध'-कर्मोंमें इतना ही भेद है कि 'सचित'

कर्मोंका जब फल मिल जाय, या मिलना प्रारभ हो जाय, तब 'सचित' कर्म ही फलके प्रारंभ हो जानेके कारण 'प्रारब्ध' कहाता है। असलमें 'सञ्चित' और 'प्रारब्ध' दोनोका भूतके कर्मोंके साथ सम्बन्ध है। वर्तमान-में जो कर्म हम कर रहे हैं वे 'क्रियमाण' कहाते हैं, परन्तु 'क्रियमाण'-कर्म ही झट-से 'सचित'की श्रेणीमें चले जाते हैं। इस जन्मसे उठकर अगर हम पिछले जन्ममें चले जायं, तो इस जन्मके जो 'सचित'-कर्म हैं, वे उस जन्मके 'क्रियमाण'-कर्म थे, और अगर हम इस जन्मसे अगले, आनेवाले जन्मकी दृष्टिसे देखें, तो इस जन्मके जो 'क्रियमाण'-कर्म हैं वे अगले जन्मके 'सञ्चित'-कर्म होंगे। असली कर्म, 'सचित' और 'क्रियमाण'-कर्म हैं। 'प्रारब्ध' तो 'सञ्चित' और 'क्रियमाण'-कर्म—'क्रियमाण'-कर्म जब 'सचित' बन जाते हैं—इनके फलके प्रारभ हो जानेका नाम है। इसीलिये जब कोई अच्छा या बुरा फल दीखने लगता है, कर्मका अच्छा या बुरा फल प्रारभ हो जाता है, तब हम कहते हैं—'प्रारब्धमें ऐसा लिखा था'। विना फल प्रारभ हुए कैसे कहें—'प्रारब्धमें ऐसा था'। एक आदमीको बैठे-बैठे साप आकर डस गया। जबतक नहीं डसा तबतक हम नहीं कहते कि 'प्रारब्ध' ऐसी थी, जब डस गया तब कहते हैं कि 'प्रारब्ध'में ऐसा लिखा था। तब इसलिये कहते हैं क्योंकि उस समय फल मिलना प्रारभ हो गया दीखने लगता है।

क्या 'क्रियमाण-कर्म' इस जन्ममे स्वतत्र रूपसे हो सकता है ?—

'कर्म'-सिद्धान्तकी वास्तविक समस्या 'क्रियमाण'-कर्मकी है। जो कर्म हम इस समय करने लगे है वह बिल्कुल नया, स्वतन्त्र कर्म है, या यह किसी पिछले कर्मका फल है, यह किसी कारणका कार्य है, या एक नया कारण है जो किसी अगले कार्यको उत्पन्न करनेवाला है ? इसी प्रश्नके हलमें 'भाग्य' या 'पुरुषार्थ'की समस्याका हल छिपा है।

इस प्रश्नके दो उत्तर तो स्पष्ट है । एक तो यह कि 'क्रियमाण'-कर्म कोई स्वतन्त्र कर्म नही है, कार्य-कारणकी अनन्त-कालसे चली आ रही लडीकी यह एक कडी है, दीखनेको यह एक स्वतन्त्र कर्म दीखता है, परन्तु वास्तवमें पिछले कर्मोंका यह फल है, यह ऐसा ही होना है, इससे भिन्न नहीं हो सकता । जो विचारक कर्मके सिद्धान्तको कार्य-कारणका सिद्धान्त ही मानते है वे इसके अतिरिक्त दूसरी बात कैसे कह सकते है ? इसीलिये कर्मका सिद्धान्त माननेवाले प्राय 'भाग्यवादी' (Fatalists) हो जाते है, जो-कुछ हो रहा है उसे अमिट, अवश्यभावी मानते है, उसमें परिवर्तन नही हो सकता—ऐसा मानते है । इस प्रश्नका दूसरा उत्तर यह है कि 'क्रियमाण'-कर्म एक स्वतन्त्र कर्म है, हम जो चाहें कर सकते है, किसी पिछले बन्धनसे हम बधे नही । यह सिद्धान्त 'पुरुषार्थवादियो' (Free-willists) का है, परन्तु इस सिद्धान्तको माननेसे कार्य-कारणके नियमको छोडना पडता है । इन दो उत्तरोके अतिरिक्त इस प्रश्नका एक तीसरा उत्तर भी है—यह उत्तर आर्य-संस्कृतिका है ।

कार्य-कारण तथा कर्मके सिद्धान्तमे भेद—

तीसरा उत्तर यह है कि कार्य-कारणके नियम और कर्मके सिद्धान्तमें जहा समानता है वहां उस समानताके साथ एक भिन्नता भी है । कार्य-कारणका नियम भौतिक-जगत्का नियम है, आग-पानी-हवाका नियम है, कर्मका नियम आध्यात्मिक-जगत्का नियम है, उस जगत्का नियम है जहा 'चेतना' नामकी पच-तत्त्वोसे भिन्न सत्ता काम करने लगती है । भौतिक-जगत् स्वतत्र जगत् नहीं है, दूसरे किसीके अधीन है । यह दूसरा कौन है ? कोई कहता है, परमात्मा है, कोई कहता है 'नियम' (Law) है—परन्तु जो-कुछ हो, भौतिक-जगत् स्वतन्त्र नहीं है, परमात्मा मानो तो भी, न

मानो तो भी, यह कार्य-कारणके महान् नियमके अधीन है, उससे इधर-उधर नहीं हो सकता। आत्म-तत्त्वके साथ यह बात नही है। आत्म-तत्त्व भौतिक पदार्थोंसे एक भिन्न तत्त्व है। वर्तमान विज्ञान इसे 'आत्म-तत्त्व' न कहकर 'चेतना' (Consciousness) कहता है। 'चेतना' कहनेपर भी जो बात हम कह रहे है उसमें फर्क नहीं पड़ता। हम इतना ही कहना चाहते है कि 'आत्म-तत्त्व'में—'चेतना'में—स्वतन्त्रताकी अनुभूति प्रत्येक व्यक्तिको होती है। इसमें सन्देह नहीं कि मै चारो तरफसे बधा हुआ हूं, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि मै अनुभव करता हूं कि मै इन बन्धनोमेंसे निकल भी सकता हू। कौन नहीं अनुभव करता कि ये बन्धन मेरे स्वाभाविक बन्धन नहीं है। जब हम किसी रोगीको देखते है तब पूछते हैं—तुम रोगी क्यो हो? स्वस्थ व्यक्तिको देखकर तो कोई नहीं पूछता, तुम स्वस्थ क्यो हो? अस्वस्थ व्यक्ति हर समय स्वस्थ बननेके लिये प्रयत्न करता ही रहता है, भले ही स्वास्थ्यके पीछे भागता-भागता वह मर ही जाय। बन्धनोको तोड़नेके लिये, रुग्णतासे नीरोग होनेके लिये, दु.खोकी उलझनोको काटकर सुखके लिये 'चेतना' की यह भाग-दौड़ क्या सिद्ध करती है? क्या यह सिद्ध करती है कि हम बन्धनोमेंसे निकल ही नही सकते, या यह सिद्ध करती है कि बन्धनोमेंसे निकलनेके लिये ही हम पैदा हुए हैं। हर प्राणी, हर बन्धनको तोड़नेके लिये, हर समय झटका दिया करता है, स्वतन्त्र होना चाहता है, बन्धनोंसे मुक्त होना चाहता है, बंधे रहना नहीं चाहता, बन्धनको देखकर जिस किसी उपायसे, सफल हो, असफल हो, उसे काटा करता है। इससे क्या यह पता नहीं चलता कि बंधनोमें बंधे रहना नहीं, कार्य-कारणमें उलझे रहना नहीं, इस उलझनमेंसे निकल जाना उसका स्वभाव है। पानी गर्म कर दें, तो पड़े-पडे वह ठंडा हो जाता है। क्यो हो जाता है? क्योकि शीत पानीका स्वभाव है। महान्-से-महान् दु खमें पड़ा व्यक्ति भी, स्त्री-पुत्रके वियोगसे

पागल हो जानेवाला भी कुछ देरके बाद फिर हसने-खेलने लगता है। क्यों ऐसा होता है ? क्योंकि 'आत्म-तत्त्व'--'चेतना'—सदा बन्धनोंसे निकलने की दिशाकी तरफ जा रही है, वह बध नही रही, मुक्त हो रही है--धीरे-धीरे परन्तु कितने ही धीरे हो, यह कर्मोका अनन्त-कालका रास्ता उसे मोक्षकी तरफ, सच्चिदानन्दकी तरफ ले जा रहा है। मनुष्यमें ही नहीं, पशु-पक्षीतकमें वन्धनसे निकल जानेकी एक प्रवल भावना है। आग-पानी-हवामें, भौतिक-जगत्के किसी तत्त्वमें तो ऐसा नहीं। वे तो कार्य-कारणके नियमसे ऐसे जकडे हुए हैं कि करोडो वर्षोंसे इधर-से-उधर नही हिले, उनकी विशेषता ही उनका कार्य-कारणके नियममें बधे रहना है। परन्तु मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतगे ? ये जवसे सृष्टिमें आये तभीसे उस अनन्त सच्चिदानन्दकी तरफ मुह उठाये आगे-ही-आगे बढे जा रहे हैं, उसकी खोज कर रहे हैं, हर वन्धनसे विद्रोह कर रहे हैं, इनके गलेमें कर्मोंके वड़े-बडे मजवूत रस्से पडे हैं, परन्तु उन रस्सोको तोडनेके लिये ये लगातार झटके-पर-झटके दिया करते हैं। इस सबका कारण क्या है ? इसका कारण यही है कि यद्यपि 'आत्म-तत्त्व'—'चेतना'—बन्धनमें है, तथापि इसका स्वभाव बन्धनमें पड़े रहनेका नहीं है। यह बन्धनमें आया है बन्धनमेंसे निकलनेके लिये, कर्ममें फंसा है कर्मको काटनेके लिये, कार्य-कारणमें उलझा है कार्य-कारण-की गाठको खोलकर उससे नहीं, परन्तु उसमेंसे, स्वतत्र हो जानेके लिये।

'कार्य-कारण' तथा 'कर्म' के नियममें यही भेद है। 'कर्म', इसमें सन्देह नहीं, 'कार्य-कारण' का ही नियम है, परन्तु भेद यह है कि 'कार्य-कारण' जड़-जगत्का, 'कर्म' चेतन-जगत्का नियम है, 'कार्य-कारण' अन्धा नियम है, 'कर्म' सुजाखा नियम है, 'कार्य-कारण' प्रकृतिका नियम है, 'कर्म' आत्म-तत्त्वका नियम है, प्रकृतिका स्वभाव ही 'कार्य-कारण'के अटल नियममें जकडे रहनेका है, आत्म-तत्त्वका स्वभाव ही बन्धनसे निकलनेका, कर्मों-

की भारी-भारी बेड़ियो और हथकडियोको काट देनेका है। अगर आत्म-तत्त्व एक स्वतन्त्र तत्त्व न होता, अगर पच-महाभूतोकी ही यह उपज होता, तब प्रकृतिकी तरह यह भी कार्य-कारणकी बेडियोमें जकडा रहता, तब जो हो रहा है वह अवश्यंभावी होता। हा, तब हम अगला-पिछला जन्म न मानते, यही जन्म मानते, परन्तु केवल इस जन्मको मानते हुए भी हमें कार्य-कारणकी अवश्यभाविता अवश्य माननी पडती। आर्य-सस्कृति ऐसा नहीं मानती। उसकी दृष्टिमें आत्म-तत्त्व प्रकृतिसे एक भिन्न तत्त्व है। यह जबतक प्रकृतिके साथ अपनेको एक किये बैठा है तबतक कार्य-कारणकी उलझनमें पडा हुआ है, जहां इसने अपने स्वरूपको पहचाना, वहीं यह कार्य-कारणके बन्धनसे साफ निकलकर बाहर आ खडा होता है। इसीको कर्मका सिद्धान्त कहा जाता है—आत्मा कर्म करनेमें स्वतन्त्र है—यह कहा जाता है।

तो फिर क्या स्थिति हुई? क्या 'क्रियमाण'-कर्म अवश्यभावी है, जन्म-जन्मान्तरके चक्रके परिणाम है, या स्वतंत्र—इस जन्ममें एकदम नये—भी हो सकते हैं? आर्य-संस्कृतिकी जिस विचारधाराका हमने अभी उल्लेख किया उसके अनुसार ये दोनो हो सकते हैं। कर्म, कार्य-कारणका ही एक रूप है, इसलिये हमारे 'क्रियमाण'-कर्म, वे कर्म जिन्हें हम इस जन्ममें, इस समय कर रहे है, पिछले कर्मोंका भी फल हो सकते हैं, कार्य-कारणकी शृखलामें एक कडी ही हो सकते हैं, और क्योकि आत्म-तत्त्वकी नीव ही स्वतन्त्रतापर खडी है, इसलिये ये 'क्रियमाण'-कर्म आत्म-तत्त्वके इस जन्मके सर्वथा स्वतन्त्र कर्म भी हो सकते है। इन्हें पिछले जन्मोका फल या इस जन्मके स्वतन्त्र कर्म माननेसे कार्य-कारणके नियममें कोई त्रुटि नहीं आती।

कर्मके सिद्धान्तको माननेमें सबसे बडी निराशाकी बात यह आ पडती है कि हम अपनेको स्वतत्र कर्म करनेमें, पुरुषार्थ करनेमें अशक्त पाते हैं,

सब-कुछ दैव, भाग्य समझने लगते हैं। आर्य-संस्कृतिका कहना है कि 'आत्म-तत्त्व'के यथार्थ-स्वरूपको समझ लेनेसे यह निराशा जाती रहती है। 'आत्म-तत्त्व' कर्मोंसे बंधा है, कार्य-कारणके इधर-उधर नहीं जा सकता—यह बात ठीक है, परन्तु यह बात भी उतनी ही ठीक है कि इसमें स्वतंत्र कार्य करनेकी उग्र भावना भी अन्तर्निहित है। आत्म-तत्त्वका यह स्वतंत्र कर्तृत्व हम सबको दीखता है, इसे किसी युक्तिसे सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। अगर स्वतंत्र कार्य करनेकी भावना भी कर्मोंका फल है, कार्य-कारणके नियमका ही परिणाम है, तब तो यह विवाद एक शब्दाडंबर-मात्र रह जाता है। हमारा काम तो इतनेसे ही चल जाता है कि जीव बंधा ही बंधा न रहे, स्वतंत्र भी काम कर सके, भाग्यकी डोरसे ही लटका न रहकर पुरुषार्थ भी कर सके।

कार्य-कारणके नियमके पीछे चलते हुए कर्मके सिद्धान्तको जन्म देनेवाली आर्य-संस्कृति कर्मके सिद्धान्तसे इतनी परास्त नहीं हुई थी कि वह आत्म-तत्त्वकी स्वतंत्र-क्रिया-शक्तिको भूल जाती। कर्मका सिद्धान्त जहां आर्य-संस्कृतिका मूल-तत्त्व है वहां आत्माके स्वतन्त्र-कर्तृत्व—'स्वतंत्र कर्ता'—का सिद्धान्त भी उसका उतना ही बड़ा मूल-तत्त्व है। हम बंधे हैं, परन्तु बन्धन काट सकते हैं; उलझे हैं परन्तु उलझनमें से निकल सकते हैं; कर्मके चक्करमें आ पड़े हैं परन्तु इस चक्करमेंसे बाहर भी आ सकते हैं; हम परतन्त्र हैं, कर्मके अधीन हैं, परन्तु स्वतन्त्र भी हैं, कर्मके स्वामी भी हैं। प्रश्न यही है कि यह कैसे ?

यह इस प्रकार। 'क्रियमाण'-कर्मके विषयमें ही तो हमें निश्चय करना है कि यह पिछले कर्मोंका ही परिणाम है, या इस जन्मका ही नया कर्म है ? 'क्रियमाण'-कर्म दो तरहका हो सकता है—'वैयक्तिक' या 'सामाजिक'। 'वैयक्तिक' वह जिसका हमारे निजके साथ संबंध है, दूसरोंके साथ कोई सम्बन्ध

नहीं। हम खाते हैं, पीते हैं, चलते हैं, फिरते हैं। भूख लगी, खाना खा लिया, प्यास लगी, पानी पी लिया। इन कर्मोंमें भी 'अवश्यभाविता' और 'चक्र' है, परन्तु वे हमारे लिये कर्मोंकी कोई समस्या नहीं खडी करते। भूख लगनेपर खायेंगे तो तृप्ति अवश्य होगी, पेट अवश्य भरेगा, भरकर पेट काम करेगा, भोजन पच जायगा, फिर भूख लगेगी—यह अवश्यंभाविता है, और इसके साथ तृप्ति और भूखका चक्र भी चल पडेगा। परन्तु कर्मके सिद्धान्तकी जो उलझन है, वह यह नहीं है। उलझन कहां आती है? उलझन आती है उन कर्मोंमें जिन्हें 'सामाजिक' कहा जा सकता है। 'सामाजिक'-कर्मोंसे हमारा अभिप्राय उन कर्मोंसे है, जो करते तो हम हैं, परन्तु उनका संबंध हमारे निजसे होता हुआ भी दूसरोंसे भी कम नहीं होता। हमने किसीको क्रोधमें आकर मार डाला, पकड़े जानेपर साफ झूठ बोल दिया, इन्कार कर दिया, किसीके घर डाका डाला या सेंध लगायी, दुराचार किया—ये सब बातें करते तो हम हैं, परन्तु इनका सम्बन्ध दूसरोंसे होता है—समाजसे होता है। कर्मोंके सिद्धान्तकी जटिलता इन्हीं 'सामाजिक'-कर्मोंके सम्बन्धमें है, और यह जटिलता यही है कि ये कर्म अगर कार्य-कारणकी शृंखलाके परिणाम है, अगर 'अवश्यभावी' हैं और एक 'चक्र'को उत्पन्न कर रहे हैं, तो पाप-पुण्य क्या रहा? पाप तो पाप तब हो सकता है, और इसी प्रकार पुण्य पुण्य तब कहा जा सकता है, जब वह जान-बूझकर, अपनी इच्छासे किया जाय। जो काम होना ही है, हम चाहें, न चाहें, पिछले कर्मोंके जोरसे होना है, वह न पाप हो सकता है, न पुण्य हो सकता है, वह तो टल ही नहीं सकता, उसमें तो हमारा कोई वस ही नहीं है।

असली समस्या, पारमार्थिक नहीं लौकिक समस्या, वह समस्या जिसका व्यावहारिक रूपमें हम सबको सामना करना पडता है, यह है कि हम जो सामाजिक कर्म करते हैं—किसीको मार दिया, किसीको लूट लिया,

किसीकी स्त्री भगा ली—ये हमारे हाथकी बातें हैं, या ये टल ही नहीं सकतीं? समस्याके इस बिन्दुपर पहुंचनेपर आर्य-संस्कृतिका कहना था कि 'कर्म' कार्य-कारणके नियमकी तरह एक अन्धा नियम नहीं है। यह ईंट-पत्थरका, अचेतनका नियम नहीं, चेतनका नियम है। दीवारपर ईंट फेंकी जायगी तो यह अवश्य दीवारसे टकरायेगी, किसी मनुष्यपर फेंकी जायगी तो वह एक ही स्थानपर खड़ा रहकर चोट भी खा सकता है, एक तरफको हटकर चोटसे बच भी सकता है। खडा रहकर दीवारकी तरह व्यवहार करेगा, तो अचेतनकी तरह व्यवहार करेगा, एक तरफको हट जायगा, तो चेतनकी तरह व्यवहार करेगा—खडा रहेगा तो 'अवश्यभाविता' और 'चक्र' में फंस जायगा, हट जायगा तो इन दोनोंमेंसे निकल जायगा।

कर्म-चक्रका कारण 'आवेग' है—

इस बातको अभी और अधिक समझनेकी जरूरत है। हम कर्मके चक्रमें क्यो पडते है? हमने किसीकी कोई चीज चुरा ली, उसने हमें पकड़ लिया, उसे क्रोध आया, उसने हमें थप्पड़ मारा, हमने बदलेमें मारा, उसे और क्रोध आया—चक्र चलता गया, चलता गया। प्रश्न यह है कि क्या हम इस 'अवश्यंभाविता' और 'चक्र'को कहींपर काट भी सकते हैं, या नहीं? आर्य-सस्कृतिकी विचार-धारा यह है कि हम इसे शुरूमें भी काट सकते थे, बीचमें भी काट सकते हैं, अन्तमें भी काट सकते हैं, जब चाहें इस चक्रमेंसे निकल सकते हैं, इसलिये निकल सकते है क्योंकि हम ईंट-पत्थर नहीं, चेतन प्राणी है, प्रकृति-तत्त्व नहीं, आत्म-तत्त्व है, स्वतन्त्रता आत्म-तत्त्वका जन्म-सिद्ध गुण है, जबतक हम अपने आत्म-तत्त्वको भूले हुए है तभीतक हम इस उलझनमें फसे हैं। यह चक्र चला कैसे? हमने किसीकी चीज चुराई थी। अगर हम लोभ न करते, दूसरेकी चीज न चुराते, तो यह

चक्र कैसे चलता ? चुरानेपर जब उसने हमें मारा तब हम क्रोधमें आ
प्रतिक्रिया न करते, अपने अपराधको स्वीकार कर लेते, तो यह चक्र
चलता ? चलते-चलते किसी क्षण भी हम क्रोध छोड़ सकते थे, अपना अप
स्वीकार कर सकते थे। इसका अर्थ यही है कि किसी समय भी हम कर
'अवश्यंभाविता' और 'चक्र'मेंसे निकल सकते थे। यह कहना कि जिस स
हमने पहले-पहल चीज चुरायी थी उस समय ही हम चोरी करने-न-क
में स्वतंत्र नहीं थे, क्योंकि लेखेके अनुसार हमें चोरी करनी ही थी,
विधिका विधान था, टल नहीं सकता था—यह कहनेके समान है
'आत्म-तत्त्व' आत्म-तत्त्व नहीं है, ईंट-पत्थर है। यह तो हम देखते
अनुभव करते हैं कि क्रोध हमें आता है, हम चाहें तो क्रोधको दबा भी स
हैं, लालच हमें पराभूत कर देता है, हम चाहें तो लालचको जीत
सकते हैं, बदलेकी भावना सिरपर सवार हो जाती है, हम चाहें तो
भावनासे ऊपर भी उठ सकते हैं, काममें आदमी पागल हो जाता
सोच-समझसे चले तो कामके वेगको शान्त भी कर देता है। इस बात
खूब अच्छी तरहसे समझ लेनेकी जरूरत है कि कर्मके चक्रके चल पडने
कारण भौतिक नहीं, आध्यात्मिक हैं। काम-क्रोध-लोभ-मोह—इन भौति
नहीं, किन्तु आध्यात्मिक कारणोंसे हम कर्मके चक्रको चलने देते हैं। असं
प्राणियोंका कितना ही कर्मका चक्र है जो सिर्फ काम-वासनाको का
न रखनेके कारण चल रहा है। लाखों-करोड़ों प्राणियोंके कर्म-चक्रके पी
क्रोध है, लोभ है, या मोह है। कर्म-चक्रके चलनेमें ये आध्यात्मि
अर्थात् शरीरसे नहीं अपितु मन तथा आत्मसे सबन्ध रखनेव
कारण हैं, और इसलिये कर्म-चक्रमेंसे निकलनेके आध्यात्मिक ही उप
हैं। आर्य-संस्कृतिका मूल-तत्त्व यह था कि काम-क्रोध-लोभ-मोह आ
मानसिक विकारोंपर विजय पा लिया जाय तो कर्मका बन्धन, उसका च

अपने-आप कटकर गिर जाता है, और इनपर विजय पाना अपने हाथमें है।

भोग-योनि तथा कर्म-योनि—

काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि मनके आवेग है। इनके वशमें पड जानेसे कर्मका चक्र चल पडता है, इन्हें अपने वशमें कर लेनेसे चक्र टूट जाता है। परन्तु इन्हें वशमें कर लेना भी तो कोई हसी-खेल नहीं। अधिक अवस्था तो ऐसी ही होती है जिसमें हम इनके वशमें रहते है। इस समस्याको सुलझाने-के लिये आर्य-विचारकोने 'भोग-योनि' और 'कर्म-योनि'के सिद्धान्तकी कल्पना की थी। आत्म-तत्त्वके विकासकी एक अवस्था तो वह है जिसमें हम इन मनोवेगोमेंसे बचकर निकल ही नही सकते, कार्य-कारणके अटल नियमकी तरह इनके घात-प्रतिघातोमें थपेडे खाते ही रहते है। यह अवस्था 'भोग-योनि' कहाती है। इसमें हम कर्म करनेमें स्वतन्त्र नही। जो कर्म है, अवश्यंभावी है। कर्म कौन से ? वही—काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्स-रता आदि मनोवेगोंद्वारा प्रेरित कर्म। पशु-योनि भोग-योनि है। इस योनिमें कर्मका सिद्धान्त बिलकुल कार्य-कारणके भौतिक-नियमकी तरह अटल कार्य करता है। ये योनिया अनन्त है। अनन्त इसलिये है क्योकि कार्य-कारणके नियमके अनुसार चलते हुए काम, क्रोध, लोभ मोहका अन्तमें अवश्यभावी परिणाम क्या हो सकता है—यह पाठ आत्म-तत्त्वमें पूरी तरहसे बैठ जाय, समा जाय, किसीके कहने-सुननेसे नहीं, अपने अनुभव-से उसमें रच जाय कि ये मार्ग एक ऐसे चक्रको चला देते है जिसका कहीं अन्त नहीं—इस पाठको इन योनियोमें जा-जाकर अनुभवद्वारा हृदयंगम करनेके लिये ये योनियां अनन्त है। मनुष्य-जन्म कर्म-योनि है। कर्म-योनि इसलिये क्योकि इस योनिमें कर्म आत्म-तत्त्वको कार्य-कारणके अटल नियम-की तरह नहीं चिपटता। भोग-योनियोमेंसे गुजरनेके बाद आत्म-तत्त्वपर यह अमिट छाप तो पड चुकी होती है कि कर्मके बन्धनोमेंसे निकलनेका रास्ता

काम-क्रोध-लोभ-मोह, आत्मतत्त्वके इन बन्धनोको काट देना है। मनुष्यकी इस कर्म-योनिमें आकर हमारे हाथमें वह शस्त्र आ जाता है जिससे हम कर्मके बन्धनोंको, अर्थात् कर्मकी 'अवश्यंभाविता' और 'चक्र'को काट सकते हैं, परन्तु हम इसका लाभ उठाते है या नहीं, यह दूसरी बात है। जो मनुष्य मनुष्य-जन्मको एक दुर्लभ अवसर समझते है, वे इसका लाभ उठाते हैं, जो इस अवसरको खो देते है, वे चौरासी लाख योनियोमें फिरसे यह सीखने-के लिये चल देते है कि काम-क्रोध आदिके वशमें पड़े रहनेका परिणाम क्या होता है! यह बात ठीक है कि इन योनियोमें जाकर इस बातका ज्ञान नहीं होता कि किस कारणका कौन-सा फल मिल रहा है, न मनुष्य-जन्ममें-ही पता होता है कि किस कर्मका क्या परिणाम है—परन्तु इससे कर्मके सिद्धान्तमें कोई बाधा नही पहुंचती। कर्मकी पाठशालामेंसे आत्म-तत्त्व एक बहुत लम्बे रास्तेको तय करता हुआ गुजर रहा है। इस लम्बे रास्तेमें यह जो अनुभव प्राप्त करता है वे इसकी 'अवचेतना' (Sub-conscious self) के हिस्से होते जाते हैं। आजका मनोविश्लेषणवाद कहता है कि हमारी सब प्रेरणाओका मूल-स्रोत यही 'अवचेतन'-मन है। भिन्न-भिन्न जन्मोके अनुभव—उनकी अप्रत्यक्ष स्मृति—आत्म-तत्त्वके इसी 'अव-चेतन' का निर्माण करते चले जाते है। हम भिन्न-भिन्न योनियोमें काम-क्रोध-लोभ-मोह आदिके जिन अनुभवोमेंसे गुजरते है, वे अनुभव हमारी 'अवचेतना'के हिस्से होते चले जाते हैं, और हमारी 'चेतना'को काम-क्रोध आदिके बुरे परिणामोके—किस कारणका कौन-सा कार्य है—यह जाननेकी आवश्यकता नहीं रहती, उन परिणामोका स्वाभाविक ज्ञान हमारी 'अवचेतना'का अंग बन जाता है और वही 'अवचेतना' हमारे बिना जाने हमारी 'चेतना'को प्रेरित किया करती है।

हां, तो हम कह रहे थे कि भोग-योनिमें कार्य-कारणका नियम काम करता।

है, कर्म-योनिमें कर्मका सिद्धांत। भोग-योनिमें आत्म-तत्त्व कर्म करनेमें स्वतंत्र नहीं होता, कर्म-योनिमें स्वतंत्र होता है। कर्मका सिद्धांत मूलतः भोग-योनिका नहीं, कर्म-योनिका सिद्धांत है। इस सिद्धांतकी आत्मा यह नहीं है कि हम कर्मोंके बन्धनोंसे बंधे हुए हैं, इस सिद्धांतकी आत्मा यह है कि यद्यपि हम पिछले जन्म-जन्मान्तरके कर्मोंके अथाह बोझको लिये खड़े हैं तब भी आत्मा अपने निजी रूपमें कर्म करनेमें स्वतंत्र है, और यह स्वतन्त्रता का अवसर इसे मनुष्य-जन्ममें ही मिलता है। मनुष्य-जन्म कर्म-भूमि है। इस एक जन्ममें इतना सामर्थ्य है कि हम पिछले सभी जन्मोंके 'संचित' कर्मोंको इस जन्मके 'क्रियमाण'-कर्मसे बदल सकते हैं। आखिर, असली कर्म तो 'क्रियमाण'-कर्म ही है। जिन कर्मोंको हम 'संचित' कहते हैं वे भी तो किसी समय किये ही जा रहे थे—'क्रियमाण' ही थे। यह नहीं माना जा सकता कि हरेक कर्म किसी-न-किसी पिछले कर्मका परिणाम है। अगर ऐसा माना जाय तब तो शुरू-शुरूका सिर्फ एक कर्म रह जाता है। उस एक कर्मसे—अगर किसी तरह हम अपने उस पहले जन्मको पकड़ पायें जो संभव नहीं है—यह सारा सिलसिला चल पड़ा—यह असंभव है। कर्मोंकी समस्याका हल तभी निकलता है जब हम यह मानें कि हरेक कर्म पिछलेका परिणाम तो है, परन्तु उसमें इस जन्मका नयापन भी अवश्य है, अगर नयापन न होता, तो आगे-आगेके कर्मों और कर्मोंके फलोंमें भेद क्यों होता? यह नयापन आत्म-तत्त्वकी अन्तर्निष्ठ स्वतन्त्रताके कारण है, यह नयापन ही कर्मके सिद्धांतकी अन्तरात्मा है। आत्माकी कर्म करनेकी इस स्वतंत्रताके आधारपर ही, बिल्कुल नया कर्म करनेकी, पिछले किसी कार्य-कारणके बंधन से न बंधे हुए कर्म करनेकी आत्म-तत्त्वकी सामर्थ्यके सहारे ही आत्मा कर्मोंके चक्रमेंसे, विधिके विधानमेंसे निकल सकता है, जन्म-जन्मान्तरोंकी माथेपर पड़ी लकीरोंको मिटा सकता है।

कर्म-चक्र कट सकता है—

कर्मका चक्र कैसे चल पड़ता है, और यह चक्र कैसे कट भी जाता है, यह कुछ उदाहरणोंसे स्पष्ट हो जायगा। हम बैठे एक लेख लिख रहे हैं, बडी तन्मयताके साथ, दत्त-चित्त होकर। इतनेमें पत्नीने आकर पुकारा, चलो घूम आयें। हम झुंझला उठे, क्रोधमें भर गये—इसलिये कि उसे इतना भी ख़याल नहीं कि ऐसे समय जब विचारोंकी धारा एक खास दिशामें बह रही है तब बीचमें उस शृंखलाको न तोड़े। हमने कहा, चुप रहो, काम करने दो। हमारे क्रोधको देखकर उसे क्रोध आया—क्योंकि मानसिक-उद्वेग छूत की बीमारीकी तरह दूसरेके उद्वेगसे वेग ग्रहण कर लेता है। क्रोधको देखकर क्रोध बढता है, भयको देखकर भय बढ़ता है, कामको देखकर काम बढ़ता है, लालचको देखकर लालच बढता है। उसने कहा, चुप कैसे रहूं, घूमने का वक्त हो गया है, चलना होगा। हमने लिखना छोड़ दिया, अकड़कर बैठ गये, कह दिया, नहीं चलते—बस, तू-तू, मैं-मैंका सिलसिला चल पडा, पति-पत्नीमें लडाई हो गयी, घंटों वे एक-दूसरेसे नहीं बोले। यह एक छोटे-से कर्म-चक्रका दृष्टांत है। ऐसे चक्र हमारे जीवनमें रोज चला करते हैं, परन्तु हम जब चाहें ये कट भी सकते हैं। अगर जब हमें काम छोडकर घूमने चलनेको कहा गया था तब हम चल पड़ते तो यह तू-तू, मैं-मैंका सिलसिला न चलता, अगर शांतिसे कह देते, अच्छा, दो-चार मिनटमें चलता हूं, तब भी मामला आगे न बढता। चक्रको चलने देना, न चलने देना अपने हाथमें था। हर व्यक्तिके जीवनमें, हर रोज, मानसिक-आवेगोंसे, कर्मके ऐसे छोटे-से चक्र बना ही करते हैं, आवेगोंमेंसे निकलकर काम करना अपने ही हाथमें होता है, परन्तु हम जरा-जरा-सी बातमें लडा करते हैं, झगडा करते हैं, एक-दूसरेसे उलझा करते हैं, और कर्मका चक्र लम्बा होते-होते कभी-कभी बहुत बडा हो

जाता है। पिछले दिनो अखबारोमें पढा कि दो आनेके लेन-देनपर खून हो गया। एक मोचीसे किसीने जूता ठीक कराया। मोचीने चार आने मागे, देनेवालेने दो आने दिये। देकर वह चल दिया, मोचीने उसे पकड़ लिया। झगड़ा हो गया, झगडा बढते-बढते हाथापाई होने लगी, ग्राहकने मोचीका गला दबोच लिया, मोचीने उसका गला दबोचनेकी कोशिश की। ग्राहकने क्रोधके आवेशमें चाकू निकाला और मोचीके पेटमें खोप दिया, वह चिल्लाया और देखते-देखते चल बसा। कितनी छोटी-सी बात थी, कितना भयकर परिणाम निकला। इस घटनापर बडे-बडे विचारक मग़जपच्ची कर सकते हैं। हो सकता है, यह सब पिछले जन्मका नाटक इस जन्ममें खेला जा रहा हो। इस जन्मका मरनेवाला पिछले जन्मका मारनेवाला हो, इस जन्मका मारनेवाला पिछले जन्मका मरनेवाला हो। इस जन्ममें तो यह दो आनेका पहली बारका लेन-देन था, फिर इतनी भयंकर घटना किसी इतने ही भयकर कारणके बिना कैसे हो गयी? परन्तु फिर प्रश्न होगा, अगर ऐसी भयकर घटना इस जन्ममें पहली बार नहीं हो सकती, तो पिछले जन्ममें पहली बार कैसे हुई होगी? अगर यह माना जाय कि पिछलेसे पिछले जन्ममें हुई होगी, तब तो पीछे-ही-पीछे चलते चल जाना होगा। अगर इससे समस्या हल नहीं होती तब कहीं कोई जन्म तो मानना ही पडेगा, जब ऐसी कोई भयकर घटना इन दोनोके जीवनमें पहली बार हुई होगी। अगर पिछले किसी जन्ममें पहली बार ऐसी घटना हो सकती है, तो इस जन्ममें भी पहली बार हो सकती है। समस्या यह नहीं है कि यह घटना कब हुई, इस जन्ममें पहली बार हुई, या पिछले किसी जन्ममें पहली बार हुई। यह तो स्पष्ट है कि इस जन्ममें, या पिछले किसी जन्ममें यह अवश्य पहली बार हुई, और जैसे पहली बार हुई, वैसे इसे पहली बारमें समाप्त भी किया जा सकता था। हमारी व्यावहारिक समस्या यह है कि अगर यह घटना कर्मोंकी पिछली किसी शृखलाकी

कडी है, तो क्या इस शृंखलाको किसी समय आगे बढ़नेसे रोका जा सकता था, पीछे नहीं रोका गया तो क्या अब रोका जा सकता है, और अगर रोका जा सकता है, तो कैसे ? क्या यह चक्र अटल है, अमिट है, हम इसे तोड नहीं सकते, या यह टल सकता है ! अगर नहीं टल सकता तो हमारा सब कर्म निरर्थक है, टल सकता है, तभी कर्मकी सार्थकता है । ये सब गुत्थिया वर्तमान घटनाका विश्लेषण करने पर स्वय खुलने लगती है। घटना क्या थी ? मोचीने चार आने मागे, ग्राहकने दो आने दिये । अगर मोची दो आने लेकर चुप हो जाता, या ग्राहक चार ही आने दे देता, तब मामला आगे कैसे बढ़ता ? मोची दो आने लेकर चुप नही रहा, ग्राहक चार आने देनेपर राजी नहीं हुआ । क्यो ? इसलिये कि दोनो अपने-आपेको भूल गये, बुद्धिसे काम लेनेके स्थानमें मानसिक-आवेगोसे काम लेने लगे । उनके आत्म-तत्त्वपर क्रोध छा गया, लोभ छा गया, पैसेको दातसे पकड़नेकी भावना छा गयी । अगर वे दोनो जरा सोच-समझसे काम लेते, तो मामला आगे बढ ही नही सकता था । जीव भोग-योनिमें परतन्त्र है, कर्म-योनिमें तो स्वतत्र है—चाह उस स्वतत्रताका उपयोग करे या न करे । मोची और जूता गठवाने-वाला—दोनो भोग-योनिके जीवोका-सा बरतने लगे, कार्य-कारणके थपेडे खाने लगे, कर्म-योनिके जीवका-सा नहीं बरते, कार्य-कारणमेंसे निकलकर कर्मके सिद्धातसे नही चले । परन्तु क्या चल नहीं सकते थे ? सारा प्रश्न तो मानसिक उद्वेगोमेंसे निकलनका था । मनुष्य-जन्म दिया ही इसलिये गया है कि मनुष्य सोच-समझसे काम ले, अपने स्वतन्त्र-कर्तृत्वको जगाये, मनके आवेगोमें अन्धा होकर न चले । अगर उन दोनोमेंसे कोई एक भी क्रोध न करता, तो कर्मका यह चक्र—चाहे जन्म-जन्मान्तरसे, पीछेसे, चला आ रहा हो, या इस जन्ममें पहली बार आगेके लिये बनने जा रहा हो—एकदम टूट जाता। कर्मके चक्रका सारा प्रश्न मानसिक-उद्वेगोमेंसे

निकलनेका, काम-क्रोध-लोभ-मोहको जीतने का प्रश्न है। इसमेंसे मनुष्य निकला नहीं, और कर्म-चक्र टूटा नहीं।

महात्मा गांधीने इसी परीक्षणको एक विस्तृत क्षेत्रमें घटानेका प्रयत्न किया था। हमारी तथा अंग्रेज जातिके पारस्परिक कर्मोंका लेना-देना देरसे चला आ रहा था। वे भारतमें लूट मचा रहे थे, भारत विद्रोह कर रहा था। अंग्रेजोंने जो कुछ किया उसकी प्रतिक्रियामें १८५७ में गदर हुआ। हमारा क्रोध बढ़ा, उनका और ज्यादा बढ़ा। क्रिया-प्रतिक्रिया चलती चली जा रही थी, कर्मका चक्र कहीं टूटता न था। इस बीच महात्मा गांधीने एक नवीन विचारधाराको जन्म दिया। हम विद्रोह करें, परन्तु ऐसा विद्रोह करें जिससे प्रतिक्रिया उत्पन्न न हो, कर्मका चक्र न चले। प्रतिक्रियाका आधार तो मानसिक-उद्वेग है। काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि के आवेशमें जो कार्य किया जायगा उसीकी तो प्रतिक्रिया होगी। हम क्रोध में किसीको मारेंगे, वही बदला लेनेके लिये अपना हाथ उठायेगा, प्रेम की चपतपर कौन थप्पड़का जवाब थप्पड़से देता है? १९१९ में अमृतसर में जलियानवाला बागकी दुर्घटना हुई, निहत्थोंको डायरने गोलियोंसे भून दिया। देशमें बदलेकी भावना वेगसे उठ खड़ी हुई। लोग क्रोधमें पागल हो गये। अगर फिर पत्थरका जवाब पत्थरसे दिया जाता तो कर्म-चक्र फिर आगे चल पड़ता। परन्तु ठीक इस समय महात्मा गांधीने कर्म-चक्रको काटनेका एक नया उपाय देशके सामने रखा। उन्होंने भी विद्रोह किया, परन्तु जिसके प्रति विद्रोह किया उसके प्रति वैर-भावको नहीं उत्पन्न होने दिया। काम कामको उत्पन्न करता है, क्रोध क्रोधको उत्पन्न करता है, लोभ लोभको उत्पन्न करता है, मोह मोहको उत्पन्न करता है—इसीसे चक्र चलता है। सकामताके सामने निष्कामता खड़ी हो जाय, क्रोधके सामने अक्रोध खड़ा हो जाय, लोभके सामने अपरिग्रह और त्याग खड़ा हो जाय, मोहके सामने

वैराग्य खडा हो जाय, तो चक्र आप-से-आप टूट जाता है, अगला सिलसि
वनने ही नहीं पाता । महात्मा गाधीके सत्यके लिये आग्रह—'सत्याग्र
या असत्यसे अलग रहना—'असहयोग'—इस विधि-निषेधात्मक आन्दो
का यही रहस्य है । हिंसा एक ऐसा कर्म है जो अगले कर्मको उत्पन्न कर दे
है, सिलसिलको बढा देता है, अहिंसा ऐसा कर्म है जो कर्मके शैतान
आतकी तरह एकके बाद निकलनेवाले दूसरे और दूसरेके बाद तीसरे क
को शुरू-शुरूमें ही काट डालता है । तभी तो संसारमें युद्धसे युद्ध न रुक
न रुक रहा है, न रुक सकेगा—यह सिलसिलेको बढानेका रास्ता है
महात्मा गांधीकी इस विचारधारा के विश्व-भरमें प्रवाहित होने
आर्य-सस्कृतिके इसी दृष्टिकोणसे सोचने से युद्ध रुक सकते है । आ
सस्कृतिकी विचार-धारा है—'अक्रोधेन जयेत् क्रोध असाधुं साधु
जयेत् । जयेत् कदर्यं दानेन सत्येनालीकवादिनम् ।'

आवेगोंसे कर्मोंका बन्धन चलता है, आवेग ही कर्म-चक्रके मूल-स्र
है । इस चक्रमेंसे निकलनेका रास्ता आवेगोंमेंसे निकल जाना है । उ
मनुष्यको अन्धा बना देता है, उसके स्वतंत्र-कर्तृत्वको उससे छीन लेता
उस समय आत्म-तत्त्व स्वय कुछ नहीं करता, परिस्थितिया उसे नचाती
कार्य-कारणकी शृखलामें उसकी छीछालेदर होती है । उद्वेगके पीछे भो
योनिके जीव चलते है । कर्म-योनिका उद्देश्य मानसिक-उद्वेग, काम-क्रो
आदिमेंसे निकलकर तर्कके, बुद्धिके, सोच-समझके क्षेत्रमें आ जाना है, अ
शक्तियोंके थपेड़े खानेके स्थानमें मनचाहा ससार बनाना है । भोग-योनि
कर्म कार्य-कारणके नियमके अनुसार चलता है । उस योनिमें जो होगा अट
नियमानुसार होगा । उस योनिमें कर्मके प्रेरक कारण काम-क्रोध-लोभ
मोह है, 'मानसिक-उद्वेग' (Emotions) है । भोग-योनिमें मान
सिक-उद्वेगोंसे धकेला हुआ प्राणी काम करता है । उस समय आत्म-तत्

अपनेको कर्म करनेमें स्वतंत्र अनुभव नहीं करता, वह जो करता है इसलिये करता है, क्योंकि उससे भिन्न कर ही नहीं सकता, इस योनिमें काम-क्रोध कर्मों के ही अवश्यभावी परिणाम है, इनपर विजय नही पाया जा सकता। कर्म-योनिमें ऐसा नहीं है। इस योनिमें 'मानसिक-उद्वेग' भी कर्मके प्रेरक कारण हो सकते है, प्राणी मानसिक-उद्वेगोको मसल भी सकता है, बुद्धिसे, तर्कसे, सोच-समझ (Reason) से भी काम कर सकता है। इस समय कर्ताके सामने दो रास्ते हर समय खुले रहते है । एक रास्ता तो वह है जो कार्य-कारणका अवश्यंभावी परिणाम है, जो रास्ता भोग-योनिमें चल रहा है। परन्तु कर्म-योनिमें एक दूसरा रास्ता भी हर समय खुला है । इस योनिमें, आत्म-तत्त्व, अपने अन्तर्निहित स्वतत्र-कर्तृत्वके कारण कार्य-कारणकी शृखलाको तोडकर, मानसिक-उद्वेगोके पीछे चलनेके स्थानमें उन्हे बुद्धि तथा तर्कके पीछे चलाकर, एक बिलकुल नये रास्तेको भी पकड़ सकता है। कई मनुष्य मनुष्य होते हुए भी भोग-योनिके रास्तेपर ही चलते है। काम-क्रोध आदिमें अन्धे हो जाते है, अपने स्वतत्र-कर्म करनेके सामर्थ्य का प्रयोग नहीं करते, परन्तु मनुष्य वही है जो आत्म-तत्त्वके स्वतन्त्र-कर्तृत्व-का प्रयोग करे, बुद्धि और तर्ककी आंखोसे आगे-पीछे देखता हुआ कर्मके चक्रमें बधनेके स्थानमें उसमेंसे निकलनेका प्रयत्न करे। ऐसा प्रयत्न करनेका सामर्थ्य अन्य किसी जन्ममें प्राप्त नहीं होता, केवल मनुष्य-जन्ममें प्राप्त होता है। मनुष्य-जन्ममें भी सामर्थ्य-भर प्राप्त होता है, यह मनुष्यकी इच्छापर निर्भर है कि वह इस सामर्थ्यका उपयोग करे, या न करे। जो उपयोग करता है वह क्रोधका बदला क्रोधसे नहीं लेता, वह क्रोधके बदलेमें शान्तिका स्रोत बहा देता है, घृणाका उत्तर घृणासे नहीं देता, घृणाकी प्रति-क्रियामें प्रेमकी रागिनी अलापने लगता है, मानसिक-उद्वेगोमें उलझनेके स्थानमें इनमेंसे निकल जाता है । आर्य-सस्कृतिकी घोषणा है कि कर्मकी

गांठोको खोलनका, कर्मके दुर्गम व्यूहमेंसे निकलनेका यही असली रास्ता है।

प्रश्न यह रह जाता है कि काम-क्रोध आदि मानसिक-उद्वेगोको हम जीत सकते हैं या नहीं? कहीं ये पिछले जन्मके ही अमिट बन्धन तो नहीं! आर्य-संस्कृतिके पास इस प्रश्नका उत्तर यही है कि भोग-योनिमें तो मानसिक-उद्वेग काय-कारणके नियमानुसार चलते हैं, परन्तु कर्म-योनिमें संचालन कर्मके सिद्धान्तसे होता है। हम चाहे इनको दबा दें, चाहे न दबायें, चाहे सच बोलें, चाहे झूठ बोलें—इस योनिमें आकर जीव कर्म करनेमें स्वतत्र हो जाता है। और, क्या हम इस बातको अपने जीवनमें देखते नहीं? हम क्रोधमें हैं—क्या क्रोध एक ऐसा आवेग है जिससे हम अपने को छुडा नहीं सकते? ऐसी कोई बात नहीं है। क्रोधके समय हम क्रोधका विश्लेषण करने लगें—क्यो क्रोध आया, क्या यह ठीक है या गलत—इन बातोपर सोचने लगें तो क्रोध एकदम काफूर हो जाता है। प्रत्येक मानसिक-उद्वेगकी यही अवस्था है। मानसिक विकारके बादल आत्म तत्त्वपर तभीतक छाये रहते ह जबतक हम बुद्धिके प्रकाशसे उन्हें छिन्न-भिन्न नहीं कर देते। जहा बुद्धिकी आखसे देखा वहीं उद्वेग समाप्त हो जाता है। काम-क्रोध आदिमें अन्धापन इन उद्वेगोका सहचारी गुण है। जहा बुद्धि या तर्ककी आख खुली वहीं मनुष्यको अन्धा बनानेवाले ये मानसिक-विकार समाप्त हो जाते हैं। कर्म-योनिमें तर्क है, भोग-योनिमें नहीं। कर्म-योनिमें तर्ककी सत्ता सिद्ध करती है कि काम-क्रोध पिछले जन्मके अमिट बन्धन नही, कट सकनेवाले बन्धन हैं, और इसीलिये आर्य-सस्कृतिके सभी शास्त्र एक-स्वर होकर, एक ही पुकारसे मनुष्यको जगा रहे हैं—'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत'—उठो, जागो, ज्ञानी पुरुषोके चरणोमें जाकर आत्म-तत्त्वको पहचानो—क्योकि जिस घुमरघेरीमें हम आ पड़े हैं उसमेंसे मनुष्य-जन्ममें ही निकला जा सकता है, दूसरे किसी जन्ममें नहीं।

[५]

आत्म-तत्त्व

आत्म-तत्त्व एक यथार्थ-सत्ता है—

हम नदीके तटपर खडे हैं। जलकी असीम राशि एक तरफसे आती है, दूसरी तरफ निकल जाती है। यह असीम जल-राशि कहासे आती है, कहां चली जाती है—इसे हम नहीं देख पाते। परन्तु क्या नदीका प्रवाह सिर्फ उतना है जितना हमारी दृष्टिके सामने है? नही, जितना हमें दीख रहा है वह उस जल-प्रवाहका सौवां हिस्सा भी नहीं जो पीछेसे आ रहा है, आगे बढ़ा जा रहा है। जीवन-रूपी नदीके इस विशाल प्रवाहमें हम एक बिन्दुपर खडे हैं। यह जीवनका प्रवाह इस बिन्दुके पीछे कहासे आता है और इसके आगे कहां चला जाता है—इसे हम नहीं देख पाते। परन्तु नहीं देख पाते, तो क्या हमारा जीवन सिर्फ वह बिन्दु है जो हमें दीख रहा है? क्या इस बिन्दुके पीछे जीवनका कोई प्रवाह नहीं बह रहा? क्या इस बिन्दुपरसे निकलकर जहां हम खड़े हैं यह वहांसे आगे नहीं चला जा रहा? कितनी अस्वाभाविक-सी बात मालूम पडती है। साठ-सत्तर-अस्सी बरस हम इस जीवनमें बिताते हैं। यह जीवनका स्रोत जब हम जन्मे तभी फूटा, और जब हम कूचका डका बजाते चल दिये

तब यहीं सूख गया—यह कैसे हो सकता है ? ये साठ-सत्तर-अस्सी बरस क्या एक खेल है ? यह सब गोरखधंधा क्या है ? हम संसारमें आये। क्यों आये ? क्या रज-वीर्यके सयोगमात्रसे हम पैदा हो गये, क्या इतने मात्रसे एक सिकन्दर बन गया, नैपोलियन बन गया, शंकराचार्य बन गया, दयानन्द बन गया, गांधी बन गया, दूसरा जन्मसे ही कोढ़ी बन गया, अंधा बन गया, अपाहिज बन गया। हमने जीवनमें कई काम कर डाले, कुछ पूरे हुए, कुछ अधूरे रहे। इन अधूरोंको छोडकर हम चल दिये, बैठे-बैठे हमें बुलावा आ गया। क्या इन कामोमें हाथ डालनेका एक हंसी-खेलके सिवा कोई मतलब नहीं था ?—ये प्रश्न हैं जिनकी तरफ प्रत्येक व्यक्तिका बरबस ध्यान जाता है, हमारा ही नहीं, जबसे मनुष्य-समाजने चिन्तन शुरू किया, तबसे मनुष्यको ये प्रश्न व्याकुल करते रहे, और वह इनका हल ढूंढ़ता रहा। आर्य-सस्कृतिके विचारकोंने इन प्रश्नोकी बहुत गहरी मीमासा की थी। वे इस परिणामपर पहुचे थे कि जिस प्रकार नदीका प्रवाह पीछेसे आता है, आगे चला जाता है, सामने जो-कुछ है वह असलका बहुत थोडा-सा हिस्सा है, इसी प्रकार जीवन-रूपी नदीका प्रवाह पीछेसे आ रहा है, आगे बढ़ा जा रहा है। यह जीवन जो हमारे सामने है, वह असल जीवनका एक अत्यन्त छोटा-सा हिस्सा है। हमारी सत्ताका एक बहुत बड़ा हिस्सा पीछे है, और एक बहुत बडा हिस्सा ही आगे है। वर्तमान तो इस महान् जीवन-प्रवाहमें एक छोटा-सा बिन्दु है। हम पिछले प्रवाहको लेकर आते है, इस जीवनके प्रवाहको अगले प्रवाहमे मिला देते हैं। आज यहा हमारे सामने जो-कुछ है, पौधेकी तरह फूट रहा है, उसका बीज पिछले प्रवाहमें पडा हुआ है, और आज जो बीज इस प्रवाहमें पड रहा है, उसका अकुर अगले प्रवाहमें फूटनेवाला है। यह जीवन एक खेल नही, तमाशा नहीं, रज-वीर्यका संयोग-मात्र नही। यह किसी महान् व्यवस्थाका अग है। रज-वीर्यका संयोग होना तो जरूरी

है, परन्तु इतनेमात्रसे नैपोलियन और सिकन्दर हो जाते, दयानन्द और गाधी हो जाते, तो आयेदिन इनकी वहार होती। पहाडो, घाटियो और मैदानोमें जैसे नदीका प्रवाह वहता जाता है, वैसे भिन्न-भिन्न जन्मोमें जीवन का प्रवाह वह रहा है–वही प्रवाह जो पहाड़पर था मैदानमें वह रहा है, वही जीवन जो एक जन्ममें था दूसरे जन्मोमें बढता जाता है। नदीके पाट नदी नहीं, पाटोमें वह रहा जलका प्रवाह नदी है, इसी प्रकार हमारे ये भिन्न-भिन्न शरीर जीवन नहीं, इन शरीर-रूपी पाटोमें पीछेसे आ रहा और आगे बढा जा रहा प्रवाह ही जीवन है, यही आत्म-तत्त्व है।

आर्य-सस्कृतिके विचारकोका कहना था कि आत्म-तत्त्व एक यथार्थ सत्ता है, वैसी ही यथार्थ-सत्ता जैसी इस शरीरकी यथार्थ-सत्ता है। यह भी है, वह भी है। शरीर आत्म-तत्त्व नहीं, आत्म-तत्त्व शरीर नही। दोनो एक-दूसरेसे भिन्न है। जैसे यह जीवन सिद्ध करता है कि पिछला और अगला जीवन है, वर्तमान, बिना भूत और भविष्यत्के हो नहीं सकता, वैसे इस शरीरका होना भी सिद्ध करता है कि शरीरके अतिरिक्त कोई आत्म-तत्त्व है, ऐसा तत्त्व जिसके बग़ैर यह शरीर टिक ही नहीं सकता। किसी मकानमें बिस्तर बिछा हो, तो क्या समझा जायगा? क्या यह समझा जायगा कि बिस्तरके सोनेके लिये बिस्तर बिछा है, बिस्तर बिस्तरपर सोता है, या यह समझा जायगा कि किसी आदमीके सोनेके लिये बिस्तर बिछा है? शरीर भी एक प्रकारका बिस्तर नहीं तो क्या है? शरीरके लिये ही शरीर नहीं हो सकता। बिस्तर तो किसीके लिये है, उसके लिये जो बिस्तरसे अलग है, बिस्तरका इस्तेमाल कर सकता है। शरीर भी किसी दूसरेके लिये है, किसी ऐसेके लिये जो शरीरसे अलग है, और शरीरका इस्तेमाल कर सकता है। जो शरीर नहीं, शरीरसे अलग है, जिसके लिये शरीर है, जो शरीर के लिये नहीं, वही आत्म-तत्त्व है।

आत्म-तत्त्व तथा शरीरका संबंध---

आत्म-तत्त्व शरीरसे अलग ही हो, और इन दोनोका आपसका कोई सम्बन्ध न हो, ऐसी बात भी नही है। इन दोनोका एक खास सम्बन्ध है, और वह सम्बन्ध वही है जो दीखता है। बडे-छोटे, अमीर-गरीब, अच्छे-बुरे सबको दीखता है कि शरीर आत्माके भोगका साधन है। आत्मा और शरीरका वास्तविक सम्बन्ध भोक्ता और भोग्यका, कर्ता और कर्मका, साधक और साधनका संबंध है। इन दोनोके इस सम्बन्धको युक्तियोसे सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं, यह सम्बन्ध स्वभाव-सिद्ध है। मनुष्य ही मकानमें रह सकता है, मकान मनुष्यमें नही रह सकता, चेतन ही जडका उपभोग कर सकता है, जड चेतनका उपभोग नहीं कर सकता, शरीर ही आत्माका साधन हो सकता है, आत्मा शरीरका साधन नहीं हो सकता। असल बात तो यही है, परन्तु फिर भी व्यवहारमें ऐसा नहीं दीखता। हम शरीरको साधन समझकर नहीं चलते, शरीरको ही सब-कुछ समझकर चलते हैं। शरीर दु खी हो तो हम दु खी, शरीर सुखी हो तो हम सुखी, शरीरको ही हम सब-कुछ मानकर अपना सारा व्यवहार चलाते हैं---इसका क्या कारण है? अगर आत्म-तत्त्व है, और अगर शरीर ही आत्म-तत्त्व नहीं, तो शरीरके दु खी होनेसे हम क्यों अनुभव करते हैं कि सारा दु ख हमीं पर आ पड़ा, सुखी होनेसे क्यो अनुभव करते है कि अब हमें और किसी चीजकी आवश्यकता नहीं।

इस व्यावहारिक समस्याका उत्तर हमारे व्यवहारसे ही मिल जाता है। मैं मकान बनाता हू, मोटर खरीदता हूं, बाग लगाता हूं, मुझे यह स्पष्ट अनुभव है कि मैं मकानके लिये नहीं हूं, मकान मेरे लिये है, मैं मोटरके लिये नहीं हू, मोटर मेरे लिये है, मैं बगीचेके लिये नहीं हू, बगीचा मेरे लिये है।

परन्तु क्या हम नहीं देखते कि मकान हाथसे खो जानेपर मनुष्य अपनेको खो बैठता है, मोटर छिन जानेपर वह अपनेको छिना-सा अनुभव करने लगता है, बगीचा उजड जानेपर वह उजडा-उजडा फिरता है। अगर हम अपनेको मकानसे, मोटरसे, बगीचेसे अलग अनुभव करें, तो इनके बननेसे हम अपनेको बनता-सा, इनके बिगडनेसे अपनेको बिगडता-सा न मानने लगें। ये चीजें हमसे अलग है, हमसे भिन्न है—इसे मूर्ख-से-मूर्ख व्यक्ति भी जानता है, परन्तु जानता हुआ भी अपनेको इनमें इतना खो देता है कि इन वस्तुओंको 'मैं' समझकर ही वह दुनियाँमें चलता-फिरता है। ठीक इसी तरह यह शरीर 'मैं' नहीं हूं, यह शरीर मेरा मकान है, मेरा साधन है, मेरा भोग्य है। वह 'मैं', जो असलमें 'मैं' है, इस शरीरसे ठीक इसी तरह अलग है जैसे यह शरीर मकानसे, बाग-बगीचेसे अलग है। और, जैसे मैंने, मकान-बाग-बगीचेसे अपनेको भिन्न जानते हुए भी अभिन्न बना रखा है, वैसे शरीरमें रहनेवाले आत्माने शरीरसे भिन्न होते हुए भी अपनेको शरीरसे अभिन्न बना रखा है। आर्य-संस्कृति ठीक इस बिन्दुपर आकर समस्याकी उलझनको पकड़ लेती है। शरीर आत्मा नहीं है, शरीर आत्माका साधन है, आत्मा शरीरका भोक्ता है, शरीर रथ है, आत्मा उसका रथी है—'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु'—यथार्थ सत्य यही है, परन्तु आत्म-तत्त्व शरीरमें अपनेको खोये दे रहा है, स्वयं रथ और शरीर को रथी समझ रहा है, शरीरके लिये अपनेको मिटाये दे रहा है, सिर ऊंचा करनेके स्थानमें झुका जा रहा है,—ठीक इसी जगह इस कमजोरीको निकाल देनेकी, गलतीको पकड़ लेनेकी आवश्यकता है। आत्म-तत्त्वने जहां अपनेको शरीरके सामने झुकाया, वहीं आर्य-संस्कृतिने उंगली उठाकर रख दी, और कह दिया कि हमारे जीवनकी दिशामें ग़लतीका श्रीगणेश यहींसे हो रहा है।

आत्म-तत्त्वका स्वरूप—

उपनिषद्‌ने ठीक कहा है—जिसके बिना आंखें देख नही सकतीं, जिसकी आख साधन है, जो आखोद्वारा देखता है, वही आत्मा है; जिसके विना कान सुन नहीं सकते, जिसके कान साधन हैं, जो कानोद्वारा सुनता है, वही आत्मा है; जिसके बिना नासिका सूघ नहीं सकती, जिसके लिये नासिका साधन है, जो नासिकाद्वारा सूंघता है, वही आत्मा है; जिसके विना मुख रस नहीं ले सकता, जिसका मुख साधन है, जो मुखद्वारा रस लेता है, वही आत्मा है; जिसके बिना त्वचा स्पर्श नहीं कर सकती, जिसकी त्वचा साधन है, जो त्वचाद्वारा स्पर्श करता है, वही आत्मा है; जिसके बिना मन मनन नहीं कर सकता, जिसका मन साधन है, जो मनद्वारा सोच-विचार करता है, वही आत्मा है। आत्मा भोक्ता है, कर्ता है, द्रष्टा है, श्रोता है, घ्राता है, रसयिता है, स्पर्ष्टा है, मन्ता है। आत्मा भोक्ता है, परन्तु जव संसारके भोगोमें लीन होने लगता है, उन भोगोसे अपनेको अलग नहीं कर सकता, तभी भोग्य वन जाता है। ससारको भोगते हुए भोगोके वन्धनमें न पड़ना भोक्ता वने रहना है, भोगनेपर भोगमें अपनेको खो देना भोग्य वन जाना है। आत्मा कर्ता है, परन्तु जव संसारके कामोमें वह इस तरह जुट जाता है कि उनसे अपनेको जुदा कर ही नहीं सकता, काम-धन्धे आत्माको दवा लेते है, तभी वह कर्म वन जाता है। ससारके काम करते हुए इतना करना कि वे काम हमारे गलेमें जजीर वनकर न पड़ जाय, कर्ता वने रहना है, काम करते हुए काममें फस जाना कर्म वन जाना है। आत्मा द्रष्टा है, परन्तु जव संसारके दृश्योमें रमकर अपनेको भूल जाता है, तव दृश्य वन जाता है। जवतक इन दृश्योमें रमते हुए भी अपनेको नहीं भुलाता, तभीतक वह द्रष्टा

हैं। आत्मा श्रोता है, परन्तु जब ससारके मधुर स्वरोके रसमें अपनेको खो देता है, तब श्रव्य बन जाता है । जबतक शब्द-रसका आनन्द लेते हुए भी अपनेको खो नहीं देता तभीतक वह श्रोता है। आत्मा घ्राता है, परन्तु जब ससारके गधोमें यह मस्त हो जाता है, गन्धके सिवा इसे कुछ नहीं सूझता, तब घ्राता के स्थानपर घ्राव्य बन जाता है, तब ससार मानो इसे सूघने लगता है। जबतक गन्ध लेता हुआ भी उसमें बेसुध नहीं होता, तभीतक वह घ्राता है। आत्मा रसयिता है, परन्तु जब ससारके रसोमें यह बह जाता है, तब स्वय रस बन जाता है, तब ससार मानो इसे चखने लगता है । जबतक रस लेता हुआ भी रसमें बहता नहीं तभीतक वह रसयिता है। आत्मा स्पर्ष्टा है, परन्तु जब संसारके कोमल-कोमल स्पर्शोंका मजा लेनेमें यह इतना लीन हो जाता है कि स्पर्शके सिवा इसे कुछ अच्छा नहीं लगता, तब स्पृश्य बन जाता है, संसार मानो इसके स्पर्शका मजा लूटने लगता है । जबतक स्पर्श करता हुआ भी स्पर्शमें धस नहीं जाता, तभीतक वह स्पर्ष्टा है । आत्मा मन्ता है, परन्तु ससारकी तरफ खींचनेवाले विचारोमें जब यह खिचा चला जाता है, तब स्वयं मननका विषय बन जाता है, तब मानो संसार उसका मनन करने लगता है, और सोचता है कि यह क्या तत्त्व है जो कर्त्ता बनकर आया था, कर्म बन गया, द्रष्टा बनकर आया था, दृश्य बन गया, श्रोता बनकर आया था, श्रव्य बन गया, घ्राता बनकर आया था, घ्राय्य बन गया, रसयिता बनकर आया था, रस बन गया, स्पर्ष्टा बनकर आया था, स्पृश्य बन गया, मन्ता बनकर आया था, मननका विषय बन गया। उपनिषदोमें जहा-तहा बिखरी हुई आर्य-सस्कृतिका सदेश है—हम भोक्ता है, भोग्य बने हुए है; कर्ता है, कर्म बने हुए है; द्रष्टा है, दृश्य बने हुए है, श्रोता है, श्रव्य बने हुए है; घ्राता है, घ्राय्य बने हुए है; रसयिता है,

रस बने हुए हैं ; स्पर्ष्टा है, स्पृश्य बने हुए हैं; मन्ता है, मनन का विषय बने हुए हैं; रथी है, रथ बने हुए हैं ; स्वामी है, भृत्य बने हुए हैं ; राजा है, रंक बने हुए हैं—आत्म-तत्त्वके अपने स्वरूपमें उद्‌बुद्ध होनेकी आवश्यकता है।

आत्म-तत्त्वका विशेष गुण—'तद्रूपता' तथा 'पृथक्-रूपता'—

आत्म-तत्त्व अपन स्वरूपको प्रकृतिमें क्यों खो देता है ? इसलिये ,क्योंकि 'तद्रूपता' इसका स्वभाव है। जिसके साथ यह मिलकर चलता है उसीको 'मैं' समझने लगता है। यह शरीर 'मैं' नहीं है परन्तु शरीरके सम्पर्कमें आकर आत्मा शरीरको, शरीरकी इन्द्रियोंको 'मैं' पुकारने लगता है। सांख्य-दर्शनने विश्व-रचनाकी मीमासा करते हुए बतलाया है कि पहले प्रकृति थी, फिर प्रकृतिसे महत्-तत्त्व, महत्-तत्त्वसे अहंकार-तत्त्व, अहंकार-तत्त्वसे सम्पूर्ण ब्रह्माडकी रचना हुई। हमारे व्यक्तित्वमें जो अहंता है, वह आत्माकी नहीं, प्रकृतिकी है। आत्मा जब इस अहताके सम्पर्कमें आता है, तो तदाकार हो जाता है, क्योंकि विषयके साथ 'तद्रूपता' इसका स्वाभाविक गुण है। इसी भावको गीतामें—'प्रकृते. क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वश। अहकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'—'प्रकृतिके अहंकार-तत्त्वके साथ मिल जानेके कारण प्रकृतिके जो धर्म हैं उन्हे आत्मा अपने धर्म समझने लगता है'—यह कहा है। प्रकृतिके साथ मिले विना आत्म-तत्त्वका विकास नहीं हो सकता इसलिये वह प्रकृतिका सहारा लेता है। आत्म तत्त्वका विकास इसी प्रकार हो सकता है, इसके विना नहीं। आत्मा प्रकृतिका सहारा ले, परन्तु अपनेको प्रकृति न समझने लगे—इसी मार्गसे आत्माकी शक्ति उद्बुद्ध हो सकती है, नहीं तो यह अपनी सारी शक्तिको खो बैठता है। हम देखते नहीं कि काम-क्रोध-लोभ-मोहके वेगमें हम इतने बह जाते

है जैसे आत्मापर इनकी आधी आ चढे, इनसे हम ऐसे दव जाते है जैसे हम इनके सिवा कुछ नहीं ? परन्तु क्या आत्म-तत्त्वका यही स्वरूप है ? जिस समय मेरे शरीरका तार-तार क्रोधमें कांप रहा होता है, मै आपेसे वाहर हो जाता हू, तव क्या इस प्रकारका भयानक रूप आत्मा धारण कर लेता है ? ऐसी वात नहीं है। क्रोधकी अवस्थामें आत्मतत्त्व नही, अहकार-तत्त्व क्रोधके आवेशमें भरा होता है, और क्योकि आत्म-तत्त्वका स्वभाव विषयके साथ तद्रूप हो जानेका है, इसलिये एसा प्रतीत होने लगता है कि आत्म-तत्त्वमें भूचाल आ गया, उथल-पुथल मच गयी । दूसरेको क्रोधमें देखकर हम दो प्रकारकी प्रतिक्रियाएं कर सकते हैं। एक प्रतिक्रिया तो यह है कि जैसे वह क्रुद्ध होकर हाथ-पैर पटक रहा है वैसे हम भी हाथ-पैर पटकने लगे, अट-सट बकने लगें, दूसरी प्रतिक्रिया यह है कि हम उसकी हरकतको देखकर उसके साथ तद्रूप न हो जाय, द्रष्टाकी भाति उसे देखकर टाल भर जायं। ठीक इसी तरह जव हमारे अपने भीतर क्रोधकी उथल-पुथल मच रही हो, तव भी तो हमारा आत्म-तत्त्व दोनो प्रकारकी प्रतिक्रियाए कर सकता है । एक प्रतिक्रिया तो यह है कि अहकार-तत्त्वमें लबालब भर रहे क्रोधके साथ आत्म-तत्त्व तदाकार हो जाय, तद्रूप हो जाय। सहज, स्वाभाविक प्रतिक्रिया यही है। दूसरी प्रतिक्रिया यह भी हो सकती है कि अपनेसे जरा पीछे हटकर, अहकारसे अपनी तद्रूपता और तदाकारता हटाकर, द्रष्टा बनकर आत्म तत्त्व अपने अहकार-तत्त्वमें भर रहे क्रोधको देखने लगे—स्वयं 'द्रष्टा' बनकर इस 'दृश्य'को देखे । जब आत्म-तत्त्व इस प्रकार देखने लगेगा उसी समय क्रोध शान्त हो जायगा क्योकि क्रोध 'आत्म-तत्त्व'में नहीं, 'अहकार-तत्त्व'में था। क्रोध ही क्या, जितने भी मानसिक-वेग है, सब-के-सब, आत्म-तत्त्वके तद्रूपता और तदा-

कारताके स्वभावके कारण उसमें दीख पड़ते हैं। आत्म-तत्त्वके विकासके लिये उसका ऐसा स्वभाव होना आवश्यक है। तभी तो प्रकृतिके स्थानमें जब वह सृष्टिके परम-तत्त्वके सम्पर्कमें आता है तब वह उस परमात्म-तत्त्वके गुणोके साथ अपनी तद्रूपता स्थापित कर लेता है। योग-शास्त्रने इसी भावको प्रकट करते हुए कहा है कि जैसे स्फटिक-मणिके सामने फूल हो तो उसमें फूलका प्रतिबिम्ब पडता है, वैसे आत्माके सामने प्रकृति हो तो उसमें प्रकृतिका, परमात्मा हो तो परमात्माका प्रतिबिम्ब पडता है, उससे तद्रूपता हो जाती है। परन्तु तद्रूपताके स्वभावका यह अभिप्राय नहीं कि आत्म-तत्त्व विषयके तद्रूप ही हो सकता है, उससे अपनेको अलग नहीं कर सकता। जैसे तद्रूप होना उसका स्वभाव है, वैसे विषयसे अपनेको अलग कर लेनेकी भी उसमें सामर्थ्य है। अभी हमने देखा कि क्रोधके हम तद्रूप हो जाते हैं परन्तु क्रोधसे अपनेको अलग करके, द्रष्टा बनकर, उस क्रोधकी अवस्थाका विश्लेषण भी कर सकते हैं, 'क्रुद्ध-मैं' को दृश्य बनाकर 'आत्म-तत्त्व' के द्रष्टाकी हैसियतसे भी हम देख सकते हैं। जब कोई क्रोधमें भर रहा हो, हम उसे कहते हैं, अपनेसे ऊपर उठो, तब हम ऐसा क्यो कहते हैं? उस समय हम आत्मा-अनात्माके भेदको स्पष्ट देख रहे होते हैं, हम देख रहे होते है कि 'मैं' जो क्रोध कर रहा हू, लोभ कर रहा हू, मोह कर रहा हू, वह वास्तवमें 'मैं' नहीं हूं, 'मैं'ने गलतीसे अनात्माको आत्मा समझा हुआ है, जो 'मैं' नहीं हूं, उसे 'मैं' समझा हुआ है, नहीं तो कोई क्यो कहे, अपनेसे ऊपर उठ, अपने स्वरूपको पहचान! आत्म-तत्त्वमें दोनो बातें है—'तद्रूपता' और 'पृथक्-रूपता'। जब प्रकृतिके साथ वह तद्रूपता स्थापित करता है तब प्रकृतिके साथ एक हो जाता है, उसमें इतना घुल-मिल जाता है कि अपने स्वरूपको खो बैठता है। परन्तु उसमें पृथक्-रूपताकी भी तो सामर्थ्य है।

प्रकृतिमें रहते हुए ही जब उससे वह अपनी पृथक्ता स्थापित कर लेता है तब उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है । आत्मा कर्ता है, भोक्ता है, द्रष्टा है—यह सब-कुछ वह तभी है जब प्रकृतिमें रहता हुआ वह तद्रूप और तदाकार न हो जाय, प्रकृतिमें अपनेको खो न दे, प्रकृतिको अपना साधन समझे, और इसे साधन समझकर जो चाहे इसका उपयोग करे, ऐसा न हो कि 'प्रकृति', या प्रकृतिका पुत्र 'अहंकार-तत्त्व' आत्म तत्त्वका उपभोग करने लगे । इस एक विचारमें आर्य-संस्कृतिका मूल निहित है ।

आत्म-तत्त्वकी शक्ति—

आत्म-तत्त्व अपने स्वरूपमें आकर इसमें निहित जो महान् शक्ति है उसे जाग्रत् करता है। जैसे पाचो महाभूत जडके समान है, परन्तु उनमें कितनी असीम शक्ति भरी हुई है ? पृथिवी बेकार पडी है, परन्तु इसमें कितनी शक्ति है, इसमें बीज डालकर क्या-क्या नहीं पैदा किया जा सकता ? जलकी असीम राशि यूं ही बहती रहती है, परन्तु उसीसे विद्युत् उत्पन्न की जाती है। अग्निमें छिपी शक्तिसे रेल, जहाज, तोप, बन्दूक चलते है। देखनेको ये महाभूत कितने निर्जीव दीखते है, परन्तु इनकी शक्तिका आविर्भाव करनेसे वे कितने सजीव हो जाते है । ठीक ऐसे, आत्म-तत्त्व असीम शक्तिका भंडार है । वह सारी शक्ति इसमें ऐसे ही छिपी बैठी है जैसे पृथिवी-अप्-तेज-वायु-आकाशकी शक्ति । आत्म तत्त्वमें असीम शक्ति है—इतना कह देने-मात्रसे वह शक्ति नहीं जग उठती, उस शक्तिके विकासके साधन करने होगे, तभी वह शक्ति जाग्रत् होगी, अन्यथा आत्म-तत्त्व भी प्रकृति-तत्त्वके समान जडवत्, अशक्त बना रहेगा । वह शक्ति भौतिक शक्ति नहीं होगी । आत्म-तत्त्वकी शक्तिके विकाससे बिजली, भाप, उडने आदिकी बातें नहीं पैदा होगी । भौतिक-

पदार्थ भौतिक-शक्ति उत्पन्न करेंगे, तो आध्यात्मिक-तत्त्व आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न करेंगे। आत्म-तत्त्वकी शक्तिके विकासका रूप क्य होगा ? उसके विकाससे अनेकताके स्थानमें एकता, स्वार्थके स्थानमें परार्थ, द्वेषके स्थानमें प्रेम एव अशातिके स्थानमें शाति पैदा होगी। ये तत्त्व प्रकृतिमेंसे नहीं आत्म-तत्त्वमेंसे निकलते है। आखिर, जाने-अनजाने, हम इन्हींको लक्ष्य बनाकर ही तो चल रहे हैं। हम युद्धकी बात करते हैं तब भी कहते हम यही है कि हमारा लक्ष्य ऐसी लडाई लडना है जिससे आगे किसी लड़ाईकी सभावना ही न रहेगी। आर्य-सस्कृतिका डकेकी चोट कहना यह है कि आत्म तत्त्वके विकासके बिना मानव-समाज उस लक्ष्यतक नहीं पहुच सकता जिधर जानेके लिये यह हाथ-पाव पटक रहा है, क्योंकि एकता, शक्ति, विश्व-बन्धुत्व आदि जिन तत्त्वोंकी खोजमें मनुष्य भटक रहा है उनका स्रोत बाहर नहीं, भीतर है, प्रकृतिमें नहीं, आत्मामें है, आत्मा ही इन तत्त्वोके लिये शक्तिका भडार है।

जो लोग कहते है कि आत्म-तत्त्व प्रकृतिको छोडकर, प्रकृतिसे हटकर अपने यथार्थ विकासके मार्गपर चलेगा, वे गलत कहते है। आर्य-सस्कृतिका कहना यह नहीं है। आर्य-सस्कृतिका कहना यह है कि प्रकृतिको छोडकर आत्म-तत्त्व एक कदम आगे नहीं बढ सकता। अपने विकासके लिये आत्म-तत्त्व प्रकृतिका सहारा लेकर ही चल सकता है। गलती सिर्फ इस बातमें हो जाती है कि जो सहारा है, वह सहारा ही नहो बना रहता, धीरे-धीरे वही मुख्य स्थान ग्रहण करने लगता है। आर्य सस्कृति आत्म-विकासको इस गलत रास्तेपर जानेसे बचा लेती है।

पाच कोशोद्वारा आत्म-तत्त्वका विकास—

आत्म-तत्त्व और प्रकृति-तत्त्वका मेल न होता तो ससारका विकास ही न

हो पाता। जितना विकास है, जितनी गति है, आत्म-तत्त्वके कारण है। स्वयं प्रकृति तो जड है, जड़में अपने भीतरसे ही तो गति नहीं उत्पन्न हो सकती। अगर जडमें स्वाभाविक गति हो, बाहरसे किसीने दी न हो, तो वह एक ही दिशामें चलती चली जायगी, वह रुक ही नहीं सकती, न जिस दिशा में जा रही है उससे किसी भिन्न दिशामें जा सकेगी। जैसे प्रकृति अपनेसे अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्वके बिना गति नहीं कर सकती, वैसे आत्म-तत्त्व भी प्रकृतिके बिना विकासके मार्गपर नही चल सकता। चलेगा तो प्रकृतिके द्वारा चलेगा, प्रकृतिको माध्यम बनाकर चलेगा। आत्म-तत्त्व अपनेको प्रकृतिद्वारा ही प्रकट कर सकता है, और किसी तरह नहीं, इसलिये प्रकृति को छोड़नेसे उसका काम नहीं चल सकता। जब आत्म-तत्त्व प्रकृतिको माध्यम बनाकर अपने स्वरूपको प्रकट करनेका प्रयास करता है तब सृष्टि विकासके मार्गपर चल पडती है, ऐसे ही जैसे रेलका एजिन जब गाडीके डब्बोंके साथ जुड़कर चलने लगता है तब सारी रेलगाडी एजिनकी चालसे चलने लगती है। आत्माके विकासकी इस प्रक्रियामें सबसे पहली अवस्था तब आती है जब जड-जगत्में किसी भी स्थानपर चेतनताका आविर्भाव हो जाता है। यह चेतनता क्या है? यह आत्म-तत्त्वका, प्रकृति-तत्त्वको माध्यम बनाकर, अपनेको प्रकट करनेका प्रयत्न है, इसीका नाम 'देह'-का उत्पन्न हो जाना है। जितना अन्नमय जगत् है, उद्भिज जगत्, वृक्ष-लता-ओषधि-वनस्पति—ये सब इस दृष्टिसे आत्म-तत्त्वके प्रथम विकास है, और इतने अंशतक जीवित हैं जितने अंशतक प्राण न लेनेपर भी उगने-बढने-फूलने-फलनेवाले देहको जीवित कहा जा सकता है। इनमें भोजनका आदान-प्रदान, जीना-बढना-मरना पाया जाता है, परन्तु आत्म-तत्त्वका यह विकास अत्यन्त प्रारंभिक, अत्यन्त निम्न-स्तरका विकास है क्योंकि इसमें अभी प्राणका विकास नहीं हुआ होता। इस विकासके बाद, प्रकृतिको

माध्यम बनाकर, आत्म-तत्त्वके विकासकी दूसरी अवस्था वह आती है जब देहमें 'प्राण'का विकास हो जाता है। यह अवस्था वृक्ष-लता-ओषधि में नहीं, कीट-पतंग-पशुमें पायी जाती है। इनमें आत्म-तत्त्वका विकास वृक्ष आदिकी तरह देहतक न रुककर प्राणतक चला गया है। यह आत्म-तत्त्वके विकासकी द्वितीय अवस्था है, परन्तु यह भी निम्न अवस्था है। इसके बाद आत्म-तत्त्व और जोर मारता है, और वेग पकडता है, और जब वह वेग प्रबल हो जाता है, तब 'मन' प्रकट होता है, यह आत्म-तत्त्वके विकासकी, अपनेको प्रकट करनेकी तीसरी अवस्था है। यह अवस्था मनुष्यमें दिखायी देती है। वर्तमान युगके महान् विचारक श्रीअरविंदका कहना था कि विकासोन्मुखी आत्म-तत्त्व अभीतक इस तीसरी अवस्था तक ही पहुंचा है, अभी चौथी अवस्था और आनेवाली है। जैसे आत्म-तत्त्वके अभीतकके विकासमें 'देह' प्रकट हुआ, फिर 'प्राण' प्रकट हुआ, फिर 'मानस' प्रकट हुआ, वैसे अब चौथा तत्त्व 'अतिमानस' प्रकट होगा। सृष्टिमें देहका प्रकट होना एक महान् घटना थी, उसके बाद जब प्राण प्रकट हुआ तब दूसरी महान् घटना घटी, फिर जब मानस प्रकटा तब तीसरी महान् घटना घटी, और अब जब 'अतिमानस' प्रकट होगा तब तो आत्म-तत्त्वके विकासमें महानतम घटना घटेगी। श्रीअरविन्दका कहना था कि जैसे वनस्पति एक विशेष योनि है, पशु एक दूसरी योनि है, मनुष्य एक तीसरी योनि है, वैसे अतिमानसके प्राणी एक भिन्न ही प्रकारके व्यक्ति होंगे, उनमें जरा-मरण नहीं होगा, उनका यही शरीर एक दिव्य-शरीर हो जायगा। 'मानस' जो प्रकट हो चुका है, तथा 'अतिमानस' जो अभी प्रकट होगा—इन दोनोंमें मौलिक भेद क्या होगा? हमारा मन ज्ञानके लिये प्रयास तो करता है, परन्तु प्रयास करता हुआ भी अज्ञानसे बंधा रहता है, ज्योतिकी खोज तो करता है, परन्तु ज्योतिके लिये अपनेको पूर्णतया खोल

नहीं पाता। अतिमानसके प्रकट हो जानेपर अज्ञानके साथ इसका बन्धन टूट जायगा, ज्योतिसे भर जानेके लिये यह लगातार खुला रहेगा। जैसे मनुष्यके लिये मनन न करना असंभव है, जैसे पशु-पक्षीके लिये प्राण न लेना असंभव है, जैसे वनस्पतिके लिये भोजन छोड देना असंभव है, वैसे जिसमें अतिमानस विकास पा जायगा उसमें अज्ञान असंभव हो जायगा। श्री-अरविंदकी इस खोजका आधार उपनिषदोंके ऋषियोंकी वाणीमें छिपा है। तैत्तिरीयोपनिषत्‌में पांच कोशोंका वर्णन आता है। वे कोश हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय। श्रीअरविंदके कथनका अभिप्राय यह है कि अभीतक सृष्टि अन्नमय, प्राणमय और मनोमय-कोश तक विकसित हुई है, चौथे विज्ञानमय कोशका विकास होना अभी बाकी है। अन्नमय-कोश वनस्पतियोंमें, प्राणमय पशु-पक्षियोंमें, मनोमय मनुष्योंमें विकसित हो चुका है। अब विज्ञानमय कोशका विकास होना है, इसीको श्रीअरविंदकी भाषामें 'अतिमानस' कहा गया है। उपनिषत्‌में इसी अतिमानसको विज्ञानमय-कोश कहा है। उपनिषत्‌के ऋषि अति-मानस या विज्ञानमय-कोशसे आगे भी आत्म तत्त्वके विकासका एक और स्तर बतलाते हैं। उनका कथन है कि 'विज्ञानमय कोश'के विकासके बाद 'आनन्दमय-कोश'का विकास होता है। इसका अभिप्राय यह है कि उस समय आत्म तत्त्व ऐसी स्थितिमें पहुंच जाता है जो परमानन्दकी स्थिति है, जिसमें आनन्द-ही-आनन्द है, जिसमें निरानन्दता असंभव हो जाती है। श्रीअरविंदका कहना था कि जैसे पारदर्शक शीशेमेंसे उसके पीछे जो-कुछ है वह दीख जाता है, वैसे उन्हें मानसके आगे अतिमानस, विकसित होता हुआ स्पष्ट दीख रहा है। ठीक इन्हीं शब्दोंमें कहा जा सकता है कि उपनिषत्‌के ऋषियोंको इसी तरह अतिमानस अर्थात् 'विज्ञानमय-कोश' के आगे 'आनन्दमय कोश' दीख रहा था, और आत्म-

तत्त्वके विकासकी दिशाका वर्णन करते हुए वे कहते थे कि प्रकृतिके माध्यम द्वारा विकास करते-करते एक ऐसा स्तर आता है जो अतिमानससे अगला आनन्दमय स्तर है । अतिमानसके विषयमें श्रीअरविंदकी यह नयी धारणा है कि यह तत्त्व अभीतक प्रकट नहीं हुआ, आगे होगा; उपनिषदोंके ऋषियोंका कहना था कि आत्म-तत्त्वका वह प्राकृतिक माध्यम जिसके द्वारा आत्माके लिये अज्ञान असंभव हो जाता है, विज्ञानमय कोश है, और वह माध्यम जिसके द्वारा निरानंदता असंभव हो जाती है, आनन्दमय कोश है, जो बीजरूपमें पहलेसे ही हर मनुष्यमें विद्यमान है । दूसरे शब्दोंमें, प्रकृतिके माध्यमसे आत्म-तत्त्वके उत्तरोत्तर विकासकी दिशा 'विज्ञानमय-कोश'की जागृति है, आत्माका यह विकास आगे-आगे होता जाता है, तबतक होता जाता है जबतक आत्मा अपने आनन्दमय स्वरूपको जागृत नहीं कर लेता । ये कोश, इस शरीरमें, एकके भीतर एक छिपे हुए, एक-दूसरेसे सूक्ष्म, कोई सूक्ष्म-शरीर नहीं है, शरीरका नाम ही 'कोश' है । 'अन्नमय-कोश'का अर्थ है यह अन्नमय स्थूल शरीर । वनस्पतियां 'अन्नमय कोश' तक ही रह जाती हैं, इससे आगे उनका विकास नहीं हो पाता । 'प्राणमय-कोश'का अर्थ है, वह शरीर जो अन्नसे तो बना है, क्योंकि वह अन्नमय-शरीरके ही द्वितीय विकासका नाम है, परन्तु जिसमें अन्नके अतिरिक्त 'प्राण' एक नवीन-तत्त्व प्रकट हो गया है । पशु-पक्षी अन्नमयकी प्रक्रियामेंसे तो गुजर ही चुके हैं, परन्तु इनका शरीर 'अन्नमय-कोश' नहीं, 'प्राणमय-कोश' कहाता है, क्योंकि प्राण एक तत्त्वके रूपमें वनस्पतियोंमें नहीं प्रकट हुआ, परन्तु पशु-पक्षियोंमें प्रकट हो गया है । 'मनोमय-कोश'का अर्थ है वह शरीर जो अन्न और प्राणसे तो बना है, परन्तु जिसमें 'मन' एक नवीन-तत्त्व प्रकट हो गया है । मनुष्यका शरीर 'मनोमय-कोश' है क्योंकि मन एक तत्त्वके रूपमें वनस्पति, पशु-पक्षीमें नहीं, मनुष्यमें प्रकट हुआ है । 'विज्ञानमय-कोश'का अर्थ है वह

शरीर जिसमें देह, प्राण तथा मनके अतिरिक्त एक चौथा तत्त्व--'विज्ञान' या श्रीअरविंदके शब्दोंमें 'अतिमानस'—प्रकट हो गया है। 'आनन्दमय-कोश' का अर्थ है, वह शरीर जिसमें देह, प्राण, मन और विज्ञानके अतिरिक्त एक पाचवां तत्त्व—'आनन्द'—प्रकट होता है। जो तत्त्व अभीतक प्रकट नही हुए उनका बीज एक-दूसरेमें निहित है। आनन्दमयका विज्ञानमयमें, विज्ञानमयका मनोमयमें, मनोमयका प्राणमयमें, प्राणमयका अन्नमयमें बीज है—हां, अन्न, प्राण, मन विकसित हो चुके हैं, विज्ञान तथा आनन्द विकसित होने हैं, या किसी-किसीमें हो चुके हैं। जब आत्म-तत्त्व प्रकृतिको माध्यम बनाकर उस तत्त्वको उत्पन्न कर लेगा जिसके द्वारा अज्ञान और निरानन्दता असभव हो जायगी, तो वह अवस्था उसकी जीवन-यात्राकी अतिम मजिल होगी, और उस समय उसका भौतिक शरीर ही पहले 'विज्ञानमय' और फिर विकसित होता हुआ अन्तमें 'आनन्दमय-कोश' हो जायगा। इस प्रकार आत्म-तत्त्व अन्ततक प्रकृतिके सहारे आगे-आगे बढ़ता जायगा, विकसित होता जायगा, अपने आपको प्रकृतिमें खो-खोकर उसमेंसे निकलता आयगा, और अपने लक्ष्यतक पहुचनेके लिये प्रकृतिको अपना साधन बनाता जायगा।

इस सारे विवेचनका अभिप्राय यह है कि अन्नमय-कोश प्राणमयके लिये है, प्राणमय अन्नमयके लिये नहीं; प्राणमय मनोमयके लिये है, मनोमय प्राणमयके लिये नहीं; मनोमय विज्ञानमयके लिये है, विज्ञानमय मनोमयके लिये नहीं, विज्ञानमय आनन्दमयके लिये है, आनन्दमय विज्ञानमयके लिये नहीं। आध्यात्मिक-विकासकी यही दिशा है। जब हम आध्यात्मिक आनन्द की अपेक्षा विज्ञानको, विज्ञानकी अपेक्षा मनको, मनकी अपेक्षा प्राणको, प्राण की अपेक्षा अन्नमय स्थूल शरीरको अधिक महत्त्व देने लगते है तब हम आत्म-तत्त्वके विकासके मार्गपर न चलकर उल्टे मार्गपर चलने लगते है।

हमें भिन्न-भिन्न कोशोको आगे-आगे जानेका साधन समझकर चलना है, अन्नमयको प्राणमयका, प्राणमयको मनोमयका, मनोमयको विज्ञानमयका और विज्ञानमयको आनन्दमयका साधन समझना है--अगले-अगलेके विकासमें सहायक समझना है, इससे उल्टा नहीं ।

पिंड तथा ब्रह्माडका आत्म-तत्त्व--

सृष्टिमें पिंड तथा ब्रह्माड दो वस्तुएं है । दोनो जड है, प्रकृतिके बने हुए है । दोनो आत्म-तत्त्वके साधन है, इन दोनोको माध्यम बनाकर ही आत्म-तत्त्व अपना विकास करता है । पिंडको माध्यम बनाकर जब आत्म-तत्त्व अपना विकास करता है तब उस विकसित हुए पिंडको 'देह', 'शरीर' आदि शब्दोंसे पुकारते है, उन भिन्न-भिन्न देहोमें विकासके भिन्न-भिन्न स्तरोपर पहुचे आत्म-तत्त्वको 'आत्मा' पुकारते है । आत्म-तत्त्व जैसे पिंडको माध्यम बनाकर अपनेको प्रकट कर रहा है, वैसे ब्रह्माडको साधन बनाकर भी अपनेको प्रकट कर रहा है । ब्रह्माडद्वारा अपने स्वरूप-को प्रकट करनेवाले आत्म-तत्त्वको 'ब्रह्म' पुकारते है, 'परमात्मा' पुकारते है, विकसित हुए ब्रह्मांडको सृष्टि पुकारते है। देह तथा सृष्टि दोनो प्रकृति-तत्त्व है, आत्मा तथा परमात्मा दोनो आत्म-तत्त्व है । देह तथा सृष्टि आत्मा तथा परमात्माके साधन है, देह आत्माके और प्रकृति परमात्माके अपने स्वरूपको प्रकट करने, विकसित करनेके माध्यम है । विकासके मार्गमें आत्म-तत्त्वको एक जगह रुकना नहीं है, आगे जानेके लिये जहां पाव रखा है, उसे और आगे बढनेके लिये उठा देना है, जो पकडा है, उसे छोड़ देना है । माध्यम लक्ष्य नहीं साधन है, काम निकल जानेपर साधनको हट जाना है, आत्म-तत्त्वके विषयमें यह आर्य-संस्कृतिकी विचार-धारा है ।

आत्म-तत्त्व-विषयक इहलौकिक तथा पारलौकिक विचार—

इस स्थानपर यह कह देना आवश्यक है कि आर्य-संस्कृतिकी विचार-धाराके दो रूप हैं—एक इहलौकिक, दूसरा पारलौकिक। हम इस ग्रन्थमें आर्य-संस्कृतिके इहलौकिक रूपपर ही विचार कर रहे हैं। आर्य संस्कृतिने जीवनके कार्य-क्रमका निर्माण जिस विचारको आधार बनाकर किया है, वह विचार है—शरीरके पीछे आत्मा है, प्रकृतिके पीछे परमात्मा है, शरीर आत्माका साधन है, प्रकृति परमात्माका साधन है। यह इहलौकिक विचार है जिससे आर्य-संस्कृतिने अपने जीवनके प्रति दृष्टि-कोणको बनाया है। शरीर हो, आत्मा न हो, प्रकृति हो, परमात्मा न हो, तो जीवनकी दिशा एक तरफ चली जाती है, शरीर हो, परन्तु आत्माका साधन हो, प्रकृति हो, परन्तु वह परमात्माका साधन हो, तो जीवनकी दिशा दूसरी तरफ चल पड़ती है। आर्य-संस्कृतिकी जीवनकी दिशा इस दूसरी तरफ ही गई है। इसी दिशाकी तरफ जाते हुए आर्य-संस्कृतिके इहलौकिक जीवनका कार्य-क्रम बना है। निष्काम-कर्म, आश्रम-व्यवस्था, यज्ञ, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, प्राणिमात्रमें आत्म-भावना—आर्य-संस्कृतिके इन सब इहलौकिक विचारोंका उद्गम आत्म-तत्त्वकी कल्पनासे ही हुआ है। आत्म-तत्त्व एक पारलौकिक कल्पना नहीं है। आर्य-संस्कृतिमें आत्म-तत्त्व को एक वैसी ही इहलौकिक वस्तु माना गया है जैसे हम प्रकृति-तत्त्वको मानते है। हां, जैसे, जो लोग प्रकृतिको ही यथार्थ-तत्त्व मानते हैं, वे प्रकृति-की छानबीनमें लग जाते हैं, और प्रकृतिके सम्बन्धमें भी सैकड़ो पार-लौकिक कल्पनाएं कर डालते है, वैसे, क्योंकि आर्य-संस्कृतिके उपासक आत्म-तत्त्वको यथार्थ-तत्त्व मानते थे, इसलिये आत्म-तत्त्वके पारलौकिक स्वरूपकी उन्होंने भी खूब छानबीन की, खूब चर्चा की। क्या आत्म-तत्त्व

प्रकृति-तत्त्व-जैसा एक स्वतंत्र तत्त्व है जिससे हम सबका भिन्न-भिन्न आत्मा विकसित होता है ? क्या आत्म-तत्त्व परमात्माका भी आधार-भूत तत्त्व है ? क्या प्रकृति-तत्त्वका विकास भी इस आत्म-तत्त्वसे होता है ? आत्मा-परमात्मा एक है, या इनका मौलिक भेद है ? जड़-चेतन एक है, या इनका मौलिक भेद है ? त्रैतवादियोकी तरह आत्मा, परमात्मा, प्रकृति—इन तीनको पृथक्-पृथक् मानें, परमात्मा और प्रकृतिको ही यथार्थ सत् मानें, आत्माको परमात्माकी रचना मानें, वेदान्तियोंकी तरह प्रकृति और जीवको ब्रह्मका ही रूपान्तर मानें—ये सब पारलौकिक विचार हैं, इन सब विचारोको आर्य-संस्कृतिने जन्म दिया है, इन सब विचारोका आर्य-सस्कृतिके विकासपर प्रभाव भी पड़ा है, परन्तु इन सब विचारोका आधारभूत इहलौकिक विचार, इन सब विचारोका सार, वह विचार जो भिन्न-भिन्न पारलौकिक विचारोके होते हुए भी सबमें समान है, एक ही विचार है, और वह यह कि आत्म-तत्त्व एक इहलौकिक यथार्थ सत्ता है, हमें अपने वैयक्तिक और सामाजिक-जीवनका विकास इस सत्ताको मान-कर करना है, इसके विना माने नहीं। प्रकृति-तत्त्वके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न कल्पनाओके होते हुए भी इसका अन्तिम पारलौकिक-रूप क्या है, परमाणु है, इलेक्ट्रोन है, इलेक्ट्रोन भी धन-ऋण विद्युत्के आवेशके विना कुछ है या कुछ नहीं—इन विविध कल्पनाओके होते हुए भी प्रकृति-तत्त्वको आधार भूत तत्त्व मानकर जीवनका एक प्रकारका विकास-क्रम बना है, और वनता चला जा रहा है, ठीक इसी प्रकार आत्म-तत्त्वके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न कल्पनाओके होते हुए भी—इसका अन्तिम रूप, पारलौकिक रूप क्या है, एकत्व ठीक है, द्वैत ठीक है, त्रैत ठीक है, मुक्तिका स्वरूप क्या है, मुक्तिसे लौट आते हैं, नहीं आते, पुनर्जन्म कैसे होता है, आत्मा पशु-योनिमें लौटकर जाता है, नहीं जाता—इन विविध कल्पनाओपर विचार करते हुए,

इन सबमें एकमत न होते हुए भी आत्म-तत्त्वको आधार-भूत मूल-तत्त्व मानकर जीवनका एक दूसरी प्रकारका विकास-क्रम बना था, आर्य-सस्कृतिके विचारकोने बनाया था, और उनका दावा था कि जीवनकी यही दिशा मनुष्यको सुख, शाति और सन्तोष दे सकती है, दूसरी नहीं। हमने सदियोतक दूसरी दिशाकी तरफ जाकर देख लिया, उससे न सुख मिला, न शाति मिली, न सन्तोष मिला। ज्यो-ज्यो हम उस दिशाकी तरफ बढ रहे है, त्यो-त्यो सुख, शान्ति और सन्तोषसे दूर होते चले जा रहे है। क्या आज समय नहीं आ गया कि हम आत्म-तत्त्वको प्रकृतिकी तरह यथार्थ-सत्ता मानकर उसके मार्गपर चलकर भी देखें, और देखें कि जिस सुख, शाति और सन्तोषकी खोजमें मानव-समाज भटक रहा है वह ऋषि-मुनियोके बताये मार्गपर चलनेसे मिलता है या नहीं।

[६]

स्वार्थ-परार्थ-विवेचनमें 'अहंकार' तथा 'आत्म-तत्त्व'

'अहङ्कार' आत्माका नहीं प्रकृतिका गुण है--

आर्य-संस्कृतिमें साख्य-दर्शनके रचयिता आचार्य कपिलका नाम बडे गौरवसे लिया जाता है। कहते हैं, 'नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्'–सांख्य-दर्शनके समान कोई ज्ञान नहीं। आचार्य कपिलने सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन करते हुए कहा है—'प्रकृतेर्महान्, महतोऽहकार , अहंकारात्पंचतन्मात्राणि उभयमिन्द्रिय, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः'—अर्थात्, सृष्टिकी उत्पत्ति २५ तत्त्वोंसे हुई है। मुख्य तत्त्व तो दो हैं—प्रकृति और पुरुष, परन्तु प्रकृतिका विकास होते-होते २४ तत्त्वोका निर्माण हुआ है, और पुरुष इन चौवीसोके अलावा है, इस प्रकार इन पच्चीसोंके मिलने से सृष्टि चलती है। इस प्रकरणमें पुरुषसे अभिप्राय पुरुप तथा स्त्री दोनोके आत्म-तत्त्वसे है। पुरुषका अर्थ है, शरीर-रूपी पुरीमें शयन करनेवाला, रहने वाला। पुरुषका यहां अर्थ है—'आत्म-तत्त्व'। 'प्रकृति' से विकास पानेवाले चौंवीसो तत्त्व और 'पुरुप'—ये दोनो एक दूसरेसे भिन्न हैं। इनका एक-दूसरेसे भेद कैसा है—इसे स्पष्ट करते हुए कपिल ऋषि कहते हैं कि प्रकृति, पुरुष अर्थात् आत्म-तत्त्वके विना सृष्टिको नहीं चला सकती, पुरुष अर्थात् आत्म-तत्त्व प्रकृतिके विना कुछ नहीं कर सकता। प्रकृति अंधी है, आत्म-तत्त्व लंगडा है। 'प्रकृति' और 'आत्म-तत्त्व'का मेल अन्धे और लगड़ेका मेल

हैं। अन्धे और लगडेको एक ही जगह जाना हो तो वे क्या करते हैं ? लगड़ा अन्धेकी-पीठपर सवार हो जाता है, क्योंकि वह देख सकता है, चल नहीं सकता; अन्धा चल सकता है, देख नहीं सकता, लगडा रास्ता वताता जाता है, अन्धा चलता जाता है--दोनो ठिकाने पहुच जाते है। आत्म तत्त्वके लिये प्रकृतिका यही लाभ है, यही उपयोग है।

प्रकृतिका विकास होते-होते जिन २४ तत्त्वोका निर्माण हुआ है, वे क्या है ? 'प्रकृति' तो सृष्टिके भौतिक-घटक-अवयवोकी उस आदि-अवस्था का नाम है जिसमें कारण-रूपता है, कार्य-रूपता नहीं, जिसमें कार्य-कारण-की परपरा शात होकर बैठ गई है, जिसमें कुछ बन-बिगड नहीं रहा। इस आदि-अवस्थासे जब सृष्टिका विकास चला, और दूसरी अवस्था आयी, वह अवस्था आयी जिसमें कार्य-कारणकी परपरा अपने शात रूपको तजकर जग उठी, जो इतनी महान् है कि प्रकृतिके उस जगे रूपमें सारी सृष्टि डोलने-सी लगी, उसे इतना महान् होनेके कारण कि सारा ब्रह्माड बीज-रूपमें उसमें डोलने-सा लगा, 'महान्' या 'महत्तत्त्व' कहा गया है। प्रकृतिके महत् रूपके विकसित होनेके बाद तीसरी अवस्था प्रकट होती है। सृष्टि अपने अगले विकासकी इस तीसरी अवस्थामें एकतासे अनेकताकी तरफ जाती है। 'प्रकृति' तथा 'महत्'-अवस्थातक वह अपनी एकताकी अवस्थामें थी, परन्तु एकताके रूपमें बने रहनेपर सृष्टि ही नहीं चल सकती, अत अगर सृष्टिका प्रवाह चलना है तो एकताका टूटना और अनेकताका सूत्रपात होना भी आवश्यक है। अनेकताका अर्थ है, प्रत्येक वस्तुकी पृथक्-पृथक् स्थिति, प्रत्येक वस्तुका अपना-अपना व्यक्तित्व, अपना-अपना 'मैं-पना', 'अह-भाव', 'इन्डीवीजुएलिटी'। प्रकृतिके विकासके इस तीसरे तत्त्वको कपिल ऋषिने 'अहकार'का नाम दिया है। 'अहकार' कोई जीती-जागती चीज़ नहीं है। संसारकी हर वस्तुमें अपनी सत्ता है, हर वस्तुका अहं-भाव

है, हर वस्तु दूसरेसे पृथक् है—इसी सत्ता, पृथक्ता, अह-भावका नाम 'अहंकार' है। यह आत्माका नहीं, प्रकृतिका, जड प्रकृतिका गुण है। इस अहकार-तत्त्वमें जब सतोगुणकी मात्रा बढ जाती है तब यह 'मन'के रूपमें प्रकट होता है, जब इसमें रजोगुणकी मात्रा बढ जाती है तब ५ ज्ञानेन्द्रिय तथा ५ कर्मेन्द्रिय—ये 'चेतन' प्रकट होते है; जब इसमें तमोगुणकी मात्रा बढ़ जाती है तब गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्द तथा पृथ्वी-अप्-तेज-वायु-आकाश—ये दस 'जड़' प्रकट होते है। इस प्रकार 'प्रकृति', 'महान्' तथा 'अहकार'के बाद बाकी २१ 'चेतन' तथा 'जड़' तत्त्वोका विकास मुख्यतौरपर 'अहकार'-तत्त्वसे हुआ है। अहकारका मतलब घमडसे नहीं है। अहंकारका अभिप्राय कपिल मुनिकी परिभाषामें सिर्फ यह है कि प्रत्येक भौतिक पदार्थकी जो स्वतत्र सत्ता है, उसका अपना-अपना व्यक्तित्व है, वह वस्तु दूसरी वस्तुओसे अलग है—यह स्वतत्र-सत्ता, यह व्यक्तित्व, यह अलगपना जड-जगत्में भी दीखता है, चेतन-जगत्में भी दीखता है, हर चीज मानो कह रही है—'मै हू', 'मै हूं'। पृथ्वी-अप्-तेज-वायु-आकाश—ये 'जड' भी अपनी अलग-अलग सत्ताका बखान कर रहे है, मनुष्य-पशु-कीट-पतग—ये 'चेतन' भी अपनी ज्ञानेन्द्रियो तथा कर्मेन्द्रियोद्वारा अपना अलग-अलग बखान कर रहे है, इन चेतन प्राणियोका मन भी अपनी अलग सत्ताका बखान कर रहा है। चारो तरफसे उठ रहा यह व्यक्तित्वका, अलग-पनेका, मै-पनेका, नानात्वका घोष ही 'अहकार' है, अत 'अहकार' ही प्रकृतिका मुख्य, आधारभूत तत्त्व है, प्रकृतिका आगे-आगे जो विकास है वह 'अहकार'का ही विकास है।

'प्रकृति' पुरुषका, अर्थात् 'अहकार' आत्म-तत्त्वका साधन है—

'प्रकृति' तथा 'पुरुष'के सयोगसे ससार चलता है—साख्य-दर्शनके

इस कथनका अभिप्राय यही है कि 'अहकार' और 'आत्म तत्त्व'के सयोगसे संसार चलता है--क्योंकि प्रकृतिका मुख्य-तत्त्व 'अहकार' है, पुरुषका मुख्य-तत्त्व 'आत्म-तत्त्व' है। 'अहकार'की आखें नहीं, वह अन्धा है, परन्तु उसमें वेग है, वह चल सकता है, दौड़ सकता है; 'आत्म-तत्त्व'की आखें है, परन्तु वह लंगडा है, साधनके विना स्वयं कुछ नहीं कर सकता। फिर कैसे काम चले? 'आत्म-तत्त्व' 'अहकार'के कन्धेपर सवार होकर, दूसरे शब्दोंमें 'पुरुष' 'प्रकृति'की पीठपर चढकर उसकी सवारी करता है, उसके सहारे चलता है। कपिल मुनिका कहना है कि प्रकृति पुरुषके लिये अपने उद्देश्यतक पहुंचनेका साधन है, अर्थात् अहकार आत्म-तत्त्वके लिये अपने पूर्ण-विकासको पानेका सहारा है। मुख्य सत्ता पुरुष है, प्रकृति नहीं, आत्म तत्त्व है, अहकार नहीं। पुरुषको अपने उद्देश्यतक पहुचाना प्रकृतिका काम है, अर्थात् आत्म-तत्त्वको अपने पूर्ण विकासमें सहायता देना अहंकारका उद्देश्य है।

'अहकार' स्वार्थका और 'आत्म-तत्त्व' परार्थका आधार है—

'आत्म-तत्त्व' जब 'अहकार'का सहारा लेता है तब इस चलती-फिरती, मेरी-तेरी दुनियाँकी रचना होती है। इस रचनामें सबसे पहले 'मैं' का, प्रत्येक वस्तुके 'व्यक्तित्व'का, उसके 'अह-भाव'का, 'अहकार' का निर्माण होता है। 'मैं'की उत्पत्ति, खुद-ब-खुद, मेरे अलावा जो-कुछ है, उसकी भावनाको जन्म दे देती है। 'मैं'को संस्कृतमें 'स्व', तथा मेरे अलावा जो-कुछ है, उसे 'पर' कहते हैं। अहकार, अर्थात् व्यक्तित्वके विकासका परिणाम 'स्व'-'पर'-भावनाका प्रकट होना है। ससार खुद-ब-खुद 'स्व' और 'पर'—इन दो भागोंमें बट जाता है। 'स्व' अर्थात् मेरे लिये जो-कुछ है, उसे 'स्वार्थ', और 'पर' अर्थात् दूसरेके लिये जो कुछ है, उसे

'परार्थ' कहते है। 'अहकार'से 'स्वार्थ'-'परार्थ'का द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। 'स्वार्थ'-'परार्थ'का द्वन्द्व उत्पन्न न होता अगर पुरुषका प्रकृतिसे, आत्म-तत्त्वका अहंकारसे संयोग न होता, परन्तु इस सयोगके उत्पन्न हो जानेके बाद अहकार स्वार्थकी तरफ, और आत्म-तत्त्व परार्थकी तरफ खींचने लगता है। अहंकार ओर आत्म-तत्त्वका इस प्रकार परस्पर-विरोधी खिचाव क्यो होता है ? क्योकि अहकारका उदय प्रकृतिमे है, और स्वार्थका सम्बन्ध भी प्राकृतिक-वस्तुओसे हैं; आत्म-तत्त्व अप्राकृतिक है, और परार्थका सम्बन्ध भी प्राकृतिक पदार्थोसे हटनेसे है। अहंकार स्वार्थकी तरफ खींचता है, आत्म-तत्त्व परार्थकी तरफ खींचता है, परन्तु इस खेंचातानीमें सही रास्ता कौन-सा है ? हम पहले ही कह आये है कि प्रकृति अन्धी है, पुरुष सुजाखा है; पुरुषको, आत्म-तत्त्वको, प्रकृति अर्थात् अहंकारके कन्धेपर चढ़कर अपने लक्ष्यतक पहुचना है। अगर आत्म-तत्त्वको अहंकारके कन्धे पर चढ़ना है, तो सीधी बात है कि परार्थको स्वार्थके कन्धेपर चढकर अपनी यात्राको तय करना है। प्रकृति-पुरुषकी, अहकार-आत्म-तत्त्वकी, स्वार्थ-परार्थकी कशमकश तो चलेगी—दोनोमेंसे एक प्रबल होनेका प्रयत्न करेगा, परन्तु अगर हम आर्य-संस्कृतिके इस केन्द्रीय विचारको ध्यानमें रखें कि प्रकृति पुरुषकी सहायता करनेके लिये है, आत्म-तत्त्वके आगे चलने, आत्म-विकासके मार्गपर बढनेके लिये है, तो ज्यो-ज्यो हमारा विकास होता जायगा, अहंकार अपनेको आत्म-तत्त्वके लिये मिटाता जायगा, स्वार्थ अपनेको परार्थके लिये बलि चढाता जायगा। हम प्रकृतिसे चलें और प्रकृतिको छोड़ते चले जाय, अहकारसे प्रारंभ करें और अहकारको तजते जाय, स्वार्थको जीवनका आधार बनायें और धीरे-धीरे स्वार्थकी जगह परार्थको लाते जाय—आत्म तत्त्वके विकासकी यही दिशा है। इससे उल्टा भी हो सकता है। हम प्रकृतिसे चलें और प्रकृतिमें लिपटते ही चले जाय, अहकारसे प्रारंभ करें

और अहकार घनीभूत होता जाय, स्वार्थसे चलें और स्वार्थके सिवा कुछ न देख सकें। आर्य-संस्कृतिके शब्दोंमें यह मार्ग आत्माके जीवनका नहीं, आत्माके हननका है, आगे बढनेका नही, पीछे लौटनेका है, विकासका नहीं, ह्रासका है ।

प्रकृति और पुरुष, अहंकार तथा आत्म-तत्त्वके मिलनेसे, पहले-पहल, स्वार्थका ही विकास होता है । यह स्वाभाविक है । जब सुजाखा अन्धेकी पीठपर चढेगा तब एकदम वह लक्ष्य तो नही दीख सकता जहा पहुचना है । यह जीवनकी यात्रा तो जन्म-जन्मान्तरोकी यात्रा है । सुजाखेने अन्धेको रास्तेपर डाल दिया तो लगातार चलते रहनेका काम तो अन्धेका ही है । सारी शक्ति अन्धेकी ही खर्च होनी है, एक जीवनमें नहीं, कई जीवनोंमें, इसीलिये आत्म-तत्त्वकी जीवन-यात्रामें प्रकृतिका दृष्टि-कोण, स्वार्थका दृष्टि-कोण प्रथम दृष्टिकोण है, और प्रथम होनेके साथ प्रबल दृष्टि-कोण है । स्वार्थ न हो तो अहकार एक कदम भी आगे न रखे । जीवन-यात्रा शुरू इसीसे होती है, चलती भी इसीसे है, यह दूसरी बात है कि चलते-चलते जब लक्ष्य निकट आ जाता है, जहां पहुचना है वह स्थान आ जाता है, तब लंगडेको अन्धेकी जरूरत नहीं रहती, पुरुषको प्रकृतिकी, आत्म-तत्त्वको अहकारकी, परार्थको स्वार्थकी आवश्यकता हट जाती है, और जहां पहले अन्धा प्रधान था वहा सुजाखा प्रधान हो जाता है, जहा प्रकृति प्रधान थी वहां पुरुष प्रधान हो जाता है, जहा अहकार प्रधान था वहा आत्म-तत्त्व प्रधान हो जाता है, जहा स्वार्थ प्रधान था वहां परार्थ प्रधान हो जाता है ।

अहकारसे तो जीवन-यात्रा शुरू होती है—

जीवन-यात्रा स्वार्थसे चलती है । व्यक्ति अपने लिये परिवारको रचता है, अपने लिये स्त्री-बच्चे, घर-बार, सम्पत्ति-जायदाद बनाता है । मनुष्यका बात-बातमें 'मैं' उभरता रहता है । वह कहता है, यह मेरी स्त्री है,

मेरे बच्चे है, यह मेरा घर है, मेरी सम्पत्ति है। यह सब 'अहंकार' नहीं तो क्या है ? अहंकार पहले-पहल व्यक्तिको, 'मैं'को जन्म देता है, परन्तु व्यक्तिमें अहकार पूरा विकास नहीं पाता, इसलिये व्यक्तिसे अहकार आगे बढ़कर परिवारको जन्म देता है । परिवार 'व्यक्ति'का ही, 'अहकार'का ही, 'स्व'का ही, 'मैं'का ही विकसित रूप है । कई लोगोका व्यक्तित्व परिवारके आगे नही बढता, वे परिवारतक विकसित होकर समाप्त हो जाते है, परन्तु अधिकाश मनुष्य परिवारसे आगे वढते है, वे बिरादरीका निर्माण करते है, बिरादरीसे आगे निकलकर समाजका निर्माण करते है । कोई धार्मिक संगठन बनाता है, कोई राजनैतिक सगठन—होते-होते देश तथा जातिकी भावना पैदा हो जाती है । इस सम्पूर्ण विकासमें 'अहकार'-'मै'-'स्व' का बीज जड़ पकड़कर उगता है, बढता है, पौधा बनता है, और धीरे-धीरे विशाल वृक्षका रूप धारण कर लेता है । यह सारा विकास 'अहकार' का ही तो विकास है । 'मै' से यह शुरू हुआ, उससे सन्तुष्ट न हुआ, 'मै'ने परिवारको जन्म दिया—'मेरा' परिवार, 'मेरे' बाल-बच्चे, वह इससे भी सन्तुष्ट न हुआ, तो अहकारने बिरादरीको जन्म दिया, 'मेरी' बिरादरी । बिरादरीके छोटे दायरेमें भी जब अहंकारको सन्तोष न मिला तो उसने समाज, देश, जातिको जन्म दिया—'मेरा समाज', 'मेरा देश', 'मेरी जाति' । इस 'मेरा'-'मेरा' को देखकर उपनिषदोंके याज्ञवल्क्य मुनिने कहा था कि असलमें बाल-बच्चे, स्त्री, परिवार, बिरादरी, समाज, देश, जाति—यह सब-कुछ 'मै' का, 'स्व'का, अहकार'का ही विकसित रूप है, इसलिये स्त्रीको पति पति होनेके नाते प्रिय नहीं होता, अपने स्वार्थके लिये प्रिय होता है, पतिको स्त्री स्त्री होनेके नाते प्रिय नहीं होती, अपने स्वार्थके लिये प्रिय होती है, पुत्र पुत्र होनेके नाते प्रिय नहीं होता, अपने स्वार्थके लिये प्रिय होता है—

'न वा अरे पत्यु. कामाय पतिः प्रियोभवति आत्मनस्तु कामाय पति. प्रियो भवति, न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति, न वा अरे पुत्राणा कामाय पुत्रा प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय पुत्रा· प्रिया भवन्ति' । याज्ञवल्क्यने कैसा जडवादी दृष्टि-कोण सामने रखा है । भौतिकवादी विचार-धाराका यह तर्क-सगत परिणाम है । जब इस शरीर और इस ससारके अलावा कुछ है ही नहीं तब खाना-पीना, शरीरमें रमना, ससारके सुख भोगना, स्त्री-बाल-बच्चे, बिरादरी, समाज, देश, जाति सबसे जहातक हो सके अपना फायदा उठाना, अपना उल्लू सीधा करना—इसके सिवा कुछ किया ही क्यो जाय ? हम चल दिये तो हमारे लिये तो दुनियाँ समाप्त हो गई, हमें अपनेसे मतलब, हमें दुनियाँसे उतना ही तो वास्ता है जहां तक यह हमारे काम आती है, इससे ज्यादा हमें दुनियाँसे क्या मतलब ?

याज्ञवल्क्यने इस जडवादी दृष्टि-कोणको बडे जोरसे रखा, और इसीमें-से आर्य-सस्कृतिकी विचार-धाराको खींचकर सामने लाकर खड़ा कर दिया। उन्होंने कहा कि पति पतिके नाते प्यारा नहीं होता, अपने लिये प्यारा होता है, स्त्री स्त्रीके नाते प्यारी नहीं होती, अपने लिये प्यारी होती है, पुत्र पुत्रके नाते प्यारा नहीं होता, अपने लिये प्यारा होता है, बिरादरी, देश, समाज भी अपने लिये प्यारे होते है—परन्तु देखना यह है कि यह 'अपना', यह 'मैं', यह 'स्व', यह 'अह-भाव' जिसके लिये सब-कुछ है, यह क्या है, उसका क्या रूप है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य. श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्य.'—यह 'आत्मा' क्या है जिसे याज्ञवल्क्य कहते है कि जानना चाहिये ।

'अहकार' तथा 'आत्म-तत्त्व' का 'सघर्ष'—'स्व' क्या है ?—

आर्य-सस्कृतिका मौलिक-विचार यह है कि जबसे प्रकृति और पुरुष,

अहंकार और आत्म-तत्त्वकी यात्रा शुरू हुई है तबसे इन दोनोका सहयोग भी चल रहा है, इनका सघर्ष, इनकी खींचा-तानी भी चल रही है। एक-दूसरेके बिना इनकी यात्रा नहीं चल सकती इसलिये तो सहयोग है, परन्तु प्रकृति पुरुषको अपनी तरफ खींचती है, पुरुष प्रकृतिको अपनी तरफ खींचता है। प्रकृति चाहती है, पुरुष प्रकृतिका होकर रहे, पुरुष चाहता है, प्रकृति पुरुषकी होकर रहे। जब प्रकृतिका पलडा भारी हो जाता है तब पुरुष, अर्थात् आत्म-तत्त्व अपनेको खो बैठता है, और प्रकृतिको ही 'मैं' कहने लगता है, जब पुरुषका पलड़ा भारी हो जाता है, तब 'आत्म-तत्त्व' प्रकृतिपर सवार होकर बैठ जाता है, और प्रकृतिको अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये अपना साधन बनाकर चलता है। याज्ञवल्क्यका कहना यह है कि जब आत्म-तत्त्व दब जाता है, प्रकृति प्रबल हो जाती है, मनुष्य ससारके माया-जालमें बध जाता है, बाल-बच्चोको, स्त्री-पुत्रको, सम्पत्ति-जायदादको 'मैं' समझने लगता है, और क्योकि इन्हें ही वह 'मैं'—अपना यथार्थ स्वरूप—समझ रहा होता है, अत. इनसे वह इतना चिपट जाता है कि इन्हें छोड़ ही नही सकता, तब वह अपने यथार्थ स्वरूपको भूला हुआ होता है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य'—आत्माको देखो, आत्म-तत्त्वको अपनी आंखोसे ओझल मत होने दो, क्योकि आत्म-तत्त्वको देखते ही जीवनका सारा दृष्टि-कोण बदल जाता है। स्वार्थसे ही तो सारा ससार चला, अहंकार ही तो सृष्टिके प्रवाहका आदि-स्रोत है। इस स्वार्थके रहते, आत्म-तत्त्व सो रहा हो, तो जीवनका एक दृष्टि-कोण उत्पन्न हो जाता है, जब जग रहा हो तो दूसरा दृष्टि-कोण उत्पन्न हो जाता है। स्वार्थके रहते आत्म-तत्त्व सो रहा हो तो स्वार्थ स्वार्थको जन्म देगा, अहंकार अहकारको जन्म देगा, हमारे हर विकासमें स्वार्थ और अहकार घनीभूत होता जायगा। पति पतिके नाते प्रिय नहीं होता, अपने लिये प्रिय होता है—इसका अर्थ यह हो जायगा कि अपने मौज-मेलेके लिये

स्त्री पतिको छोड सकेगी, जो चाहे कर सकेगी, इसी प्रकार स्त्री स्त्रीके नाते प्रिय नहीं होती, अपने लिये प्रिय होती है, इसका यह अर्थ हो जायगा कि पति अपनी खुशीके लिये जो चाहेगा, करेगा। परन्तु अगर स्वार्थके साथ आत्म-तत्त्व जाग रहा हो, तो स्वार्थ स्वार्थको जन्म नहीं देगा, अहकार अहकारको जन्म नहीं देगा। उस अवस्थामें स्वार्थ परार्थको जन्म देगा, अहकार अपनेको मिटानेमें अपनी सार्थकता समझेगा। उस अवस्थामें पति पतिके नाते प्रिय नहीं होता, अपने लिये प्रिय होता है, पत्नी पत्नीके नाते प्रिय नहीं होती, अपने लिये प्रिय होती है—इसका यह अर्थ होगा कि पति पत्नीके और पत्नी पतिके आत्म-तत्त्वके विकास और दर्शनका साधन बने, वे जीवन-यात्रामें इसलिये इकट्ठे हो कि एक-दूसरेके पूरक बनें, मार्ग-प्रदर्शक बनें, और एक-दूसरेके सहयोगसे मोहमें फसकर मोहसे निकलना सीखें, विषयोमें फसकर विषयोको जीतना सीखें, स्वार्थसे चलकर परार्थ की तरफ चलना सीखें, अहकारसे शुरूकर अहकारको मिटाना सीखें। अहकार और आत्म-तत्त्वने मिलकर जीवन-यात्राको प्रारभ किया। इस यात्रामें आत्म-तत्त्व प्रसुप्त हो गया तो अहकार प्रबल हो गया, स्वार्थ ही स्वार्थ उत्पन्न होता गया। आत्म-तत्त्व जाग्रत् रहा, तो अहकार दबता गया, स्वार्थ हटता गया, और आत्म-तत्त्व प्रकृतिको अपना साधन बनाता गया। जीवनकी यह दिशा आर्य-सस्कृतिकी दिशा है, ऋषि याज्ञवल्क्यकी बताई हुई दिशा है। सारा खेल 'स्व' शब्दका है। 'स्व' क्या है ? प्रकृति 'स्व' है, या पुरुष 'स्व' है ? 'मै' कौन हू ?——यही तो याज्ञवल्क्य पूछते है। इसमें सन्देह नहीं कि सब-कुछ 'स्व'के लिये है, 'मेरे' लिये है। मुझे अपने लिये ही सब-कुछ प्यारा होता है। परन्तु 'मै'——'मेरा आपा'——'स्व' जिसके लिये सब-कुछ है, कौन है ? यह प्रकृति है, या पुरुष, अहंकार है, या आत्म-तत्त्व ? आर्य-संस्कृतिकी घोषणा है कि 'मेरा आपा'—यह 'स्व'—प्रकृति नहीं,

पुरुष है, दूसरे शब्दोंमें, अहंकार नही, आत्म-तत्त्व है, इस आत्म-तत्त्वके विकासके लिये ही सब-कुछ है, पुत्र-पौत्र, पति-पत्नी, बन्धु-बान्धव, समाज, देश, जाति सब-कुछ आत्माके विकासके लिये है, यह प्रकृति, यह सम्पूर्ण ब्रह्माड आत्माके विकासके लिये है। यह सब साध्य है, साधन नहीं, साध्य तो आत्म-तत्त्व है, वही 'स्व' है, वही अपना आपा है, उसीके लिये यह सब-कुछ है, वह इसके लिये नहीं, उसीको जानो, उसीको पहचानो।

जीवनके दृष्टि-कोणमे आत्म-तत्त्व का स्थान--

'आत्म-तत्त्व'को सृष्टिकी रचनामें मुख्य-तत्त्व माननेसे जीवनके दृष्टि-कोणमें कितना भारी भेद उत्पन्न हो जाता है। मनुष्यको लें, तो यह शरीर क्या है ? क्या शरीर ही हमारा आपा है, यही हमारा 'स्व' है ? अगर शरीर ही 'स्व' है, तो इसीका सब-कुछ करना हमारा स्वार्थ हो जाता है, परन्तु अगर शरीर 'स्व' नही है, शरीरको साधनरूपसे बरतनेवाला 'आत्म-तत्त्व' हमारा आपा है, वही हमारा 'स्व' है, तो जैसे शरीरकी रक्षा करना हमारा स्वार्थ है, वैसे समय आनेपर शरीरको त्याग देना, मरनेपर ही नहीं परन्तु जीवनमें भी ऐसे अवसर आ सकते हैं जब शरीरकी पर्वा न करना भी हमारा स्वार्थ हो सकता है। आर्य-सस्कृतिका दृष्टि-कोण ही शरीरको आत्माका वाहन समझकर चलना है। आर्य-सस्कृतिका घोष तो यह है--'आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेव तु'--आत्मा शरीररूपी रथको चलानेवाला, इसपर सवारी करनेवाला स्वामी है। शरीरको आत्मा की सवारी नहीं करनी, आत्माको शरीरकी सवारी करनी है। जो बात शरीरके साथ है, वही ब्रह्माडके साथ है। आत्म-तत्त्व ब्रह्माडके लिये नहीं, पुरुष प्रकृतिके लिये नहीं, ब्रह्माड आत्म-तत्त्वके लिये है, प्रकृति पुरुषके लिये है। आत्मा शरीरका भोग करे, शरीर आत्माको न भोगने लगे, हम ससार को भोगें, संसार हमें न भोगने लगे--यह

स्वर है जो आर्य-संस्कृतिकी वीणामेंसे रह-रहकर गूज उठता है ।

स्वार्थके सम्बन्ध में याज्ञवल्क्यने संसारको एक नया ही विचार दिया था। मोटी दृष्टिसे तो यही जान पडता है कि स्वार्थसे स्वार्थ पैदा होगा, ससारसे चिपटनेकी, संसारको भोगनेकी भावना पैदा होगी, ससार छोडनेकी भावना नहीं पैदा होगी । आर्य-सस्कृतिका दृष्टि-कोण दूसरा है । याज्ञ-वल्क्य जिस स्वार्थके लिये परिवारमें पड़ रहनेके स्थानमें, दुनियांदारीसे चिपटे रहनेके स्थानमें परिवारको छोड़ देते है, हम उसी स्वार्थके लिये परिवारमें, दुनियांदारीमें पड़े रहते है । आर्य-सस्कृतिकी विचार-धारा यह है कि स्वार्थ दो तरह का है । एक स्वार्थ वह है, जिसमें 'प्रकृति' 'आत्म-तत्त्व'को दवा देती है, 'प्रकृति'को हम 'स्व' वना लेते है, 'प्रकृति'में दिनो-दिन उलझते जाते है; दूसरा स्वार्थ वह है जिसमें 'आत्म-तत्त्व' 'प्रकृति'को दवा लेता है, 'आत्म-तत्त्व'को हम यथार्थ-'स्व' समझते है, सासारिक बन्धनोमें पड़कर इनमें उलझनेके स्थानमें इनमेंसे निकलना सीखते है। ऐसे विचारकोके मतमें वास्तविक स्वार्थ स्वार्थ छोड देनेमें, मोह-मायाका बन्धन काट देनेमें है । जो व्यक्ति स्वार्थके इस अर्थको समझ जाता है वह उन्नतिके पथपर चल पड़ता है । आजका मानव-समाज 'स्व'का जो अर्थ ले रहा है उसमें 'आत्म-तत्त्व'को स्थान नहीं है । इसीलिये सृष्टिके आदि-तत्त्व 'अहंकार'न जिस व्यक्तिका निर्माण किया है उसमें निचला स्वार्थ घनीभूत हो उठा है । व्यक्तिने जिस परिवारका निर्माण किया है उसमें कोरा स्वार्थ-ही-स्वार्थ है, परिवार जिस बिरादरीका निर्माण करता है उसमें भी कोरा स्वार्थ है, बिरादरी जिस समाज, देश वा जातिका निर्माण करती है उसमें भी स्वार्थके सिवा कुछ नहीं । इस समय मानव-समाजका विकास इसी दिशामें हो रहा है । इसीका परिणाम है कि परिवारमें हरेक व्यक्ति अपने स्वार्थके लिये लड़ता है ; समाज, देश, जातिमें दलबन्दी और पार-

स्परिक वैमनस्य दीखता है। याज्ञवल्क्यका दृष्टि-कोण, आर्य-संस्कृतिका दृष्टिकोण 'स्व'का अर्थ—'आत्म-तत्त्व'—करता है। 'आत्म-तत्त्व' ही 'स्व' है, वही मेरा-तेरा, सबका अपना आपा है। यह 'आत्म-तत्त्व' सब प्राणियोंमें है। 'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति, सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति'—जो प्राणिमात्रको विश्वात्मामें पिरोये हुए मनकोंकी तरह देखता है, और हर प्राणीमें उसके शरीर को नहीं, परन्तु उसके 'आत्म-तत्त्व'को ही यथार्थ समझता है, उसीको वास्तविक ज्ञान है। जैसा मैं हूं वैसे ही दूसरे है, सभीमें 'आत्म-तत्त्व' ही विकास पा रहा है, मेरे भलेमें सबका भला, सबके भलेमें मेरा भला है—यह है दृष्टि-कोण जो एक नवीन ही दृष्टि-कोण है, जिसकी आजके भौतिकवादी मानवको बहुत अधिक आवश्यकता है। सृष्टिका प्रारंभ तो स्वार्थसे होता है, परन्तु इसका विकास दो दिशाओंमें हो सकता है। अगर 'स्व'का अभिप्राय इस 'शरीर'से है, और अगर इस शरीरके सिवा कुछ नहीं, तो 'स्व'का विकास एक ख़ास दिशामें होगा, परन्तु अगर 'स्व'का अभिप्राय 'आत्म-तत्त्व'से है, और अगर अनित्य शरीरके पीछे नित्य आत्मा है, तो 'स्व'का विकास एक दूसरी दिशामें होगा। माने हुए अर्थोंमें भी अगर हम 'स्वार्थ' शब्दको लें, तो उस हालतमें 'आत्म-तत्त्व'का विकास इस तरह नहीं होगा कि स्वार्थ स्वार्थको जन्म देता जाय। क्योंकि स्वार्थको जन्म देते जानेमें 'आत्म-तत्त्व'का वास्तविक स्वार्थ नहीं है। स्वार्थ स्वार्थको भी जन्म दे सकता है, परार्थको भी। 'आत्म-तत्त्व'का वास्तविक स्वार्थ, उसका वास्तविक विकास तभी होगा जब स्वार्थ परार्थको जन्म देगा। विकासोन्मुखी सृष्टिके आधार-भूत मूल-तत्त्व 'अहंकार' या 'स्वार्थ'की ठीक दिशा यह है कि जैसे चुम्बकके सम्पर्कसे लोहेमें एक शक्ति आ जाती है, वैसे 'आत्म-तत्त्व'के सम्पर्कसे इसमें एक शक्ति उत्पन्न हो जाय, इस शक्तिसे, दिनोदिनके विकास

में, 'अहकार'का अहम्-भाव विश्वात्मभावमें लीन होता जाय, स्वार्थ अपनेको मिटाकर परार्थमें परिणत होता जाय। कितने भी गहरे स्वार्थसे हम क्यो न चलें, कितने भी गहरे भौतिकवादी दृष्टि कोणसे क्यो न देखें, स्वार्थके पीछे, स्वार्थकी ओटमेंसे परार्थ रह-रहकर उठ खडा होता है। व्यक्ति कितना भी स्वार्थी क्यो न हो, परिवारके लिये अपनेको मिटा ही देता है। अस्लमें, पुत्रके लिये कष्ट सहनेमें माता-पिताको जो आनन्द आता है वह पुत्रको कष्टमें देखकर स्वय सुखके साधनोसे घिरे रहनेमें नही आता। व्यक्ति परिवारके लिये, देश और जातिके लिये वलिदान होनेमें आत्म-गौरव अनुभव करता है। जिस मार्गपर माता चलती है, जिस मार्गपर जातिका वीर चलता है, वही स्वार्थकी उचित दिशा है। इस दृष्टिसे स्वार्थ परार्थको उत्पन्न करता है, फिर परार्थ ही स्वार्थ हो जाता है, और पहला स्वार्थ मिट जाता है। स्वार्थ बना हुआ परार्थ फिर अगले स्वार्थको जन्म देता है, और यह स्वार्थ भी नष्ट हो जाता है। अगला-अगला परार्थ स्वार्थसे उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर वह परार्थ ही स्वार्थ बन जाता है, अगले परार्थको उत्पन्न करता है, और स्वार्थ समाप्त हो जाता है। हर स्वार्थ नष्ट होनेके लिये है, हर परार्थ टिकनेके लिये है। ठीक इसी तरह जैसे माता-पिता पुत्रको जन्म देते है, स्वयं चल देते है; पुत्र फिर माता-पिता बनता है, और अगली सन्तानको जन्म देकर अपने माता-पिताकी तरह चल देता है। स्वार्थ-परार्थकी यह गति हमारे अनजाने भी चल रही है, इसलिये चल रही है क्योंकि 'आत्म-तत्त्व' एक यथार्थ सत्ता है, हम उसे मानें, चाहे न मानें। हम सृष्टिके विकास में 'आत्म-तत्त्व'के दर्शन करते हुए चलेंगे, तो हमें सृष्टिका गोरखधधा समझ आता जायगा, यह समझ आता जायगा कि स्वार्थ-ही-स्वार्थके होते हुए भी हम क्यो रह-रहकर परार्थके काम करते जाते है, झूठ-ही-झूठके होते हुए भी क्यो हमें रह-रहकर सचाई और ईमानदारी ही खुशी देती

हैं, 'आत्म-तत्त्व'के दर्शन करते हुए नहीं चलेंगे तो भी 'अहंकार' अपनेको मिटाता ही नजर आयगा, स्वार्थ अपनेको परार्थमें खोता ही दीख पड़ेगा, परन्तु यह सब क्यों होता है, यह उल्टी गंगा क्यों बहती है, यह क्या गोरख-धंधा है—यह समझ नहीं पड़ेगा।

परन्तु इस विकासको ठीकसे समझनेके लिये यह समझना भी जरूरी है कि कोई स्वार्थ तबतक परार्थको जन्म नहीं दे सकता जबतक वह स्वयं पक नहीं जाता। जब फल पक जाता है तभी वह बीजको जन्म देता है, और पके बीजसे अगला पौधा तैयार होता है। अधपके फलका बीज किसी कामका नहीं, और अधपके बीजका फल किसी कामका नहीं। स्वार्थ पकना चाहिये, तभी इसमेंसे निकला बीज परार्थ-रूपी फलको जन्म देगा। कोई-न-कोई वासना हमारे हरेक स्वार्थको बनाती है। उस वासनाका बल कैसा है, उसका जोश समाप्त हुआ, या नहीं। स्वार्थके जिस क्षेत्रमें हम हैं उसमें वर्तमान वासनाका वेग अगर नहीं मिटा, और हम आगे चल दिये, स्वार्थसे परार्थमें चल पड़े, तो हमारा न यह क्षेत्र सफल होगा, न वह क्षेत्र। व्यक्तिका परिवारकी वासना मिट जानेके बाद परिवारमें टिके रहना ऐसा ही है जैसे भूख मिट जानेके बाद खाते चले जाना, और परिवारकी वासना न मिटनेपर परिवार छोड़कर चल देना ऐसा ही है जैसे भूख रहते भोजन छोड़कर उठ खड़े होना। स्वार्थकी आधार-भूत वासना जब न रहेगी तब स्वार्थका ही परार्थ-नामी पुत्र उत्पन्न होगा। यह विरोध मालूम पड़ता है, परन्तु यही सत्य है। आर्य-संस्कृतिकी विचार-धारा ही यह है कि स्वार्थसे परार्थको जन्म देते जाओ, और पहले स्वार्थको मिटाते जाओ, कुचलते जाओ, समाप्त करते जाओ। परार्थको स्वार्थ बनाते जाओ, उस स्वार्थसे अगले परार्थको जन्म दो, जहां स्वार्थ परार्थको जन्म दे दे वहीं स्वार्थको मसल दो, क्योंकि स्वार्थ-परार्थकी कसौटी शरीर नहीं आत्मा है, भौतिक सुख-भोग नहीं,

आत्मिक-विकास है । आर्य-संस्कृतिका विश्वके प्रति एक महान् संदेश है- 'आत्म-तत्त्व' इस सृष्टिमें इन स्थूल आखोसे नहीं दीखता परन्तु यही इस सृष्टिका मूल-तत्त्व है, और इसी मूल-तत्त्वके कारण हर स्वार्थ परार्थके लिये है, हर बन्धन मोक्षके लिये है, हर परतन्त्रता स्वतन्त्रताके लिये है, हर लगाव छूटनेके लिये है । हम स्वार्थमें अपनेको घिरा पाते है परन्तु हम इसमें रह नहीं सकते, हमें इसे मिटाकर परार्थकी तरफ जाना है, हम बन्धनोंसे अपनेको जकडा पाते है, परन्तु ये बन्धन टिक नहीं सकते, हमें इनसे मुक्त होना है, हम परतन्त्र है, परन्तु हमें साफ दीखता है कि हमें स्वतन्त्र होना है; हमारा ससारसे लगाव है, मोह-ममतामें हम फसे है, परन्तु हमारे ही भीतर कोई बैठा हमें कह रहा है कि यह लगाव आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसो, छोड़ना है, और छोड़ना ही है, प्रकृतिको पुरुषके लिये, 'अहकार-तत्त्व'को 'आत्म-तत्त्व'के लिये बलिदान होना है । इसीमें व्यक्ति, परिवार, समाज, देश तथा विश्वका कल्याण है ।

[७]

विश्व-बन्धुत्वका आधार आत्म-तत्त्व

भारत हजारो सालोतक परतन्त्र रहा । हमारे लिये आजादी एक सपना हो चुकी थी । दो-चार बरसकी गुलामी ही इन्सानको इन्सान नहीं रहने देती, हजारो सालोकी गुलामी तो उसे इन्सानियतसे बहुत नीचे धकेल देती है । १९४८ के बाद हम उस गढेमेंसे निकले, और यह कदम हमने हजारो सालोके बाद रखा । हमारे सामने सदियोतक एक अधेरी गुफामें मानो पड़े रहनेके बाद उजेला प्रकट हुआ, सदियोकी नींदके बाद मानो हम जगे। आज हमारे सामने एक बिलकुल नया युग है, नई जमीन, नया आसमान, नई हवा है। हमें सोचना है कि इस नवीन युगमें प्रवेश करनेके बाद हम किस रास्तेपर चलेंगे, कौन-से अरमान पूरे करेंगे, किस सन्देशको सुनेंगे, और कौन-सा सन्देश दुनियांको सुनायेंगे ? हम सदियोतक परतन्त्र रहे, इसलिये हम दुनियां की तरक्कीमें अबतक कोई हिस्सा नही ले सके, अब स्वतंत्र होनेके बाद हम किधर जायेंगे, और दुनियां को किधर ले जानेकी कोशिश करेंगे ?

अनेकता और विषमता की जड़ 'अहंकार-तत्त्व' है—

संसार अभीतक किस रास्तेपर चलता रहा ? अभी तक तो हम यही

देखते हैं कि हमारे समाजकी रचनाकी इकाई व्यक्ति है, व्यक्तिके बाद परिवार है, परिवारके बाद कोई बिरादरी, कोई ग्रूप, इसके बाद कोई समाज, कोई संगठन, कोई सम्प्रदाय, कोई जाति, कोई देश है, और इनमें, आपसमें, मनुष्य मनुष्यका वैरी, परिवार परिवार का शत्रु, ग्रूप ग्रूपका विरोधी, एक समाज, एक जाति, एक देश दूसरे समाज, दूसरी जाति और दूसरे देशसे लड रहा है। यह सब क्यो है ? यह इसलिये है क्योंकि, जैसा हम पिछले अध्यायमें देख आये हैं, सांख्यकी परिभाषामें सृष्टिका प्रारम्भ प्रकृतिसे हुआ है, और प्रकृतिका वह तत्त्व जो महाप्रबल है, जो अन्त तक सृष्टिके कण-कणमें अपनी सत्ता बनाये रखनेके लिये प्रयत्नशील है, 'अहंकार' है। 'अहकार-तत्त्व' जब व्यक्तिमें परिपाक पा चुकता है, तब परिवारको जन्म देता है। कहनेको तो परिवारमें स्त्री है, बाल-बच्चे हैं, परन्तु स्त्री और बाल-बच्चे तो व्यक्तिके 'अहंकार'की, 'मैं-पने'की प्यासको बुझानेके लिये है । जब परिवारसे भी व्यक्तिकी मैं-पनेकी, हुकूमत करने, दूसरेको छोटा और अपनेको बड़ा समझनेकी प्यास नहीं बुझती, तो वह बिरादरीका, किसी ग्रूपका, समूहका निर्माण करता है । इस ग्रूपमें बैठकर व्यक्तिका 'अहंकार' और अधिक तृप्त होता है, वह एकमें नहीं, अनेकमें 'मैं'-पनेको पाकर—'मैं इतना बडा'—इस भावनाको अनुभव करता है। प्रत्येक बिरादरीमें, ग्रूपमें, समूहमें कोई-न-कोई कुटुम्ब प्रधान होता है, किसी-न-किसी कुनबेके नीचे बिरादरी दबी रहती है, और वह कुनबा किसी-न-किसी व्यक्तिकी 'अहं-भावना' का उग्र-रूप होता है। बिरादरीकी आवाज कहनेको सबकी आवाज होती है, परन्तु होती वह किसी एक व्यक्तिकी ही आवाज है, ऐसे व्यक्तिकी जिसका प्रबल 'अहंकार' परिवारपर छा गया, परिवारके दूसरे व्यक्तियोके अहकारोसे मिलकर वह इतना बलवान् हो गया कि बिरादरीपर भी उसीका सिक्का

जम गया। बिरादरी या ग्रूपके बाद समाजकी, किसी बडे सगठनकी बारी आती है। हमारे सगठन क्या है ? किसी भी सगठनमें कोई एक गुट ही प्रबल होता है, वह गुट जो चाहता है, उस समाजसे, संगठनसे कराता है। किसी समाजपर अगर कोई गुट हावी हो रहा है, तो उस गुटमें भी कोई एक व्यक्ति ही गुटका केन्द्र होता है, उस व्यक्तिका 'अहकार' ही उस गुटपर, और उस गुटके द्वारा उस समाजिक-सगठनपर छा रहा होता है। हर सोसाइटी, हर सगठन, हर ग्रूपकी तहमें किसी-न-किसी व्यक्तिके 'अहं-कार'की धारा बह रही होती है। व्यक्तिका 'अहकार' ही समाजकी रचनामें ओत-प्रोत दिखाई देता है, यही आगे चलकर जाति तथा देशमें व्याप जाता है। जब समाजमें धर्मकी प्रधानता होती है तब व्यक्ति कहता है, मैं हिन्दू हू, मै मुसलमान हू, मैं ईसाई हू, मैं यहूदी हू—मै जो-कुछ हू, वही ठीक है, इसके अलावा सब गलत है। जब धर्मके स्थानमें जाति या देशकी भावना प्रधान हो जाती है तब वही व्यक्ति कहने लगता है, मैं जर्मन हू, मैं इटेलियन हूं, मैं जापानी हू, मै अमरीकन हू, मैं रशियन हूं—मैं जो-कुछ हू वही दुनियामें रहेगा, और कुछ रहेगा, तो मैं उसे तहस-नहस कर दूगा। हिटलर यही तो चाहता था कि संसारमें जर्मन हुकूमत चले, दूसरे देश गुलाम होकर रहें, मुसोलिनी भी यही चाहता था कि इटली का राज रहे, और सब मोहताज बनकर रहे। युरुपमें ईसाइयों और मुसलमानोंमें लड़ाइयां हुईं—क्रूसेडमें पैदा हुए। ईसाइयोंमें रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट सम्प्रदायों के युद्ध छिड़े—इन्क्वीजीशन बैठे। मुसलमानोंमें शिया और सुन्नियोंके झगड़े हुए, अपने देशमें हिन्दुओं और मुसलमानों का खून बहा। यह सब व्यक्तिके 'अहकार-तत्त्व'का ही परिणाम था। हजारों साल बीत गये, जिस दिनसे भारतका निवासी गुलामीकी बेड़ियोंमें जकड़ा गया, उस दिनसे सदियोंके स्वतंत्र मनुष्य ने जो-जो भी सामाजिक

सगठन बनाये, जिस देश और जातिका निर्माण किया, उसमें व्यक्तिके 'अहंकार-तत्त्व' ने ही अपनेको अग्रसर रखा। वैसे तो व्यक्तिका 'अहकार' ही हमारी सारी रचनाके आधारमें काम कर रहा है, परन्तु इसे स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार करनेसे हम लजाते हैं। जब इस बातको हम साफ़-साफ स्वीकार कर लेते हैं तब इसीका नाम आजकल 'डिक्टेटरशिप' रखा जाता है। जो लोग इस बातको बिल्कुल स्पष्ट स्वीकार नहीं करना चाहते, वे व्यक्ति की 'डिक्टेटरशिप'के स्थानमें इसे 'पार्टी-डिक्टेटरशिप'का नाम देते हैं। इस सम्पूर्ण सामाजिक-विकासकी शृखलामें आधार-भूत तत्त्व 'अहकार' है।

आर्य-सस्कृतिका दृष्टि-कोण रखनेवालोंने 'अहकार-तत्त्व'के इस विकासमें एक ख़ास चीज देखी थी जिसे देखकर उन्होंने अपने जीवनकी दिशाको बदल दिया था। उन्होंने देखा कि 'अहकार-तत्त्व' के निर्बाध विकासमें एकताके स्थानपर अनेकताकी, समानताके स्थानपर विषमताकी, पारस्परिक मेलके स्थानपर संघर्षकी, प्रेमके स्थान पर द्वेषकी उत्पत्ति होना आवश्यक था। उन्होंने देखा कि 'अहंकार-तत्त्व' व्यक्तिमें परिपाक पाकर कुटुम्बको जन्म देता है। जब व्यक्ति कुटुम्बमें अपने 'अहकार'को पूरा पका लेता है तब वह आगे बढता है और बिरादरीको जन्म देता है। व्यक्तिका 'अहकार' परिवारपर छा जाता है, परन्तु किस व्यक्तिका। परिवारमें तो कई व्यक्ति होते हैं। उसी व्यक्तिका जिसका 'अहकार' प्रबल होता है, दूसरेका नहीं। इसी प्रकार जैसे एक व्यक्तिका 'अहकार' परिवारपर छा जाता है, वैसे एक परिवारका 'अहकार' बिरादरीपर शासन करता है, परन्तु किस परिवारका ? उसीका, जिसका 'अहकार' दूसरे परिवारोंसे प्रबल होता है, और जिसके सामने दूसरे परिवार दब जाते हैं। यह प्रक्रिया अन्ततक होती जाती है। अन्तमें जब देश या

जातिका निर्माण होता है, तो उसमें अनेक सगठन आपसमें बध जाते है, इनमेंसे कुछका 'अहकार-तत्त्व' इतना प्रबल हो चुका होता है कि वह दूसरोपर शासन करता है, कुछका चोट खा चुका होता है, और अन्दर-अन्दर घुटेदम उस मौकेकी ताकमें बैठ जाता है जब यह भी अपना सिर उठा सकेगा और दबनके स्थानमें दबा सकेगा, झुकनेके स्थानमें झुका सकेगा, मरनेके स्थानमें मार सकेगा। 'अहकार-तत्त्व'को आधार बनाकर जिस समाजकी रचना होगी उसका परिणाम सघर्ष होगा। व्यक्तिके 'अहकार'का अभिप्राय है दूसरोको दबाकर स्वय प्रबल होनेकी भावना। यह भावना सघर्षकी मूल है, अनेकता, विषमता, द्वेषकी जननी है। अहकारोके सघर्ष में कुछ खास-खास व्यक्ति समाज, देश तथा जातिपर शासन करने लगते है। इस सारी प्रक्रियामें व्यक्तिका 'अहकार' बढता-बढता परिवार, बिरादरी, समाज, देश, जातिपर छा जाता है, दूसरे अहंकारोको दबाकर अपना सिर ऊचा करता है। इस प्रकार जब अनेक अहंकार-तत्त्वोंके संघर्षमें एक व्यक्ति, एक परिवार, एक समाज, एक जाति, एक देशका 'अहंकार' प्रबल होकर दूसरे व्यक्तियो, दूसरे परिवारो, दूसरे समाजो, दूसरी जातियो, दूसरे देशोको दबा देता है, तब इन दूसरोकी 'अहम्-भावना'का क्या होता है? उनके हृदयमें अपनी दीन दशा देखकर एक रड़क पैदा होती है, और वे घुटे-घटे अपने दबे हुए, कुचले हुए 'अहकार' का बदला लेनेके मनसूबे बांधा करते है। उनका 'अहकार' मिटा नहीं होता, दबाभर होता है। यही कारण है कि 'अहकार'को आधार बनाकर बनाई गई सामाजिक-रचनामें मनुष्य मनुष्यके रुधिरका प्यासा ही हो सकता है, उसे प्यार करने वाला नहीं, देश तथा जातिया दूसरे देशों तथा जातियोंसे लडाई-झगडा ही मोल ले सकती है, उनके साथ मिल-जुलकर नहीं रह सकती। मनुष्य मनुष्यसे प्रेम भी करता है, देश तथा जातिया लडनेके स्थानमें

सुलहकी बातें भी करती है, इसका यह कारण नहीं है कि समाजका भवन 'अहकार'की नींवपर खडा करके भी प्रेम और मेलकी बात हो सकती है। इसका कारण सिर्फ यह है कि सृष्टिका समुचित विकास अहकारको आधार बनाकर नहीं, आत्म-तत्त्वको आधार बनाकर ही सभव है, और इसीलिये 'अहकार' की भावनामें बह रहे विश्वके सामने समय-समयपर 'आत्म-तत्त्व' अपनी झलक दिखाता रहता है। 'अहकार' ससारमें लड़ाई-झगडे, खून-खराबी, मार-काट, उत्पात-उपद्रवके सिवा और कुछ नहीं कर सकता—यह आर्य-सस्कृतिको जन्म देनेवालोका सदियोके अनुभवके बाद निकाला हुआ निष्कर्ष है।

'अहकार'को मिटाकर 'आत्मा'को जगाना वास्तविक विकास है—

तब क्या किया जाय? समाजका विकास किस दिशामें हो, किस प्रकार हो? आर्य-सस्कृतिका कहना है कि 'अहकार' और 'आत्मा'में भेद है, अहंकारको आत्मा समझकर विश्वका विकास होने देना विकास की ठीक दिशा नहीं है, अहंकार आत्माका नहीं प्रकृतिका गुण है, अह-कारका विकास आत्माका नहीं प्रकृतिका विकास है। प्रकृतिमें सतोगुणकी अपेक्षा रजोगुण अधिक है, रजोगुणकी अपेक्षा तमोगुण अधिक है, अत प्रकृतिको आधार बनाकर जो विकास होगा उसमें सात्विक प्रवृत्तियोकी अपेक्षा राजसिक प्रवृत्तिया, और राजसिककी अपेक्षा तामसिक प्रवृत्तिया अधिक प्रबल होगी। इस विकासमें ईर्ष्या-द्वेष, लड़ाई-झगडे-युद्ध स्वाभाविक ही नहीं अवश्यम्भावी होगे क्योकि राजसिक तथा तामसिक-विकास इसी ओर ले जा सकता है। अहंकार और आत्म-तत्त्वके संयोगसे संसार चला, परन्तु अहकारको मिटाकर आत्म-तत्त्व दिनोदिन उभरता आये, प्रकट होता जाय—यही विकासकी ठीक दिशा है। होता तो यह है कि

व्यक्ति अपने घनीभूत अहंकारको लेकर, उसके सारे बलको समेटकर, परिवार, बिरादरी, ग्रूप, समाज, जाति, देशका निर्माण करता जाता है, और अहंकारकी आग सब जगह लगाता जाता है, जिससे मैं-पनेके लिये, मैं बड़ा, तू छोटा—इस भावनाके लिये, अपने-अपने स्वार्थके लिये व्यक्ति व्यक्तिमें लड़ाई, परिवार-परिवारमें झगड़ा, देश-देशमें, जाति-जातिमें वैमनस्य और युद्ध हो रहे हैं, परन्तु यह सब इसलिये होता है क्योंकि हम 'आत्म-तत्त्व'को भुलाये बैठे हैं। हमें अहंकारका नहीं, आत्म-तत्त्वका विकास करना है, प्रकृतिका नहीं, प्रकृतिकी ओटमें छिपी आध्यात्मिक-सत्ताका विकास करना है, अहंकारको मिटाते जाना है, आत्म-तत्त्वको जगाते जाना है। इस दृष्टिसे व्यक्ति ज्यों-ज्यों अगले-अगले विकास-क्रममें से गुजरेगा वह अहंकारको घनीभूत नहीं होने देगा, अहंकारको मिटाता जायगा। वह अहंकारको बढ़ाकर नहीं, उसे मिटाकर परिवारको बनायेगा, परिवारके अहंकारको मिटाकर बिरादरीको, बिरादरीके अहंकारको मिटाकर समाजको जन्म देगा। इस विकास-शृंखलामेंसे गुजरते-गुजरते जब उसका अहंकार बिलकुल मिट चुका होगा तब देश या जातिकी भावनाका उदय होगा। जाति या देशकी जिस कल्पनामें अहंकारकी सत्ता ही नहीं रहेगी, वहां लड़ाई कैसी, झगड़े कैसे, पारस्परिक वैमनस्य कैसा? अहंकार ही तो अनेकताकी, विषमताकी, लड़ाई-झगड़े और विद्वेषकी जड़ है। जब अहंकार न रहा तब अनेकतामें एकता, विषमतामें समानता, विद्वेषमें मेल-जोल और प्रेमका उत्पन्न होना कौन रोक सकेगा? इस विचार-शृंखलासे प्राचीन आर्योंने विश्व-प्रेम और विश्व-बन्धुत्वकी नींवको दृढ़ आधार पर रखा था।

इस समय संसार स्वार्थको आधार बनाकर चल रहा है। हर बात स्वार्थके दृष्टि-कोणसे होती है। इसमें मेरा लाभ है, या नहीं? मेरा लाभ

है तो ठीक, नही तो ग़लत। यह स्वार्थ क्या है? स्वार्थ अहकार ही तो है। जब मैंने अपनको केन्द्र मानकर, अपने व्यक्तित्वकी दृष्टिसे सोचना शुरू कर दिया, वही अहकार आ बैठा, और जहा अहकार आ बैठा वहीं स्वार्थ आ बैठा। स्वार्थको छोडनेके लिये सब कहते है, परन्तु जबतक हम मेरा-तेराकी परिभाषाम बात करेंगे, 'अहकार' की परिभाषामें बात करेंगे, तब तक स्वार्थको कसे छोड सकग? स्वार्थको छोडनेका अभिप्राय है, अहंकार को छोडना। अहकार एक दार्शनिक शब्द है, साख्य-दर्शनने इस शब्दका पारिभाषिक प्रयोग किया है, उसीको स्थूल-भाषामें सबलोग स्वार्थ कहते है। स्वार्थके आधारपर खडी हुई सामाजिक-रचनाका इसके सिवा क्या परिणाम हो सकता है कि एक सीमापर पहुचकर मनुष्य मनुष्यके रुधिर का प्यासा बन जाय। स्वार्थको आधार बनाकर बनाया गया हमारा प्रत्येक सामाजिक-सगठन आज मनुष्यको आगे बढनेके स्थानमें पीछे घसीट रहा है। आजका कुटुम्ब व्यक्तिको उन्नत नहीं कर रहा। जो लोग समाज-सेवामें अपना समय बिता सकते है वे जब कुटुम्ब पालनेमें लगते है तो समाजसे उदासीन हो जाते हैं। व्यक्ति परिवारके लिये लाखो रुपये जमा करता है ताकि उसके बीबी-बच्चे गुलछर्रे उडायें, लेकिन अपने नौकर-चाकरोको भरपेट खानेको भी नहीं देता। कई लोग निकम्मे, समाजके लिये भार-भूत वारिसोके लिये बड़ी-बडी जायदादें जमा करते-करते मर जाते है। समाज-सेवाका ढिढोरा पीटनेवालोके सामने भी जब प्रलोभन आता है तब बच्चोका ख़याल करके वे भी फिसल जाते है। क्रामवेलने अत्याचारी राजाओंसे इग्लैड का पीछा छुड़ाया था, परन्तु अपने ख़ानदानको राजघराना बनानेके लोभमें फस गया। नैपोलियनने फ़्रांसको बहुत आगे पहुचा दिया था, परन्तु उसने भी अपने ख़ानदानको राजघराना बनाकर देशको उतना ही पीछ घसीट लिया। भारतके इतिहासम भिन्न-भिन्न

राजाओंकी लडाइया खानदानोंकी, कुटुम्बोंकी लडाइया है। यह सब क्या सूचित करता है? यह यही सूचित करता है कि व्यक्ति जब स्वार्थकी, अहंकारकी भावनासे कुटुम्बका निर्माण करता है, तो कुटुम्ब व्यक्तिके विकासके मार्गमें रुकावट बनकर खडा हो जाता है, वह उसे आगे नही बढने देता। उसे कुटुम्बसे निकलकर समाज या देशकी सेवाके लिये कदम नहीं बढाने देता। हमें किस बातसे सतोष मिलता है? किस बातमें अपना विकास-सा होता नजर आता है? क्या कीडे-मकौडोंकी तरह अपने और बाल-बच्चोंके पोषणमें रमे रहनेमें आत्माका विकास होता नजर आता है, या यह सब-कुछ करके, उसमेंसे निकलनेमें, विकासके मार्गपर आगे चलनेमें आत्मा विकसित होता नजर आता है? अगर यह बात ठीक है कि अपना भला करनेमें तो सतोष मिलता ही है, परन्तु दूसरोंका भला करनेमें, दूसरोंके लिये मर मिटनेमें आत्माको अधिक सतोष मिलता है, तो क्या बात है कि दुनियां अपने लिये ही मरती है, स्वार्थ ही हमारा लक्ष्य, स्वार्थ ही हमारा सब-कुछ बना हुआ है? इसका कारण यही है कि 'अहकार' हमें आगे नहीं बढने देता। 'अहंकार' 'आत्म-तत्त्व'को पहले परिवारके घेरेमें रोकता है, इनमेंसे वह निकल जाय, तो बिरादरी या ग्रुपके घेरेमें रोकता है, उसमेंसे निकल जाय तो समाज, देश वा जातिके घेरेमें रोकता है। पहले मनुष्य परिवारपर आकर रुक जाता है, यह परिवार ही मेरा सब-कुछ है, और कुछ मेरा नहीं; फिर समाजपर, फिर देश और जातिपर आकर रुक जाता है—यह समाज मेरा, यह देश मेरा, यह जाति मेरी, और कुछ मेरा नहीं। यही भावना तो ससारमें झगडे पैदा करती है। 'अहंकार'का काम है 'आत्म-तत्त्व'को इन बन्धनोंमें बांधते जाना, आत्म-तत्त्वका काम है इन बन्धनोंमेंसे निकलते जाना। 'अहकार'को इन बन्धनोंमें पडे रहनेमें आनन्द आता है, 'आत्म-तत्त्व'को इनमेंसे निकलने

में आनन्द आता है। 'अहंकार' क्योंकि प्रकृतिका गुण है इसलिये उसे इन प्राकृतिक बन्धनोंमें पड़े रहनेमें तृप्ति मिलती है,'आत्म-तत्त्व' क्योंकि प्रकृतिसे भिन्न है, प्रकृतिसे ऊपर है, इसलिये उसे इन बन्धनोंको तोड़नेमें, इनसे मुक्त होनेमें अपना विकास दीख पड़ता है। 'अहंकार' तथा 'आत्म-तत्त्व'के संघर्षमें, अहंकारसे न दबकर उसे अपना साधन बना लेना, अहंकारके फैलाये हुए बन्धनोंको काटनेके मार्गपर आत्म-तत्त्वका चल पड़ना ही आर्य-संस्कृतिका मोक्ष है।

आर्य-संस्कृति 'अहंकार' को मिटाना सिखाती है--

अहंकारका बन्धन इतना प्रबल है कि इसे आसानीसे काटा नहीं जा सकता। संसारके बड़े-बड़े विचारक इस प्रश्नपर सदासे विचार करते आये है कि अहंकारके फैलाये हुए पाशोंको काटकर किस प्रकार आत्म-तत्त्वको मुक्त किया जाय? हम लड़ते-झगड़ते इसीलिये तो है क्योंकि एक परिवारमें, एक बिरादरीमें, एक ग्रुपमें, एक समाज, एक देश, एक जातिमें अपनेको बाध लेते हैं, उसीके हितको अपना हित, उसीके स्वार्थको अपना स्वार्थ समझने लगते है, दूसरोंको अपना शत्रु समझने लगते हैं। क्या-कुछ किया जाय जिससे हम परिवारमें आकर परिवारमें न बधें, समाजमें आकर समाजमें न बंधें, देश और जातिमें आकर उस देश और जातिसे इस प्रकार न बधें कि दूसरोंको अपना शत्रु समझने लगें। प्लेटोका कहना था कि हर बन्धनका प्रारम्भ सन्तान से होता है। अतः सन्तानके उत्पन्न होते ही उसे पालन के लिये किसी दूसरे माता-पिताको दे देना उचित है। जब किसीको यह ख्याल हो कि यह मेरी सन्तान है, तभी वह उसके माया-मोहमें फसता है, उसके लिये दूसरोंका हक मारता है, सम्पत्ति-जायदादको खड़ा करता है। अगर सन्तानको अदल-बदल दिया जाय, तो स्वार्थ और अहंकारका उग्र-

रूप शान्त हो जाय, और परिवार व्यक्तिको पीछे धकेलनेके वजाय आगे ले जानेका, दूसरोको अपने लिये खपानेके वजाय स्वय दूसरोके लिये खपनेका साधन वन जाय। कई लोगो का ख्याल है कि सन्तान माता-पिताके पास रहनी ही नहीं चाहिये। अगर सन्तानोकी अदला-वदली होगी, तव वदली हुई सन्तानमें ही मोह उत्पन्न होने लगेगा, ठीक ऐसे जैसे दत्तक-पुत्रके लिये माता-पितामें मोह उत्पन्न हो जाता है। उनके विचारमें वच्चे समाजकी सम्पत्ति है। सव वच्चोको माता-पितासे अलग शिशु-शालाओमें रखकर पालना चाहिये। मोहके अतिरिक्त, प्रत्येक माता-पिता वच्चोकी पूरी देख-रेख नहीं कर सकता, न उसकी हर आवश्यकताको पूर्ण कर सकता है, ऐसी आवश्यकता जो उसके विकासके लिये जरूरी है। जातिके सव वच्चोको एक ही ढगपर, एक तरीकेसे, एक-से वातावरणमें पालना उत्तम है ताकि न तो कुटुम्वकी ममताके कारण व्यक्तिके विकासमें परिवार रुकावट वन सके, और न राष्ट्रका कोई वच्चा अपनेको दूसरोसे ऊचा या नीचा अनुभव करे, हर वच्चेको खाने-पीने, खेलने-कूदने, शिक्षा आदिकी समान सुविधा हो। भारत जव स्वतंत्र था, जव यहा आर्य-सस्कृतिका राज्य था, तव इस देशमें ऐसा ही होता था। यहां छोटे-वडे—सवके वच्चे राष्ट्रके सुपुर्द कर दिये जाते थे। छोटे-छोटे वच्चोको राष्ट्रके जिन कर्णधारोके सुपुर्द कर दिया जाता था उन्हे 'गुरु' कहा जाता था। जैसे माता-पिताका अपना परिवार है, अपना कुल है, इसी प्रकार इन गुरुओका एक वडा परिवार, एक वडा कुल होता था, जिसे 'गुरुकुल' कहते थे। वच्चेको परिवारसे अलग भी कर दिया जाता था, और रखा भी परिवारमें ही जाता था। वच्चा जीवन प्रारम्भ करते ही वन्धन काटनेके मार्गपर चल पडता था। गुरुकुलोमें पढनेसे वच्चोमें मोह-ममता नहीं रहती थी, छोटे दर्जेकी मोह-ममता जिसका नाम स्वार्थ है, जिसकी जड अहकार है। इनके स्थानमें

उनका जीवन अन्य सब साथियोंके साथ प्रेमके पथपर चल पड़ता था, प्रेमका वह पथ जो अन्तमें विश्व-प्रेम और विश्व-भ्रातृत्वके लक्ष्यतक पहुंचाता था। लोग शिकायत करते हैं कि गुरुकुल शिक्षा-प्रणालीमें बच्चोंको माता-पिताके प्रति ममता नहीं रहती, यह शिकायत नहीं, इस प्रणाली की यह विशेषता है। हां, अगर माता-पिताके प्रति मोह छूटनेके साथ-साथ विश्वके प्राणियोंके प्रति प्रेमकी भावनाका उदय न हो, तब शिकायतका मौका अवश्य है। इस प्रणालीका लक्ष्य बालकको जीवनके प्रारम्भसे ही छोटे-छोटे बन्धनों को काटकर बड़े बन्धनोंमें पड़नेकी शिक्षा देना, और धीरे-धीरे उन बन्धनोंसे भी मुक्त होनेके लिये तय्यार करना था। बालक अपने परिवार, अपने देश, अपने राष्ट्र और अपनी जातिको ही अपना न समझे, प्राणिमात्रको अपना समझे—'वसुधैव कुटुम्बकम्'—इस भावनाको धीरे-धीरे विकसित करता जाय, सब जगह अहंकारका, नानात्वका दर्शन करनेके स्थानमें आत्माका दर्शन करना सीखे। अबतक परिवार 'व्यक्ति'के विकासमें रुकावट बना हुआ है। उसे अपनेसे आगे नहीं जाने देता। इस रुकावटको दूर करनेका एक ही उपाय है—बालकको माता-पितासे अलग कर दिया जाय, अलग करके उसे राष्ट्रकी अमूल्य-निधि समझकर पाला जाय। बालकका पूर्ण-विकास तभी हो सकता है जब वह यह न समझे कि वह अपने माता-पिताका ही बच्चा है, उन्हीं की सेवा करना उसका कर्त्तव्य है, वह यह समझे कि वह राष्ट्रका बच्चा है, उसे राष्ट्रकी सेवा करनी है, और राष्ट्रकी सेवा करते-करते विश्वका कल्याण उसका लक्ष्य है। इसी प्रकार कुटुम्बका पूर्ण-विकास भी तभी हो सकता है जब बच्चोंका मोह टूट जाय, कुटुम्बकी ममता न रहे, और यह ठीक तरहसे समझमें आ जाय कि व्यक्तिके विकासमें कुटुम्ब एक साधन है, साध्य नहीं, उपाय है, लक्ष्य नहीं। बच्चा कुटुम्बके साथ न बंधा

रहे, और कुटुम्ब बच्चेके साथ न बधा रहे—तभी दोनोका समुचित विकास सभव है। बच्चेको कुटुम्बसे अलहदा कर दिया जायगा, तो उसके विकासमें कुटुम्ब जो-जो रुकावटें डालता है, वे स्वय हट जायगी। मा-बाप कहते है, यह मेरा बच्चा है, मै इसे पढाऊ, न पढाऊ, जो चाहू करू! इसके साथ ही उसके विकासमें कुटुम्ब जो-जो सहायता करता है वह सब-कुछ, और उससे बहुत-कुछ बढकर करना राष्ट्रका कर्त्तव्य हो जाता है। इससे व्यक्तिका भी कुटुम्बमें अनुचित मोह, जो बच्चोके कारण पाया जाता है, अपने-आप छूट जायगा। आज व्यक्ति कुटुम्बके मोहमें, उसके बन्धनमें फसा हुआ है। इन छोटे-छोटे बन्धनोमें फसनेके कारण ही तो मेरा-तेराकी भावना पैदा होती है, यही भावना जब उग्र रूप धारण करती है, तब लडाई-झगडे खडे हो जाते है। हम कुटुम्बमें फंस जाते है, उसमें से निकलते है, तो समाज, देश, राष्ट्र, किसी-न-किसी रुकावटमें अटक जाते है, प्राणि-मात्रको अपना नहीं समझते, अहकार जहा उलझ जाता है हम वहीं चक्कर काटते रहते है। झगडेकी इस सारी जटका प्रारम्भ जहांसे होता है, आर्य-संस्कृतिके कर्णधारोने वहीं उगली रख दी थी। उनका कहना था कि कुटुम्बमेंसे बच्चेको लेकर राष्ट्रके सुपुर्द कर देनेसे वे सब बन्धन जो संसारको जकडे हुए है एकदम ढीले पड़ जायेंगे, और उन बन्धनोको काटते-काटते स्वार्थसे परार्थकी तरफ, पारस्परिक वैमनस्य और द्वेषसे विश्व-प्रेम तथा विश्व-भ्रातृत्वकी तरफ, राष्ट्रीयतासे अन्तर्राष्ट्रीयताकी तरफ जाना आसान हो जायगा।

आर्य-सस्कृतिने जब क्रियात्मक रूप ग्रहण किया तब चार आश्रमोके विचारको जन्म दिया। इन आश्रमोमेंसे एक आश्रम वानप्रस्थ-आश्रम है। वानप्रस्थका अभिप्राय है, घर छोड देना, जगलकी राह लेना। पिछले दिनो कई उद्योग होते रहे जिनसे वानप्रस्थ आश्रमोका निर्माण हो, परन्तु

सफलता नही मिली। शायद नई अवस्थाए ही ऐसी नहीं है जिनसे पहलेकी तरहके वानप्रस्थ-आश्रम आजकल भी बन सकें। अगर वैसे आश्रम नहीं बन सकते तब भी वानप्रस्थकी भावनाको जीवनमें घटानेसे कौन-सी परिस्थिति हमें रोक सकती है? वानप्रस्थकी भावना तो यह है कि कुटुम्ब हमारे जीवनका प्रारम्भ है, अन्त नहीं। पुरुषके लिये यह अनुभव करना कि उसकी स्त्री ही उसका ससार नहीं, और स्त्रीके लिये यह अनुभव करना कि उसका पति और बाल-बच्चे ही उसका सर्वस्व नहीं, इन छोटे दायरोंसे बाहरका ससार भी उन्हींका ससार है—यही वानप्रस्थकी भावना है। हमारा जीवन सिर्फ एक या दो व्यक्तियो के लिये ही नहीं, दूसरोंके लिये भी हो, इस भावनाको जागृत करनेसे हम वानप्रस्थके मार्गपर चलेंगे। पचास सालके बाद वानप्रस्थ-आश्रममें चले जाना अच्छा है, परन्तु जीवन-भर वानप्रस्थकी भावनाको बनाये रखना, कुटुम्बमें रहते हुए कुटुम्बमें लिप्त न होना, समाजमें रहते हुए समाजमें लिप्त न होना, देश, राष्ट्र, जातिका भला सोचते हुए इनमें लिप्त न होना, आत्म-तत्त्वके सूत्रको खो न देना सबसे अच्छा है, क्योकि इसी मार्गपर चलकर संसारमें विश्व-शांतिकी स्थापना हो सकती है, और किसी मार्गसे नहीं।

कुटुम्ब, बिरादरी, देश, जाति—ये सब अहकारके तत्त्व हैं—

जैसे कुटुम्ब आत्म-तत्त्वके विकासमें रुकावट है, वैसे बिरादरी भी रुकावटका काम करती है। कुटुम्बके छोटे दायरेमेंसे हमें निकलना है, हमें अपनोको ही नहीं दूसरोको भी अपना समझना है। अहकारके कारण हम दूसरोको दूसरा समझते है, अहकारके मिटते ही दूसरे अपने हो जाते हैं। कुटुम्ब अच्छी चीज है, परन्तु इसमें बुराई यह है कि कुटुम्बमें पडकर मनुष्य कुटुम्बका ही रह जाता है, अपने छोटे-से कुनबेके स्वार्थके लिये

दुनिया भरका वैरी हो जाता है। कुटुम्बके बन्धनको तोडकर जो बिरादरीकी सेवाके लिये निकलता है, वह एक छोटे दायरेसे बडे दायरेमें प्रवेश करता है, परन्तु यहा भी प्रकृति-पुरुषकी, 'अहकार'-'आत्म-तत्त्व'की, एक-दूसरेकी सहायता करते हुए भी एक-दूसरेसे प्रबल होनेकी प्रक्रिया प्रकट होने लगती है। हम जिस बिरादरीके है वह हमारा अहकार बन जाती है, 'मै' बन जाती है, 'मै'को हम 'आत्मा' समझने लगते है, 'आत्मा'के लिये ही सब-कुछ है, इसलिये बिरादरीके लिये हम सब-कुछ करने लगते है। जैसे हम अपने कुटुम्बको ही सब-कुछ समझने लगे थे, वैसे अपनी बिरादरीको ही 'मै'का आदि और 'मै'का अन्त समझने लगते है, बिरादरी व्यक्तियो और परिवारोके स्वार्थोको सिद्ध करनेका, एक दूसरेसे दुश्मनी निकालनेका अखाडा बन जाती है। बिरादरी जहातक व्यक्तिको कुटुम्बसे बाहर निकालकर दूसरोको अपना बनाना सिखाती है, सेवाका अवसर देती है, वहातक तो ठीक है, परन्तु जहां यह समाज-सेवाके मार्गमें बाधा बनकर खडी हो जाती है, वहा इस दीवारको भी तोड गिरानेकी आवश्यकता है। आजकी बिरादरियां ज्यादातर व्यक्तिको पीछे घसीटने का साधन बन रही है, इसलिये जैसे आत्माके विकासके लिये कुटुम्ब बनाकर कुटुम्बसे आगे निकल जाना आवश्यक है, वैसे ही बिरादरी बनाकर बिरादरीसे आगे निकल जाना भी उतना ही आवश्यक है।

बिरादरीके बाद-विस्तृत समाजका क्षेत्र आता है। हम देख चुके है कि व्यक्तिकी उन्नतिके लिये कुटुम्बका, परिवारका होना जरूरी है, परन्तु व्यक्तिकी उन्नतिके लिये कुटुम्बका छोड देना भी उतना ही जरूरी है। व्यक्तिकी उन्नतिके लिये बिरादरीका निर्माण करना जरूरी है, परन्तु उस उन्नतिको जारी रखनेके लिये बिरादरीकी दीवारोको तोड गिराना भी उतना ही जरूरी है। व्यक्तिकी उन्नतिके लिये समाजकी रचना

जरूरी है, परन्तु व्यक्तिके पूर्ण-विकासमें समाज रोड़ा बनकर न खडा हो जाय, इसलिये समाजको पीछे छोडकर आगे चल देना भी उतना ही जरूरी है। अहकार तथा स्वार्थसे परिवार, बिरादरी एव समाजका निर्माण होता है। जब ये बन जाते है, तब ये अहकार तथा स्वार्थको उग्ररूप भी दे सकते है, इन्हें मिटा भी सकते है। अगर इनकी रचनामें 'अहं-भाव' प्रबल हो जायगा, तो व्यक्ति इन्हींमें रुक जायगा, अटक जायगा; अगर 'आत्म-तत्त्व' प्रबल हो जायगा, तो याज्ञवल्क्यकी तरह, इनसे जो कुछ सीखना है वह सीखकर, आगे चल देगा। 'आत्म तत्त्व'के विकासकी यही प्रक्रिया है। परिवारकी पाठशालामें व्यक्ति कोरा स्वार्थी भी हो सकता है, परार्थका, लोक-सेवाका पाठ भी सीख सकता है। पति, पत्नीके लिये, या पत्नी, पतिके लिये कौन-सा स्वार्थ है जो ये दोनो एक दूसरेके लिये नहीं छोड़ देते? बिरादरीकी नाक न कट जाय इसलिये कितनोने अपने अरमानोपर पानी नहीं फेर दिया? अपने समाजके लिये कितने ही है जो कठिन-से-कठिन कष्ट सहनेके लिये तय्यार हो जाते है। परन्तु परिवार स्वार्थ भी तो सिखाता है! अपने बच्चेकी बीमारी दूर करनेके लिये दूसरोके बच्चोपर जादू-टोना करनेवाले मूर्ख माता-पिताओ की अपने देशमें कमी नहीं है। अपनी बिरादरीकी नाक रखनेके लिये हम दूसरी बिरादरियोसे लडाई मोल ले बैठते है। समाजमें भी ेो हम अहंकार और स्वार्थको ही पनपाते है। हमारे समाजने कितनी कठिनाइयोमेंसे गुजरकर नागरिकताके अधिकारको प्राप्त किया है। समय था जब व्यक्ति को कोई पूछता तक न था। इतिहासके पन्ने ऐसे लोगोके खूनसे रगे हुए है जिन्होने नागरिकताके अधिकारोको पानेके लिये अपने प्राणोकी बलि दे दी। यह मत देनेका अधिकार हमें सदियोकी कशमकशके बाद मिला। परन्तु इस अधिकारको पाकर हम इसका क्या उपयोग कर रहे हैं? हमारे

मत-दानसे जो व्यक्ति चुने जाते हैं, वे समाज-सेवाके स्थानमें अपना स्वार्थ सिद्ध करनेमें जुट जाते हैं। बड़े-बड़े पदोंको समाज-सेवाके लिये नहीं, अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये हस्तगत करनेकी कोशिश होती है। हम यह सब-कुछ देखते हुए अपने मतका क्या उपयोग करते हैं? हममेंसे बहुत-से लोग तो मत देते नहीं, जो देते हैं वे, जो उन्हें चाय पिला दे, मोटरकी सैर करा दे, उसे वोट दे आते हैं। सोच-समझकर वोट कम देते हैं, एक-दूसरेका मुंह देखकर, अपना स्वार्थ कैसे सिद्ध होगा यह देखकर, ज्यादा लोग वोट देते हैं। वोट लेनेवाले भी स्वार्थ देखते हैं, देनेवाले भी स्वार्थ देखते हैं। राजनैतिक सस्थाओंको छोड दिया जाय, धार्मिक सस्थाओंका भी यही हाल है। वहा भी आख मींचकर, पार्टीबाजीमें पडकर मत दिया जाता है। धार्मिक सस्थाओंके मन्दिर अहकार तथा स्वार्थके गढ बने हुए हैं। यह सब इसलिये होता है क्योंकि हम समाजको आत्माके विकासमें साधन न समझकर साध्य समझ बैठे हैं। परिवारको बनानेकी आवश्यकता है, परन्तु एक हालतमें आकर परिवारको छोड देनेकी आवश्यकता है, बिरादरी बनानेकी आवश्यकता है, परन्तु एक हालतमें आकर बिरादरीसे आगे निकल जानेकी आवश्यकता है, समाज बनानेकी आवश्यकता है, परन्तु एक हालतमें आकर समाजको छोड़कर आगे बढ़ जानेकी आवश्यकता है। यह अवस्था तब आती है जब हम समाज-सेवा करते-करते समाजसे छूट नहीं सकते, समाजसे चिपटने लगते हैं, अहंकारको आत्मा समझने लगते है। हम आत्म-विकासकी एक लम्बी यात्रापर निकले थे, उस यात्राके एक पड़ावपर घर बनाकर वहीं अटक जाना ग़लती है। आत्माके विकासका यह लम्बा मार्ग अहकार और स्वार्थको मिटानेके लिये है। कुटुम्ब, बिरादरी, समाज—ये तीनों स्वार्थ भी सिखाते हैं, परार्थ भी। इनका असली उद्देश्य हमें स्वार्थमेंसे गुजारकर परार्थका पाठ सिखाना है। परार्थका पाठ तभी पढ़ा जाता है,

जब मनुष्य स्वार्थमेंसे गुजर लेता है। समय-समयपर अवसर आते हैं जब कुटुम्ब आदि, व्यक्तिको, स्वार्थमेंसे गुजारते हुए उग्र स्वार्थके मार्ग पर ही डाल देते हैं। उस समय स्वार्थके मार्गपरसे हट जानेवाला जीवनके लक्ष्यकी तरफ ठीक-से चलने लगता है। जिस क्षण कुटुम्ब कोरे स्वार्थकी तरफ ले जाने लगे, जिस क्षण बिरादरी निरे स्वार्थके मार्गपर डाल दे, जिस क्षण समाजके कार्यमें अहकार और स्वार्थ ही दीखने लगे, उसी क्षण कुटुम्ब-बिरादरी-समाजको छोड देना, इनसे अलग हो जाना, इन्हे आत्म-विकासके मार्गमें रुकावट समझ लेना आर्य-संस्कृतिकी वर्तमान युगको सबसे बड़ी देन है।

देश, जाति और राष्ट्र क्या है? कुटुम्ब, बिरादरी और अपने छोटे-से समाजके घेरेमें जो व्यक्ति कैद है, उसे देश, जाति, राष्ट्र कहां दिखाई देते हैं? इन छोटे-छोटे दायरोको लाघकर जो आगे चलता है वह राष्ट्रीयता के विशाल क्षेत्रमें आता है। सैकडोमें एक होगा जो कुटुम्बको छोडकर बिरादरीकी सेवाका संकल्प करता है, बिरादरीकी सेवा करनेवाले सैकडो में एक होगा जो उसे छोडकर समाजकी सेवाकी तरफ पग बढाता है, अपने छोटे-से समाजकी सेवा करनेवाले सैकडोमेंसे एक निकलता है जो देश, जाति या राष्ट्रकी सेवा करता है। परन्तु देश, जाति तथा राष्ट्रकी सेवामें भी अहकार और स्वार्थ आकर मानव-जातिके विकासमें रुकावट बन जाते हैं। हो सकता है, इस ऊचे क्षेत्रमें आकर 'स्वार्थ' उतना बाधक न रहता हो जितना 'अहकार'। देश, जाति और राष्ट्रकी सेवामें 'अहकार' क्या कुछ नहीं करता, इसे आजका संसार तो देरतक भूल ही नहीं सकता। हिटलरको विश्वास था कि जर्मनी ससारमें एक-छत्र राज्यके लिये बनाया गया है। इस 'अहंकार'ने क्या-कुछ नही किया? मुसोलिनीको विश्वास था कि इटली ससारकी सबसे बडी शक्ति बनकर रहेगा। वह भी दुनियाँ

किधर धकेलकर ले गया? जापानको विश्वास था कि वह एशियाई ोंमें राज्य करेगा। जापानका 'अहंकार' उसके विनाशका कारण बन ा। भारतमें जो-कुछ हुआ वह क्या था? एक जातिका 'अहकार' जाग ा। इस 'अहकार'ने खूनकी नदियाँ बहा दीं, मनुष्यको पिशाच बना ा। सदियोंतक जो लोग साथ-साथ रहे, सुखमें साथ हसे, दु खमें साथ ये—वे पशुसे भी नीचे गिर गये। पशु दूसरे पशुको तो मारता है, अपनी तिके पशुको नहीं मारता। शेर शेरका शिकार नहीं करता। आज ुष्य मनुष्यका शिकार करने लगा है। जगलके जानवर अगर बोल कते तो कह देते कि ऐसी लडाई मनुष्य ही कर सकता है, पशु इतने गिरे ! नहीं है। जाति-गत, देश-गत, राष्ट्र-गत 'अहकार' किसीमें भी जाग कता है। हिटलरमें जागा, मुसोलिनीमें जागा, जापानमें जागा, और तीनोंने मिलकर पाच वर्षतक ससारमें मृत्यु और विनाशका ताडव- य करके दिखा दिया। हमने अपने देशमें क्या किया? हिन्दुओं और सलमानोंने जो-कुछ किया वह किया, हिन्दुओंमें ही कोई ऊची जाति । है, कोई नीची जातिका। आज जाति, देश, राष्ट्र मानवको मानवसे दा करनेवाली ऊची-ऊची दीवारें बनकर खडे हो गये हैं, ये मिलानेके थानमें जुदा करनेके साधन हो गये हैं।

ार्य-संस्कृतिका लक्ष्य सेवाधन नहीं, विश्व-बन्धुत्व है—

तो क्या 'मेरी जाति', 'मेरा देश', 'मेरा राष्ट्र'का विचार मानव-माजके विकासमें बाधक है? बेशक बाधक है, वैसे ही बाधक है जैसे ुटुम्ब, बिरादरी, हमारा छोटा-सा समाज मानवके विकासमें बाधक । यह ठीक है कि कुटुम्बके बिना भी व्यक्तिका विकास नहीं हो सकता, बरादरी और समाजके बिना भी मनुष्य आगे नहीं बढ सकता। देश,

जब मनुष्य स्वार्थमेंसे गुजर लेता है। समय-समयपर अवसर आते हैं जब कुटुम्ब आदि, व्यक्तिको, स्वार्थमेंसे गुजारते हुए उग्र स्वार्थके मार्ग पर ही डाल देते है। उस समय स्वार्थके मार्गपरसे हट जानेवाला जीवनके लक्ष्यकी तरफ ठीक-से चलने लगता है। जिस क्षण कुटुम्ब कोरे स्वार्थकी तरफ ले जाने लगे, जिस क्षण बिरादरी निरे स्वार्थके मार्गपर डाल दे, जिस क्षण समाजके कार्यमें अहकार और स्वार्थ ही दीखने लगे, उसी क्षण कुटुम्ब-बिरादरी-समाजको छोड़ देना, इनसे अलग हो जाना, इन्हे आत्म-विकासके मार्गमें रुकावट समझ लेना आर्य-संस्कृतिकी वर्तमान युगको सबसे बडी देन है।

देश, जाति और राष्ट्र क्या है? कुटुम्ब, बिरादरी और अपने छोटे-से समाजके घेरेमें जो व्यक्ति कैद है, उसे देश, जाति, राष्ट्र कहा दिखाई देते है? इन छोटे-छोटे दायरोको लाघकर जो आगे चलता है वह राष्ट्रीयता के विशाल क्षेत्रमें आता है। सैकड़ोमें एक होगा जो कुटुम्बको छोडकर बिरादरीकी सेवाका सकल्प करता है, बिरादरीकी सेवा करनेवाले सैकडो में एक होगा जो उसे छोडकर समाजकी सेवाकी तरफ पग बढाता है, अपने छोटे-से समाजकी सेवा करनेवाले सैंकडोमेंसे एक निकलता है जो देश, जाति या राष्ट्रकी सेवा करता है। परन्तु देश, जाति तथा राष्ट्रकी सेवामें भी अहंकार और स्वार्थ आकर मानव-जातिके विकासमें रुकावट बन जाते है। हो सकता है, इस ऊचे क्षेत्रमें आकर 'स्वार्थ' उतना बाधक न रहता हो जितना 'अहकार'। देश, जाति और राष्ट्रकी सेवामें 'अहंकार' क्या कुछ नहीं करता, इसे आजका संसार तो देरतक भूल ही नहीं सकता। हिटलरको विश्वास था कि जर्मनी संसारमें एक-छत्र राज्यके लिये बनाया गया है। इस 'अहकार'ने क्या-कुछ नही किया? मुसोलिनीको विश्वास था कि इटली संसारकी सबसे बडी शक्ति बनकर रहेगा। वह भी दुनियाँ

को किधर धकेलकर ले गया? जापानको विश्वास था कि वह एशियाई देशोंमें राज्य करेगा। जापानका 'अहकार' उसके विनाशका कारण बन गया। भारतमें जो-कुछ हुआ वह क्या था? एक जातिका 'अहकार' जाग गया। इस 'अहकार'ने खूनकी नदियाँ बहा दीं, मनुष्यको पिशाच बना दिया। सदियोंतक जो लोग साथ-साथ रहे, सुखमें साथ हसे, दु खमें साथ रोये—वे पशुसे भी नीचे गिर गये। पशु दूसरे पशुको तो मारता है, अपनी जातिके पशुको नही मारता। शेर शेरका शिकार नहीं करता। आज मनुष्य मनुष्यका शिकार करने लगा है। जगलके जानवर अगर बोल सकते तो कह देते कि ऐसी लडाई मनुष्य ही कर सकता है, पशु इतने गिरे हुए नहीं है। जाति-गत, देश-गत, राष्ट्र-गत 'अहकार' किसीमें भी जाग सकता है। हिटलरमें जागा, मुसोलिनीमें जागा, जापानमें जागा, और इन तीनोंने मिलकर पाच वर्षतक ससारमें मृत्यु और विनाशका ताडव-नृत्य करके दिखा दिया। हमने अपने देशमें क्या किया? हिन्दुओं और मुसलमानोंने जो-कुछ किया वह किया, हिन्दुओंमें ही कोई ऊंची जाति का है, कोई नीची जातिका। आज जाति, देश, राष्ट्र मानवको मानवसे जुदा करनेवाली ऊची-ऊची दीवारें बनकर खड़े हो गये है, ये मिलानेके स्थानमें जुदा करनेके साधन हो गये है।

आर्य-सस्कृतिका लक्ष्य मेरापन नही, विश्व-बन्धुत्व है—

तो क्या 'मेरी जाति', 'मेरा देश', 'मेरा राष्ट्र'का विचार मानव-समाजके विकासमें बाधक है? बेशक बाधक है, वैसे ही बाधक है जैसे कुटुम्ब, बिरादरी, हमारा छोटा-सा समाज मानवके विकासमें बाधक है। यह ठीक है कि कुटुम्बके बिना भी व्यक्तिका विकास नही हो सकता, बिरादरी और समाजके बिना भी मनुष्य आगे नहीं बढ़ सकता। देश,

जाति तथा राष्ट्रका विचार भी एक खास सीमातक मानव-समाजके विकासके लिये आवश्यक है। जब किसी अन्धी, जोशीली जाति, देश या राष्ट्रके लोग दूसरोको मिटानेके लिये उमड पडें तब विश्व-बन्धुत्व की पुकार कायरताकी पुकार होगी। ऐसे गिरोहोको खुली छूट देना संसारेके भाग्यको गीधो और चीलोके लिये छोड देना है। किसी उद्देश्यतक पहुंचनेके लिये बीचके मार्गको तय करना जरूरी है। जो व्यक्ति बीचके मार्गको छोडकर एक छलागमें ऊपर पहुंचना चाहता है वह औंधे मुह जा गिरता है। आर्य-संस्कृतिका ध्येय विश्व-बन्धुत्व है, परन्तु अपनी जातिका, अपने देशका, अपने राष्ट्रका सगठन ध्येय-प्राप्तिके मार्गमें एक मंजिल है, एक पड़ाव है। यह सब-कुछ होते हुए भी इस बातको समझ लेना कि छोटा सगठन बडे संगठनकी तरफ ले जानेवाला है, स्वयं लक्ष्य नही, लक्ष्यतक पहुचनेका साधन है, हमारा अस्ली लक्ष्य एक महान् सगठन है, वह सगठन जिसमें प्रत्येक प्राणीको हम 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'—बन्धु और मित्रकी आखोसे देख सकें, जिसमें 'अहं-भाव' को कोई स्थान नहीं, जिसमें 'आत्म-तत्त्व' अपने प्रखर वेगसे प्रस्फुटित हो रहा है—यही आर्य-सस्कृतिके विकासकी वास्तविक दिशा है।

आज संसारको आगे बढनेकी आवश्यकता है। हरेक जाति, देश और राष्ट्र अपने अहंकारके मदमें यह समझे बैठा है कि दुनियाँ में उसीको रहनेका हक़ है, दूसरोको नहीं, वह विश्वकी नियामक-शक्ति द्वारा चुना हुआ राष्ट्र है। यहूदी अपनेको चुनी हुई जाति समझते थे, आज उन्हें कोई पूछनेवाला नहीं। मुसलमान समझते थे कि उन्हे खुदाने गुम-राहोको रास्ता दिखानेके लिये चुना है परन्तु इतिहास साक्षी है कि वे खुद गुमराह हो गये। जातियोके अहकारने उनमें अपने चुने हुए होनेका ख्याल पैदा किया, इसका परिणाम है कि आज हरेक जाति दूसरोकी शत्रु

बनी हुई है। आर्य-संस्कृतिका सदेश जातियोके अहंकारको मिटाकर, उनके भेद-भावको दूरकर ससारमें एकता, प्रेम और विश्व-बन्धुत्वकी भावनाको जागृत करना है, क्योकि 'अहंकार'की जड बढती-बढती एकको दूसरेसे अलग करती और 'आत्म-तत्त्व'की जड बढती-बढती एकको दूसरेसे मिलाती है। आर्य-सस्कृति उस युगको लाना चाहती है जिसमें काले-गोरेका भेद न हो, पूर्व-पश्चिमका भेद न हो, धनी-निर्धनका भेद न हो, जिसमें भिन्न-भिन्न देशो, जातियो और राष्ट्रोका भेद न हो। हम सबके लिये सारा भूमण्डल अपना देश हो, हरेक इन्सान अपना भाई हो, हम प्राणी-प्राणी में आत्माका दर्शन करें, भिन्नताको नहीं, एकताको, आत्म-तत्त्वको पहचानें।

इस युगको लानेके लिये ससारमें सदासे प्रयत्न होते रहे है। सिकन्दर को यह पसन्द नहीं था कि ससार भिन्न-भिन्न टुकड़ोमें बटा रहे। वह दुनियाँ को एक बनाना चाहता था। उसने तलवार उठाई और एक सिरेसे दूसरे सिरेतक तलवारके जोरपर दुनियाँको एक बनानेके लिये निकल पडा। अरब के मुसलमानोने भी डडेके जोरपर दुनियाको एक बनाना चाहा। हमारे देखते-देखते जर्मनोने दो बार कोशिश की, और ससारको पशु-बलके द्वारा एकताके सूत्रमें पिरोना चाहा। परन्तु ससारके अबतकके किये गये परीक्षण यही बतलाते है कि 'अहकार'का आश्रय लेकर, डडेके बल पर, ससार एक नही हो सकता। आज जो थोडी-बहुत एकता एटम-बम्ब के जोरपर दिख रही है वह देरतक नहीं टिक सकती। १९१४ की लडाई के बाद 'लीग आफ नेशन्स'की स्थापना की गई, परन्तु आज वह खतम हो चुकी है। चोरो और लुटेरोमें देरतक सुलह नहीं रह सकती। १९३९ की लडाईके बाद 'युनाइटेड नेशन्स आरगनाइजेशन'की स्थापना हुई, परन्तु इसमें भी जातियोका अहकार एकताको नहीं उत्पन्न होने दे रहा। अहकार प्रकृतिका गुण है, आत्माका नहीं—यह आर्य-सस्कृतिकी बार-बार

की घोषणा है । जबतक अहकार प्रबल रहेगा तबतक प्रकृति आत्म-तत्त्व को उभरने नही देगी। एकता, प्रेम, विश्व-बन्धुत्व आत्माके गुण है । इन गुणोको लानेके लिये हमें अहंकारको छोडकर आत्म-तत्त्वकी दिशामें जाना होगा। अहंकारकी प्रबलताके कारण ही अमरीका और रूस देखनेको एक टेबलपर बैठते है, परन्तु हृदयसे वे एक-दूसरेसे दूर है, जितनी दूर वे नक्शेमें दिखाई देते है। अबतकके परीक्षण पुलिस, फौज, तोप, बन्दूक और एटम-बम्बसे ससारको एक बनाना चाहते है, परन्तु ससारका आज तकका इतिहास बतलाता है कि पुलिसके डडेसे, फौजके डरसे और एटम-बम्बकी धमकीसे संसार एक नहीं हो सकता।

आजसे दो हजार साल पहले संसारको एक बनानेका परीक्षण भारतमें भी हुआ था । सम्राट् अशोकने ससारके कोने-कोनेमें अपने विश्व-शातिके दूत भेजे थे। उन दूतोके जरिये अशोकने देश-विदेशके मानव-समाजको सदेश भेजा था, और कहा था कि आजतक मनुष्य मनुष्यका वरी रहा, वह भिन्न-भिन्न जातियो, भिन्न-भिन्न देशो और भिन्न-भिन्न राष्ट्रोमें बटा रहा, परन्तु इस भिन्नतामें उसे ईर्षा, द्वेष, वैमनस्यके सिवा कुछ नहीं मिला । अब समय आ गया है कि हम भूल जाय कि हमारी जाति क्या है, देश क्या है, राष्ट्र क्या है । हमारा देश 'ससार' है, हमारी जाति 'मनुष्य' है। अशोकने तलवारका नहीं, मानवताका, अहंकारका नहीं, आत्म-तत्त्वका सदेश भेजा था । अशोकसे भी हजारो साल पहले आर्य-सस्कृतिने मानव-समाजको यही एकताका सदेश दिया था । वैदिक-आर्योंने घोषणा की थी—'समजन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्रा.'—सम्पूर्ण मानव-समाज अमृतका पुत्र है, मनुष्य मनुष्यका भाई है । आज जब कि हजारो सालोकी दासताके बाद हम फिरसे मानव-समाजके विकासमें हिस्सा लेनेके लिये स्वतन्त्र हुए है, हम आर्य-सस्कृतिके इस पुराने एकताके सन्देशके फिरसे वाहक बन सकते है।

हम देख रहे हैं कि ससार पहलेसे बहुत छोटा हो गया है। जहा पहले कभी इग्लैडसे भारत आनेमें तीन महीने लग जाते थे वहा धीरे-धीरे पन्द्रह दिनमें हम एक देशसे दूसरे देशमें जाने लगे, और अब हवाई कोमेटके जरिये तो हम एक दिनमें बडी-से-बड़ी दूरी तय करने लगे है। रेल, तार, रेडियो, टेलीवीजन, हवाई जहाजने इस विशाल विश्वको एक छोटा-सा घर बना दिया है, नदियो, पहाड़ो, घाटियो और समुद्रोकी दूरीको दूर कर दिया है। परन्तु क्या इस भौतिक दूरीके हट जानेसे मनुष्य मनुष्यके ज्यादा निकट आ गया है? आज तो मनुष्यके लिये पहलेसे भी भयकर स्थिति पैदा हो गई है। पहले जब हम एक दूसरे देश तक पहुच नहीं पाते थे, उस समय हमें एक-दूसरेसे कोई खतरा नहीं था। आज दूरी मिट गई है। हम एक-दूसरेके इतने निकट हो गये है जैसे बगलमें ही बैठे हो। परन्तु हमारी बग़लमें बैठे हरेकके हाथमें छुरा है, हरेकके हाथमें तलवार है, हरेकको पाकेटमें रिवालवर है, हरेकके पास एटम-बम्ब है। किसी भी क्षण, कोई भी सारे विश्वको तहस-नहस कर सकता है। अब अगर विनाश होगा तो एक या दो देशोका नहीं, सारी पृथिवी राख हो जायगी। इससे तो हम दूर-दूर ही अच्छे थे। आज भौतिक-दृष्टिसे इन्सानको इन्सान से दूरी हट गई है, परन्तु अन्दरसे इन्सान इन्सानसे पहलेसे भी ज्यादा दूर चला गया है। हम अहंकार-तत्त्वके होते हुए भी भौतिक-दृष्टिसे एक-दूसरेके नजदीक आते चले जा रहे हैं क्योंकि अहकार कितना ही प्रबल क्यो न हो, अन्तमें आत्म-तत्त्व ही प्रबल होनेवाला है, सृष्टिका विकास, इसका खिचाव आत्माकी तरफ ही होकर रहेगा, परन्तु अगर हम जागरूक होकर इस विकासमें अपना हाथ बटायें, तो यह भौतिक-एकता आत्मिक-एकतामें परिणत हो सकती है। अगर हाथ न बटायें, तो भौतिक-एकता एक बाहर का ढाचामात्र होगी, वास्तविक एकता दूरकी और देरकी चीज़ हो

जायगी। आज जो नवीन-युग हमारे सामने आनेवाला है उसकी एक प्रवल माग है। उस मांगको आर्य-संस्कृति पूरा कर सकती है। हम सदियोंसे भिन्न-भिन्न वर्गोमें बंटे रहे हैं। हमने अपने-अपने देशकी परिधियां वनाई, और दूसरे देशोको अपना शत्रु समझा। अपनी-अपनी जातियां वनाइं, और दूसरी जातियोको अपना शत्रु समझा। काले-गोरेका भेद खडा किया, अमीर-गरीवके वर्ग वनाये, और इन सवको एक-दूसरेका शत्रु समझा। यह सब हमने 'अहंकार'को प्रवल करके, 'आत्मा'को दवाकर किया। आर्य-संस्कृति देशकी परिधियोको, जातियोकी भिन्नताको, काले-गोरे, अमीर-गरीवके अन्तरको—एक शव्दमें, 'अहकार'को मिटाकर 'आत्म-तत्त्व'को जागृत करना चाहती है। विज्ञानने संसारके मानवको एक-दूसरे के निकट लाकर खडा कर दिया है, परन्तु वह मनुष्यके मनमें खडी हुई हिमालयके समान ऊंची दीवारोको ढाह नहीं सका, आर्य-संस्कृति आत्मवाद के सहारे इन भीतरी दीवारोको तोड गिराना चाहती है। ईर्षा, द्वेष, वैमनस्य, युद्ध और अशांति में डूबे हुए मानव-समाजको विश्व-प्रेम, विश्व-वन्धुत्व और विश्व-शांतिपर लानेका यही सही रास्ता है, वह रास्ता जो प्राचीन-भारतके अनुभवरूपी दुर्गम वनोमेंसे होकर निकला है, वाकी सव रास्ते, चाहे वे अमरीकासे निकलें, चाहे रूससे, क्योंकि उनका आदि-स्रोत 'अहंकार' है, 'आत्म-तत्त्व' नहीं, वे एकताको लक्ष्य वनाकर तो चलेंगे परन्तु मानव-समाजको अनेकता और विषमतापर ले जाकर छोड देंगे। एकताको लक्ष्य वनाकर इसलिये चलेंगे क्योंकि विश्वकी आधार-भूत 'आत्म-सत्ता' रह-रहकर उन्हे ठीक मार्गपर लानेका प्रयत्न करती है, परन्तु अनेकता और विषमतापर इसलिये पहुंच जायेंगे क्योंकि उनके जीवनकी वागडोर 'आत्म-तत्त्व'के हाथमें नहीं, 'अहकार'के हाथमें है।

[८]

जीवन-यात्राके चार पड़ाव

जीवन-विषयक दो दृष्टियां--भोग तथा त्याग--

बम्बईका शहर है, सामने लम्बी सडक है, लोगोकी भारी भीड उमड़ी चली जा रही है, कन्धेसे कन्धा टकराता है, कुछ आ रहे हैं, कुछ जा रहे हैं, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध-युवा सभी है । किसीको खडा करके पूछिये, क्यो भाई, क्या हुआ, इस तरह बेतहाशा किधर भागे जा रहे हो, तो वह बिना रुके, चलता-चलता जो कह जाता है उसका मतलब होता है, रोटीका फिक्र, आगे-पीछेका फिक्र नहीं, आजका और अबका फिक्र--इसी फिक्रमें, वह क्या और दूसरे क्या, सभी भागे जा रहे हैं। अब हरद्वारका नजारा देखिये। गगाका तट है, हरकी पैडी, सैकडो साधु भगवा रमाये इधर-उधर टहल रहे हैं। कुछ मण्डली लगाये धर्मकी चर्चा कर रहे है । किसी मण्डलीमें जाकर पूछिये, महात्मा लोगो ! आपको मालूम है, आज संसारकी क्या दशा है, रोटीका प्रश्न सबको व्याकुल कर रहा है, इसी समस्याको हल करनेमें प्रत्येक व्यक्ति जुटा हुआ है, तो वे क्या उत्तर देते है ? महात्माओ की मण्डली कहती है, हा, हमें मालूम है, परन्तु हमें इससे क्या, हम तो आत्माके चिन्तनमें लगे हुए है, आजकी और अबकी नहीं, हम आगे

और पीछेकी समस्याको हल करनेमें लगे है। ससार अनित्य है, घर-बार, बन्धु-बान्धव, स्त्री-पुत्र सब अनित्य है, इन्हे छोड़ हम नित्य आत्मा-परमात्माकी खोजमें लगे हुए है।

जीवनके विषयमें यही मोटे-मोटे दो विचार है। एक वर्तमानमें जीना चाहता है, उसे भविष्यत्का विचार नहीं; दूसरा भविष्यत्के लिये जीना चाहता है, उसे वर्तमानका ख्याल नहीं। जीवनके विषयमें ये दो दृष्टिया जहा भी जीवनपर विचार हुआ, उत्पन्न हो गई। प्राचीन ग्रीसके विचारकोमें वर्तमानमें जीनेवाले 'एपीक्यूरिअन' (Epicureans) कहलाते थे, भविष्यत्के लिये जीनेवाले 'स्टोइक' (Stoics) कहाते थे। एपीक्यूरिअन लोगोके विषयमें कहा जाता है कि वे जीवनका सम्पूर्ण आनन्द, जल्दी-से-जल्दी, जितना हो सके उतना, आज और अभी लूट लेना चाहते थे, आगे क्या होता है, क्या नहीं होता—इसका उन्हें कोई भरोसा नहीं था। स्टोइक लोग तपस्वियोका जीवन व्यतीत करते थे, आजका ख्याल न करके, आगे जो होगा उस दृष्टिसे जीवनका कार्यक्रम बनाते थे। इनमें से एक भोग-मार्ग था, दूसरा त्याग-मार्ग था। ससारके इतिहासमें इन्ही दो मार्गोंमेंसे किसी एक मार्गपर मानव-समाज चलता आ रहा है। कुछ लोग भोग-मार्गके उपासक रहे है, वर्तमानमें डूबे रहे है, कुछ लोग त्याग-मार्गके उपासक रहे है, भविष्यत्की चिन्तामें वर्तमानका तिरस्कार करते रहे है। इन दोनो मार्गोंको मिलानेका यत्न बहुत थोड़े लोगोने किया है। महात्मा बुद्धने आध्यात्मिकताके शिखरपर खडे होकर आवाज दी, और सैकडो-हजारो घरानोमें भिक्षु और भिक्षुणियोको उत्पन्न कर दिया, शकराचार्यके 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'के जयघोषको सुनकर घरो-के-घर भगवा डालकर खाली हो गये, मसीहके पीछे चलकर कितने ही लखपतियोके बालक साधु बन गये। इसके विपरीत ससारके जजालमें फसानेके लिये तो किसी

बड़े उद्योगकी आवश्यकता ही नहीं, इधर तो मनुष्यकी प्रवृत्ति ही उसे घसीटे लिये जाती है, इसलिये जहां बुद्ध, शकराचार्य और मसीहके पीछे इने-गिनोने कदम बढ़ाया, वहा मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तिने अधिकाश व्यक्तियोको सदासे ससारमें बाधे रखा।

आर्य-सस्कृतिका दृष्टिकोण—भोग-त्यागका समन्वय है—

जीवनके इन दो मार्गोपर आर्य-सस्कृतिके विचारकोने खूब सोचा-समझा था। मनुष्य भोगका जीवन व्यतीत करे या त्यागका, दुनियामें रहे और इसका पूरा-पूरा आनन्द उठाये या इससे भागनेकी चिन्ता करे, वर्तमानमें जीवन-रसके घूट पीनेमें मस्त रहे या भविष्यत्की सोचे, प्रवृत्ति-मार्गपर चले या निवृत्ति-मार्गपर—इस प्रश्नको भारतके प्राचीन ऋषियोने एक अनोखे तौरपर हल किया था। उन ऋषियोने गाया था—'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत्, तेन त्यक्तेन भुजीथा मा गृध कस्यस्विद्धनस्'—हे मानव! ससारका सम्पूर्ण भोग्य-पदार्थ तेरे पिता परमात्माका है। यह वैभव उसका है, उसका समझकर इसका उपभोग कर, जैसे तुझे मिला है वैसे किसी दिन तुझसे छूट भी जाना है—यह समझकर, इसे अपना न समझकर उपभोग कर, त्यागपूर्वक उपभोग कर, निवृत्तिपूर्वक प्रवृत्ति कर, जब छोडनेकी घंटी बजे तब छोडनेके लिये तय्यार रहकर उपभोग कर।

भोग-त्याग, प्रवृत्ति-निवृत्ति, वर्तमान-भविष्यत्—ये दोनो विकट समस्याएं हैं, आर्य-सस्कृतिने इन दोनोका समन्वय कर दिया था। भोग ठीक है, परन्तु भोगका अन्त त्यागमें है, प्रवृत्ति ठीक है, परन्तु प्रवृत्तिका अन्त निवृत्तिमें है, वर्तमान ठीक है, परन्तु वर्तमानका प्रारंभ भूत और अन्त भविष्यत्में है, भोग और प्रवृत्ति इसलिये करे ताकि त्याग और निवृत्तिकी भावना

पक्की हो जाय। ससारका अन्त त्याग और निवृत्ति है, यह न हो कि जब मनुष्य त्यागकी अवस्थामें पहुचे तब भोगकी वासना बनी रहे, और उसे त्यागमेंसे फिर-फिर खीचकर भोग और प्रवृत्तिकी तरफ धकेलती रहे। त्यागकी अविचल चट्टानपर खडा होकर मनुष्य भोगके लुभावने रूपकी तरफ आख उठाकर भी न देखे—यह तभी हो सकता है जब वह भोगमेंसे गुजर आये—उसकी नश्वरताको व्याख्यानोद्वारा नहीं, अनुभवद्वारा परख आये। भोग टिकनेवाला नहीं—इस बातकी अमिट छाप मस्तिष्कमें बिठानेके लिये ही भोगको रचा गया है, प्रवृत्तिकी तरफ हम फिर-फिर न लौटें—यही प्रवृत्तिका अन्तर्निहित उद्देश्य है। जितने भोग है वे त्यागकी तरफ ले जाते है, जितनी प्रवृतियां है वे निवृत्तिकी तरफ ले जाती है, जितना वर्तमान है वह भविष्यत्‌की तरफ ले जाता है। भोग और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति, वर्तमान और भविष्यत्‌के इस समन्वयको लेकर भारतके ऋषियोने एक वैज्ञानिक ढंगपर जीवनका कार्य-क्रम बनाया था।

ब्रह्मचर्याश्रम—

ससारका प्रारभ भोग है, अन्त त्याग है—इस व्यावहारिक सत्यको लेकर हमारे पूर्वज चले थे। प्रारभ भोग है, तो क्या जीवनको भोगसे ही प्रारंभ करना होगा? नहीं,—भोग भी तो बिना त्यागके नही भोगा जाता। जो ससारके ऐश्वर्योमें ही पला है, उसके लिये इन ऐश्वर्योका मूल्य क्या रह जाता है? जिसने चने चबाकर जीवनका निर्वाह किया हो, उसे मोहनभोगका जो आनन्द मिलता है, वह दिन-रात मोहन-भोगमें रहनेवालेको कहां मिल सकता है? लकड़ीके तख्ते और कड़ी जमीन पर सोनेवालेके लिये पलग और गदेलोपर सोनेका जो मजा है, वह बचपनसे

ही गदेलोपर सोनेवालेको कहां नसीब होता है ? नंगे पांव और नगे सिर कडी धूपमें मेहनत करनेवालेको जब जूता पहनने और छतरी ओढनेको मिलती है, तो वह उड़ा-उड़ा फिरता है । जिसने बचपन ही जूतो और छतरियोमें काटा हो उसे खसकी टट्टियोके लगे रहनेपर भी गर्मी सताती है । इसीलिये भारतके प्राचीन ऋषियोने मनुष्य-जीवनका प्रारभ इस व्यावहारिक सत्यको समझकर ही किया था कि यद्यपि ससारका प्रारभ भोग है, परन्तु भोग भी बिना त्यागके नहीं भोगा जा सकता । जीवनकी इस प्रथम साधनाका नाम उन्होने 'ब्रह्मचर्य-आश्रम' रखा था ।

ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रमके लिये तय्यारीका आश्रम था । ससारके ऐश्वर्योंका जीवनमें पूरी तरहसे उपभोग किया जा सके इसीलिये ब्रह्मचर्यावस्थामें बालकको संसारके ऐश्वयोसे दूर रखा जाता था । ससारको भोगनेके लिये ससारके लिये भूख पैदा करनेकी जरूरत है। भूख पैदा हो जाय, तो भूखमें ज्यादा न खाया जाय, इस समझके पैदा करनेको और भी ज्यादा जरूरत है। आज उस भूखके पैदा होनेसे पहले ही हमारे बालक विषयरूपी भोगोको कुतरने लगते है, इसीका परिणाम है कि जब वे जवानीमें पहुचते है, उस आयुमें पहुंचते है जब प्रकृति उन्हें ससारका उपभोग करनेकी इजाजत देती है, तब उनमें उत्साह नहीं रहता, उन्हे अपना जीवन खोखला नजर आने लगता है । हमारे युवकोमें कितने युवक है जो जवानीमें आकर जवान रहते हो ? भोग-विलास ही जवानी नहीं है । मनुष्यका जीवनके लिये उत्साह होना जवानीका चिह्न है, हमारे युवक बचपनमें ही इस प्रकारका विलासी जीवन व्यतीत करने लगते है कि उनमें पच्चीस वर्षकी अवस्थामें आकर जीवनके प्रति कोई उत्साह नहीं रहता। प्रकृतिने जीवनमें जो उत्साहका समय बनाया है मनुष्यने उसे निराशाका समय बना दिया है। इस

उत्साहद्वारा मनुष्य क्या-क्या नहीं कर सकता ? हिमालयके उच्चतम शिखरको मापनेका उत्साह रखनेवाले देशमें कितने शेरपा तेनसिंग दिखाई देते है ? जवतक आत्मा हिमालयकी चोटीके समान न हो तवतक उस चोटी-पर चढनेका उत्साह कैसे पैदा हो सकता है ? हमारा विद्यार्थी-समाज एक ऐसे दूषित वातावरणमें पल रहा है कि उसमें संसारके शुद्ध ऐश्वर्यको भोगने का साहस तथा उत्साह नहीं रहता । इन सब बातोंकी हम आये-दिन चर्चा सुनते है, परन्तु चर्चा-मात्र कर देनेसे तो समस्या हल नहीं हो जाती। आर्य-संस्कृतिने जीवनकी इस समस्याको समस्याके तौरपर समझा था, और समझकर इसका हल निकाला था। ब्रह्मचर्याश्रम इस समस्याका ही हल था। जब ससारके लिये भूख नहीं, तो बिना भूखके खाना कैसा ? बिना भूखके खानेसे ही तो अपच हो जाता है, ऐसा अपच जिसमें-भूख भी नहीं लगती और मनुष्य हर समय कुछ नोच-नोचकर खाया भी करता है । बिना ब्रह्मचर्यके ससारमें पड़ जाना ऐसा ही है। ब्रह्मचारीको ससारकी भूख लग गई, तो भूखमें वह ज्यादा खा जाय--इससे भी तो बचानेकी आवश्यकता है। तभी ब्रह्मचर्याश्रम एक लम्बा, साधनाका आश्रम था, ऐसी साधना जिसमें जीवनके लिये आंख खोल दी जाती थी, ऐसी साधना जिसमें जीवनके प्रति एक खास दृष्टि-कोण बना दिया जाता था । जिस व्यक्तिने जीवनके मर्मको समझ लिया, यह समझ लिया कि मनुष्य-देह यूही गवा देनेके लिए नहीं, किसी प्रयोजनसे मिला है, फिर वह ससारके भोगोमें तो पडेगा, परन्तु इसलिये पडेगा कि ससारके भागोको भोग डाले, इनको भोगकर इनकी वासना तकको मिटा डाले। ब्रह्मचर्यकी तपोमय साधनाके बिना हमारा आजका जीवन एक लालसाका जीवन है, एक प्यासका जीवन है, एक भूखका जीवन है, परन्तु ऐसी लालसा, ऐसी प्यास, और ऐसी भूख जो कभी तृप्त न होगी, कभी शान्त न होगी। हम आज

या तो भूख-प्याससे पहले खाना-पीना शुरू कर देते हैं, भूख-प्यास लगने ही नहीं पाती, या भूख-प्याससे ज्यादा खा-पी जाते हैं। भूख मिट जाय, इसलिये हमें खाना है, प्यास बुझ जाय, इसलिये हमें पीना है. भूखे बने रहनेके लिये खाना नहीं, प्यासे बने रहनेके लिये पीना नहीं, इस व्यावहारिक सत्यको क्रियात्मक रूप देनेके लिये आर्य-संस्कृतिने ब्रह्मचर्याश्रमकी कल्पना की थी जिसमें बालकका जीवनके प्रति उक्त दृष्टि-कोण बन जाता था।

ब्रह्मचारीका जीवन तपस्याका जीवन था। अथर्ववेदके 'ब्रह्मचर्यसूक्त' में ब्रह्मचारीका वर्णन आता है। इस सूक्तके २६ मन्त्रोमें १५ बार 'तप' शब्दको दोहराया गया है, 'स आचार्य तपसा पिपर्ति'—'रक्षति तपसा ब्रह्मचारी'—'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत'—ब्रह्मचारी तपसे अपने जीवनकी साधना करता है। प्राचीन प्रथा तो यह थी कि विद्यार्थियोका निवास शहरसे दूर जंगल में ऋषि-मुनियोके आश्रमोमें होता था जहा शहरोका कोई प्रलोभन नहीं था। यह ठीक है कि प्रलोभनोंसे परे रहकर उनसे बचे रहना कोई गुण नहीं है। जो सच इसलिये बोलता है क्योकि उसे झूठ बोलनेका मौका नहीं, सदाचारी इसलिये है क्योकि उसके सामने गिरनेका कोई अवसर नहीं, वह क्या सच्चा, और क्या सदाचारी ? परन्तु यह भी ठीक है कि प्रलोभनो से बचनेकी शक्ति उत्पन्न करनेके लिये बालकको बचपनसे ही प्रलोभनो में डाल देना उसके नैतिक-बलको बढानेका तरीका नहीं है। नैतिक-बल उत्पन्न करनेके लिये बालकको नैतिक वातावरणमें रखना जरूरी है। आर्य-संस्कृतिका बालक चारो तरफसे प्रलोभनोसे घिरकर जीवनको नहीं प्रारम्भ करता था जैसा आजके बालकको करना पड रहा है। माता-पिताका जीवन संसारको भोगनेका जीवन है। उसे माता-पितासे अलग कर दिया जाता था। शहरोमें प्रलोभन पग-पगपर फैल रहे होते है। उसे शहरोंसे भी अलग कर दिया जाता था। जगलमें उसका मन विचलित

करनेवाली कोई वस्तु नही। उसे जगलमें रख दिया जाता था। ऋषि-मुनियो के आश्रमोमें उच्चतम नैतिक वातावरण संभव था। उसे इन्हीं आश्रमोमेंसे किसी एक आश्रममें भर्ती कर दिया जाता था। इन आश्रमोका पारिभाषिक नाम 'गुरुकुल' था। इन आश्रमो में ब्रह्मचारी विद्या पढता था, साथ ही २४ वर्षकी उम्रतक तपस्याका जीवन विताता था, भोग-ऐश्वर्यसे दूर रहता था। वेदमें ब्रह्मचारीका वर्णन करते हुए लिखा है, देखो, वह ब्रह्मचारी आ रहा है, उसके सिर और दाढ़ीके बाल लम्बे लटक रहे है, वह तपसे कृश हो रहा है, उसने सिरपर तेलतक नहीं मला। तपस्यापूर्वक विद्याकी साधनाके वाद जव वह ससारमें पड़कर ससारमें डूबा न रहे, प्रलोभनोके आनेपर उनसे डिग न सके, भोगोको भोगता हुआ उनमें लिप्त न रहे—इस वातके लिये तय्यार हो जाता था, तव उसका समावर्तन-सस्कार होता था। वह जंगल छोडकर शहर चला आता था, ऋषि-मुनियोका आश्रम छोड़कर माता-पिताके पास पहुच जाता था, उस समय उसका गुरु ही उसे शीशा, कघा, छत्री, जूता देता था, उस्तरेसे उसके बाल काटकर कघीसे संवारे जाते थे, और ससारमें पडकर आत्म-तत्त्वको विकसित करनेके मार्गपर वह चल देता था। वह संसारमें आता था, परन्तु तय्यारीके साथ, प्रलोभनो का मुकाबिला करता था, परन्तु उनके साथ टक्कर लेनेकी पहले साधना कर चुका होता था। इस तय्यारीका नाम ही तो 'ब्रह्मचर्याश्रम' था।

गृहस्थाश्रम——

जैसा पहले हमने कहा, भोग भी त्यागके बिना नहीं भोगा जाता, इसलिये ससारको भोगना सीखनेसे पहले ससारमें त्याग और तपस्यासे रहना सीखनेकी जरूरत है। इसीलिये आर्य-संस्कृतिमें गृहस्थाश्रमसे पहले ब्रह्मचर्याश्रमको स्थान दिया गया है। गृहस्थाश्रम ससारको भोगनेका आश्रम

है । जो लोग यह समझते हैं कि प्राचीन भारतमें त्याग-ही-त्यागकी रट लगाई जाती थी, वे उस समयकी सस्कृतिको नही समझते । मनुष्यके विकासमें गृहस्थाश्रम एक आवश्यक आश्रम था। मनुष्यमें संसारका उपभोग करनेकी, विषयोकी तहतक पहुंचनेकी, वासनाका ओर-छोर देखनेकी जो गहरी भावना है उसे आर्य-सस्कृतिकी जीवन-व्यवस्थामें पूरा स्थान था। आत्म-तत्त्वके उच्चतम विकासके लिये प्रवृत्ति, भोग और विषयोसे पूरी तरह निपट लेना, इस तरह निपट लेना कि फिर बार-बार उधर खिचकर न आना पड़े, आवश्यक समझा जाता था। आर्य-सस्कृतिके अनुयायी ससारसे भागनेकी ही बात नहीं करते थे, ससारको भोगनेकी बात भी करते थे, उनकी निर्धारित की हुई, जीवनकी रूप-रेखामें मन्दिरोको स्थान था, तो महलोको भी स्थान था, अरण्योको स्थान था, तो बडे-बड़े जनपदोको भी स्थान था, त्याग और निवृत्तिको स्थान था, तो भोग और प्रवृत्तिको भी पूरा-पूरा स्थान था ।

जो लोग भारतके प्राचीन-कालको इसलिये कोसते हैं क्योंकि यहाके ऋषि-मुनि परलोककी बातें करते थे, इस लोककी चिन्ता नहीं करते थे, वे उनकी विचार-धाराको नहीं समझते । आर्य-सस्कृतिके विचारक ससारकी यथार्थताको पूर्णत. स्वीकार करते थे । प्राचीन-भारतकी समृद्धि, यहांका वैभव, यहांका ऐश्वर्य, यहाकी भोग-सामग्री आजकलके किसी देशसे कम न थी । आर्य-सस्कृतिके विचारोमें पले गृहस्थी इस लोकके जीवनका पूरा रस लेते थे क्योंकि उनमें लालसाके साथ ससारके भोगोको भोगनेकी शक्ति भी होती थी। हा, ससारका रस लेते हुए उनके सम्मुख एक बात अवश्य रहती थी । प्राचीन रोममें जब कभी कोई बडी दावत होती थी, नाच-रंग होता था, तो एक अलमारीमें मुर्देकी खोपडी भी रख दी जाती थी, जिससे अगर उधर नजर

पड जाय, तो यह स्मरण हो आये कि इन रग-रलियोका अन्त यही-कुछ होनेवाला है । भारतके गृहस्थी जब जीवनका रस लेते थे, तब इस रसकी लालसा अन्ततक न बनी रहे, इस दृष्टिसे लेते थे, लालसाको नष्ट करनेके लिये लालसामें हाथ डालते थे। संसारके विषयोको भोगनेकी शक्तिका ह्रास तो सबका होना ही है, ज्यो-ज्यो आयु बढती जाती है, शक्ति क्षीण होती जाती है, फिर शक्ति-क्षीणताके साथ लालसाको क्षीण क्यो न किया जाय। शक्ति न रहे, लालसा बनी रहे---इससे बढ़कर मनुष्यकी दुर्गति क्या हो सकती है? गृहस्थ-जीवनका आदर्श यही है कि मनुष्य विषयोको भोगकर विषयोसे ऊपर उठ जाये, फिर उसे विषयोका मुंह न ताकना पडे। आर्य-सस्कृतिके आदर्शके अनुसार मनुष्यको ससारके विषयोके बीचमेंसे होकर गुजरना है, उनमें अपनेको खो नहीं देना। आजकल हम किस प्रकारका जीवन बिता रहे हैं ? हम ससारके विषयोमें भटकते हैं। भटकते-भटकते हमारे मनोमें वासना रह जाती है, शरीरमें शक्ति नहीं रहती । आर्य-संस्कृतिका गृहस्थ-सम्बन्धी जो आदर्श है उसका यह स्वाभाविक परिणाम था कि विषयोमें भटकते-भटकते मनुष्यमें विषयोका रस लेनेकी शक्ति भले ही रह जाय, वासना न अटकी रहे।

आज हमारा जीवन वासनामय हो रहा है । विषयोका रस लेनेकी शक्ति हो, न हो, चारो तरफ विषयोकी बाढ देखकर मन नहीं मानता। गृहस्थाश्रम वासनाका आश्रम बन गया है। पुरुष बूढे हो जाते हैं, तो कुश्ते खाने लगते हैं, बाल सफेद पड जाते है, तो खिजाब मलने लगते हैं, स्त्रियोके झुरिया पड जाती है, तो भी पाउडर मला करती है, चालीसकी हो तो भी तीसकी बताती है---शक्ति नहीं रहती, वासना रह जाती है।

वानप्रस्थ अलगावकी भावनाका नाम है---

आज हम गृहस्थ-जीवनमें इस प्रकार फसे है कि इसमेंसे निकलते हुए

दु ख होता है। अधिकांश लोग इसीमें पडे-पडे अपना जीवन समाप्त कर देते है। जिस किसीने 'आश्रम' शब्दका प्रयोग किया था उसने बडे मतलबके शब्दका प्रयोग किया था। गृहस्थ एक 'आश्रम' है, एक मजिल है, एक पडाव है। आर्य-कालके ऋषियोने जीवनको एक यात्रा समझा था, और उस यात्राके चार पडाव माने थे। यात्रामें ब्रह्मचर्याश्रम पहला पडाव समझा गया था, उसके वाद गृहस्थकी यात्रा थी, परन्तु इसके वाद एक और पडाव आता था, गृहस्थी गृहस्थको छोड़कर आगे चल देता था। आज हम 'आश्रम' शब्दके इस रहस्यको भूल गये है। गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करनेके वाद इसमेंसे निकलनेका नाम नहीं लेते। हम इस प्रकार गृहस्थाश्रममें डटते है मानो अनन्त काल तक हमें जीना हो। जिन्दगीका बीमा ३०-३५ सालका होता है, परन्तु हम अपने दिलमें ऐसा बीमा किये बैठे है मानो हमें कभी मरना ही नही। गृहस्थमें पडकर हम भूल जाते है कि हमें इसमेंसे निकलना भी है। वैसे तो यहा जो आया है उसे जाना भी है, परन्तु गृहस्थ एक ऐसा व्यूह है जिसमें अभिमन्युकी तरह मनुष्य प्रवेश तो कर लेता है, इसमेंसे निकलना भूल जाता है। हम अन्त समयतक ससारकी ही चिन्ताएं करते रहते है। आर्य-सस्कृतिको माननेवाले ५० सालकी आयुमें घर-गृहस्थीका भार वाल-बच्चोंपर छोडकर जीवन-यात्रामें अगली राहपर चल देते थे, आज ऐसा नहीं करते। सरायका नियम होता है कि उसमें ५ या ७ दिन ठहरनेकी इजाजत होती है। जो सरायमें उससे अधिक दिन ठहरता है उसे सरायका मुशी पहले तो इशारेसे समझाता है, कोई ढीठ इशारेको नहीं समझता तो उसे स्पष्ट कह देता है, और इतने पर भी कोई न माने तो उसका सामान उठवाकर वाहर फेंक देता है। जीवन एक यात्रा है, इसमें हमें आगे-आगे जाना है, भले ही हम चाहें या न चाहें। जो भलेमानस गृहस्थके वाद स्वय आगे चल देते है उनको

मान-मर्यादा, प्रतिष्ठा बनी रहती है, जो ऐसा नहीं करते उन्हे सरायका मालिक धक्के मारकर निकाल देता है। आज जो लोग गृहस्थमेंसे निकलकर अगले रास्तेपर चलनेकी उम्रके हो गये है, वे अपने भीतर मुह डालकर देखें, उनके साथ ऐसा ही बर्ताव हो रहा है या नहीं। उन्हींके अपने लडके-वाले, उन्हीकी बहुएं उन्हे कोसती है, कहती है, बुड्ढा न जीता है न मरता है। बहुओकी अपनी सासोसे क्यो नहीं बनती ? इसलिये क्योकि सास घरमें इस प्रकार रहना चाहती है मानो वही बहू हो। बुढापेमें अपने पिताके साथ लडकेकी क्यो नहीं बनती ? क्योकि पिता आखीरी दमतक पडा-पडा लड़कोको बोझ मालूम पडने लगता है। जिन माता-पिताने हमें पाला, वे अगर बोझ भी हो जाय, तो सन्तानका कर्तव्य है कि उनकी सेवा करें, आखिर माता-पिताके ऋणको कौन चुका सकता है, परन्तु यह तो सतानका कर्तव्य हुआ, किसीको कहना कि तुम्हारा कर्तव्य हमारी सेवा करना है, किसे अच्छा लगता है ? इसीलिये प्राचीन ऋषियोने सन्तानके माता-पिताके प्रति ऋणको, जिसे वे पितृ-ऋण कहते थे, चुकानेके लिये एक दूसरा मार्ग बतलाया था। उन्होने यह मार्ग नही बतलाया कि माता-पिता बूढे होकर घरमें चौकीपर बैठ जाय, और पुत्र उनकी पूजा करें। माता-पिताके लिये उन्होने यही कर्तव्य बतलाया कि वे गृहस्थके बाद वानप्रस्थ हो जाय, उनकी सन्तान पितृ-ऋणको चुकानेके लिये गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे, और अपनेसे उत्तम सन्तान संसारमें छोडनेका प्रयत्न करे। मनुष्यका स्वभाव है कि वह स्वतंत्रता चाहता है। अगर माता-पिता घरमें बने रहें, तो उनकी सन्तानको घरमें स्वतंत्रतासे, अपनी इच्छानुसार काम करनेका मौका नहीं मिलता, और इसीलिये दुनियामें जिनकी सबसे अधिक बन सकती थी उन्हींकी इतनी बिगड जाती है कि आसपासके लोग तमाशा देखनेके लिये इकट्ठे हो

जाते है । माता-पिता अपने समयमें घरके मालिक रहे, अब उन्हे अपनी सन्तानको मौका देना होगा । लेकिन हुकूमत ऐसी चीज़ है जिसे अपने हाथसे कोई किसी दूसरेको देनेको तय्यार नही होता । कोई छीन भले ही ले, परन्तु अपने हाथसे कौन दे ? इसीलिये आज चारो तरफ बाप-बेटेकी, सास-बहूकी लडाई दिखाई देती है । प्राचीन ऋषियोने 'वानप्रस्थ'-आश्रमद्वारा इस समस्याका हल कर दिया था । उन्होने कहा था कि जब अन्तमें दुनियांको छोडना ही है, तो धक्के खाकर और बेइज्जती से छोड़नेके बजाय ख़ुद क्यो न छोडा जाय ? वैसे तो ससारको भोगनेकी इच्छा हरेकमें है, इसीलिये गृहस्थ-आश्रममें उसे भोगनेका मौका दिया गया है, परन्तु क्योकि गृहस्थी अपने अनुभवसे देख लेता है कि इन भोगोमें कुछ नही पडा, इसलिये वह स्वयं इनसे मुडता है, उपराम होता है । भोग भोगनेके बाद भोगका छूटना अवश्यभावी है । मनुष्यके मनकी इसी स्वाभाविक अवस्थाको प्राचीन ऋषियोने वैज्ञानिक रूप दिया था, और इस प्रवृत्तिका नाम वानप्रस्थाश्रम रखा था । 'वानप्रस्थ' एक भावना-विशेष है । ससारके विषयोसे गोदकी तरह चिपक बैठनेकी जगह उनका रस भी लो, और उसके बाद उन्हें छोड भी दो । ससारमें प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनो है, अपने-अपने स्थानपर दोनो ठीक है । प्रवृत्तिको शास्त्रोमें 'प्रेय' कहा है; निवृत्तिको 'श्रेय' कहा है । 'प्रेय' के बाद 'श्रेय' आना चाहिये; 'प्रवृत्ति'के बाद 'निवृत्ति' आनी चाहिये, ससारको भोगनेके बाद ससारको छोडना आना चाहिये । भोगनेके बाद छोडना, प्रवृत्तिके बाद निवृत्ति ही 'वानप्रस्थ की भावना' है । आज हमारे समाजको वानप्रस्थकी भावनाकी जरूरत है, निवृत्तिकी भावनाकी जरूरत है, चिपकनेके बजाय छोडना सीखने की जरूरत है । हम जरा-जरा सी बातमें चिपक जाते है । यह जानते हुए भी कि हम गलत रास्तेपर है, हम क्योकि हम है, इसलिये अपनी बातपर

डट जाते हैं, और कुछ देरके बाद वह ज़रा-सी बात आन और शानका सवाल बन जाती है। हम किसी कुर्सीपर बैठते है, तो उससे चिपक जाते हैं। प्रधानकी कुर्सीपर बैठनेवाला प्रधानीके साथ चिपक जाता है; मन्त्री की कुर्सीपर बैठनेवाला मन्त्रीपनके साथ चिपक जाता हैं। कई लोगोको इन कुर्सियोसे उठना ऐसा जान पड़ता है मानो कुर्सी उनके अगका हिस्सा बन गई हो। लोग कहते है कि बीसवीं सदीमें कई नयी बीमारिया निकली हैं। और बीमारिया नयी हो या न हो, यह चिपकनेकी बीमारी ज़रूर नयी है। अबतक यह बीमारी राजनीतिक क्षेत्रतक सीमित थी, अब यह धर्मके क्षेत्रमें भी प्रविष्ट हो गई है। बडे-बडे पडित और धर्म-धुरधर, जो गुण-कर्मानुसार अपनेको ब्राह्मण कहते हैं, किसी सभा-सोसायटीके प्रधान या मंत्री न चुने जाय, तो ग़श खा जाते हैं। इस बीमारीने जिस दिन धर्मके क्षेत्रमें पदार्पण किया था उसी दिन धर्मकी नौका डगमगा गई थी। इस बीमारीसे समाजको बचानेका केवल एक ही उपाय है, और वह है समाजमें वानप्रस्थकी भावनाको जागृत करना। वानप्रस्थ केवल जगलमें भाग जानेका नाम नहीं है, वानप्रस्थ 'निवृत्ति'-'त्याग'-'अपरिग्रह' का नाम है। 'परिग्रह' शब्द 'परि' तथा 'ग्रह' से बना है। 'परि' का अर्थ है, चारो तरफ़से, 'ग्रह' का अर्थ है, ग्रहण कर लेना, चिपट जाना। ससारको चारो तरफसे चिपट जाना, छुड़ाये भी न छोडना 'परिग्रह' है, और उसे समय आनेपर खुद छोड देना 'अपरिग्रह' है। क्या फल पक जानेपर स्वय वृक्षसे टपक नहीं पडता? 'वानप्रस्थ' की भावना पक जानेपर फलका डालीसे अलग हो जाना है। समाजके प्रश्नोपर जितना भी विचार किया जाय एक ही परिणाम निकलता है। आज ससारको किसी सन्देशकी आवश्यकता है तो वानप्रस्थके सन्देशकी, त्याग और निवृत्तिके सन्देशकी। वैसे तो त्याग और निवृत्ति अवश्यभावी है, हम नहीं छोडेंगे तो कुदरत हमसे छुडा देगी,

हम नहीं हटेंगे तो कुदरत हमें धक्का मारकर परे कर देगी--संसारमें ऐसा होता आया ह, ऐसा होता रहेगा। किसी सरायको खुद छोड देने और कान पकड़कर निकाले जानेम क्या कोई फर्क नहीं है ? बात एक ही है, नतीजा सराय छोडना है, लेकिन इस नतीजेको आर्य-सस्कृतिने वानप्रस्थ-आश्रम द्वारा कितना सहल बना दिया था।

'वानप्रस्थ' आश्रमका क्या मतलब है ? यह जानते हुए कि जीवन में कूचका डका बजना ही है हमारे सामने दो रास्ते रह जाते है। या तो हम इस सत्तर-अस्सी सालके जीवनमें किसी समय खुद बोरी-बिस्तर वाधकर चलनेकी तय्यारी करें, या तबतक बैठे रहें जबतक कोई हमें घसीटकर फेंक न दे। जो आदमी इस इन्तिजारमें बैठा रहता है कि कोई आकर उसे बहार निकाले वह ढीठ होगा, दुराग्रही होगा, परन्तु बुद्धिमान् नहीं होगा। 'वानप्रस्थ'-आश्रमकी स्थापना करनेवालोने इस बातको स्वीकार कर लिया था कि यहासे चलना तो है, आज नहीं तो कल, और कल नहीं तो परसो। जब चलना ही है तब यह कहाकी अक्लमन्दी है कि फोडा ही लगे तब चलें, खुद-ब-खुद चलनेका नाम न लें। 'वानप्रस्थ'-आश्रम मजबूर होकर दुनियांका छोडना नही, अपनी मर्जीसे दुनियांका छोड़ना है, किसीसे डरकर दुनियासे भागना नहीं, अपनी इच्छासे जीवन-यात्रामें आगे चल देना है, पडावको घर बनाकर बैठे रहना नहीं, एक पडावसे दूसरे पडावको चलनेके लिये तय्यारी करना है। जो चीज होनी ही है, वह अगर हमारी मर्जीसे हो, तो इसमें कितना आनन्द है। जब दुनियां छूटनी ही है, तो वह हमारी मर्जीसे क्यो न छूटे ? अगर कोशिश करनेपर कोई इस ससारमें सदा बना रह सकता, तब तो दुनियांमें चिपके रहना ही ठीक था, परन्तु जब यह नामुमकिन है, तब क्यो न वह काम खुद किया जाय, जो हर हालतमें होनेवाला है ? 'वानप्रस्थ'-आश्रमका यही लक्ष्य है।

प्राचीन-कालके वानप्रस्थाश्रम—

प्राचीन-कालमें ५० सालकी आयुके बाद गृहस्थी लोग वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश करते थे। उस समयके शहर आजकलके शहरोंके समान इतने बडे-बडे नहीं होते थे। ठीक समय आनेपर गृहस्थी अपने गाव या शहरके बाहर जगलमें अपनी कुटिया बना लेते थे, और घर-गृहस्थीकी चिन्ताका भार सन्तानपर छोडकर अपनी जगलकी कुटियामें जा बसते थे। प्रत्येक गाव और शहरके इर्द-गिर्द इन वानप्रस्थियोकी कुटियाओका ताता बंधा रहता था, शहरोमें बालक और युवा, और वनोमें वृद्ध लोग रहा करते थे। शहर वानप्रस्थियोकी कुटियाओमे इस प्रकार घिरे रहते थे जैसे कोई दोनो हाथ डालकर किसीको समेट ले, घेर ले। वानप्रस्थी दुनियाँके अनुभवमेंसे गुजरे हुए, सब तरहसे सधे हुए होते थे; युवक लोग जीवन-सग्राममें नया अनुभव प्राप्त कर रहे होते थे। समय-समयपर गृहस्थी-युवक वानप्रस्थियोके आश्रमोमें जाते थे, और उनसे उपदेश सुनकर फिर अपने कामोमें आ जुटते थे। जब कोई विकट समस्या आ उपस्थित होती थी, तो गृहस्थी लोग उसे अपने बुजुर्गोंके सामने रखते थे, और उनके परामर्श-से लाभ उठाकर अपनी समस्याओको हल किया करते थे। जब कभी गृहस्थी लोग ससारकी चिन्ताओसे उद्विग्न और खिन्न हो जाते थे, तो इन आश्रमोमें जाकर आत्मिक शाति प्राप्त करते थे। आज हमारे युवक थके-मादे सायंकाल सिनेमा और थियेटर देखने जाते है, और इसी प्रकार अपनी थकावट दूर करते है क्योंकि उनके पास दूसरा कोई साधन नहीं। प्राचीन-कालमें दिनभरकी थकावटके बाद उसे दूर करनेके लिये युवकोकी टोलियो-की-टोलियां वानप्रस्थियोंके आश्रमोकी तरफ सैर करने जाती हुई नजर आती थीं। आश्रम शहरसे दूर जगलमें होते थे, वहातक जानेमें काफी

भ्रमण भी हो जाता था, और वहा जाकर जो आध्यात्मिक-प्रसाद मिलता था उससे शारीरिक-थकावटके साथ-साथ मानसिक-थकावट भी दूर हो जाती थी। आज कोई युवक जब आत्मिक-अशांतिके समुद्रमें गोते खाने लगता है, तो उसे बचानेवाला कौन है? वह कहा जाय, और किसके पास जाय? जिधर उसकी नजर दौडती है उसे अपने ही जैसे भटकने-वाले नजर आते है। अन्धा अन्धेको क्या रास्ता दिखा सकता है? प्राचीन कालका इस प्रकारका युवक, इकला, शहरसे दूर किसी वानप्रस्थीके आश्रमको लक्ष्यमें रखकर चल देता था। वहां ५०-६० वर्षका वृद्ध स्वयं उस प्रकारके अनुभवोमेंसे कई वार गुजर चुका होता था। उसे पता होता था कि मनुष्य-जीवनमें किस प्रकारकी आधियां आती है, किस प्रकारके तूफान उठते है। वह उस युवकको अपने पास वैठाकर उसे अपने जीवन की कथा सुनाता था, और युवक दिलका रोना सुनाकर अपने वोझको हल्का अनुभव करता था। आजका युवक किसके पास जाय, किसके पास अपना रोना रोये? आज हमारे युवकोके प्रश्नोको कौन हल करे? उस समयके वानप्रस्थियोके आश्रम आध्यात्मिकताका सचार करनेके केन्द्र वने हुए थे, जैसे दीपसे ज्योति चारो ओर बिखरती है वैसे उन आश्रमोसे श्रेय और शातिकी ज्योति चारो तरफ फैलती थी। आज सारा संसार विषयोकी तरफ भागा चला जा रहा है, भोगवाद बढ रहा है, जीवन उथला होता जा रहा है, आध्यात्मिकताका लोप हो रहा है, इस सबको कौन रोके, कौन थामे? जो खुद भोगवादमें फसे हुए है वे दूसरोंको इसमेंसे कैसे निकालेंगे, जो खुद प्रवृत्ति-मार्गके शिकार है वे दूसरोको निवृत्तिका क्या उपदेश देंगे, जो खुद दलदलमें धसे हुए है वे दूसरोका हाथ क्या खीचेंगे? वानप्रस्थी भोगमेंसे निकलकर त्यागके मार्गपर चलने लगा था, प्रवृत्ति-मेंसे निकलकर निवृत्तिके मार्गका राही था, दलदलमेंसे निकलकर वाहर

आ खडा हुआ था, इसलिये वह दूसरोंको त्यागका उपदेश दे सकता था, निवृत्तिका पाठ पढा सकता था, दलदलमेंसे घसीटनेके लिये अपना हाथ आगे कर सकता था। इसीलिये वानप्रस्थियोंका युग भोग और त्यागसे निखरी हुई सच्ची आध्यात्मिकताका युग था। वानप्रस्थियोंके आश्रमोंका ताता प्राचीन कालमें सम्पूर्ण भारतवर्षमें बिछा हुआ था। इसीका परिणाम था कि हमारा देश आध्यात्मिकता के क्षेत्रमें ससारके सब देशोंका मूर्धन्य था।

वानप्रस्थाश्रम तथा आर्थिक-समस्या—

इस प्रकार वानप्रस्थ-आश्रमकी स्थापनाद्वारा आर्य-सस्कृतिने कोरे भोगवादकी जड हिला दी थी। वानप्रस्थ-आश्रम एक और भी समस्या का हल था। अगर किसी समाजमें काम करनेवालोंकी सख्या बढती जाय, और इतनी बढ़ जाय कि पुराने काम करनेवाले कम न हों, और नयोंकी बाढ आती जाय, तो उसका नतीजा इसके सिवा क्या होगा कि किसी समय सभी भूखे मरने लगें ? आज बेकारी इतनी क्यों बढ़ रही है ? बेकारी इसलिये बढ रही है क्योंकि जिन लोगोंकी आयु पेंशन पानेलायक हो गई है वे पेंशन पानेके बाद फिर नये सिरेसे नौकरी शुरू कर देते हैं, या कोई-न-कोई धधा किये चलते हैं। आर्य-संस्कृति में ऐसा नहीं था। उस में सामाजिक व्यवस्था ही ऐसी थी कि ५० की आयुके सब लोग अलग छंट जाते थे, नवयुवकोंके लिये जगह अपने-आप खाली हो जाती थी। आज जिन लोगोंको कमाना चाहिये वे बेकार बैठे हैं, जिन्हें कमाई छोड-कर आश्रमोंमें जा बैठना चाहिये, वे कमा रहे हैं। नवयुवक भी बेकार इसलिये नहीं बैठे क्योंकि वे कमा नहीं सकते। वे कमा सकते हैं, परन्तु अगर उन्हें कमानेका मौका मिले। उनके लिये कठिनाई यह है कि वे जो

पेशा सीखते हैं वही भरा हुआ है। पुराने वकीलोंकी मौजूदगीमें नये वकील कैसे काम करें, पुराने डाक्टरोंकी मौजूदगीमें नये डाक्टर क्या करें, पुराने दुकानदारोंके होते हुए नये दुकानदार कैसे फूले-फलें ? आश्रम-व्यवस्था द्वारा प्राचीन ऋषियोंने बेकारीके प्रश्नको हल कर दिया था। उन्होंने मनुष्य-जीवनको चार हिस्सोंमें बाट दिया था, और उनमेंसे केवल एक आश्रममें अर्थोपार्जन होता था। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और सन्यासी कमाई नहीं करते थे। इसका यह मतलब नहीं कि कमाईसे बचनेके लिये वे लोग वानप्रस्थी या संन्यासी हो जाते थे। गृहस्थमें कमाई किये बगैर किसीको वानप्रस्थमें आनेका अधिकार नही था, और अधिकतर, वानप्रस्थी ही सन्यासी होता था। हरेक आदमी कमाता था, परन्तु एक खास आयुमें आकर कमाना छोड देता था, दूसरोंके लिये रास्ता खोल देता था। गृहस्थियोंमें भी सब नहीं कमाते थे। गृहस्थियोंमें भी ब्राह्मण और क्षत्रियका समय कमानेमें नहीं, अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार समाजकी सेवा करनेमें बीतता था। केवल वैश्य कमाते थे, और जब इतने थोडे लोग कमाते थे, तो वे इतना अधिक कमा लेते थे कि सारे समाजको खाने-पीनेके लिये काफी दे देते थे। समाजके लिये धन कमाना ही उनकी समाजके प्रति सेवा थी। आज सब कमा रहे हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तो कमा ही रहे हैं, इधर विद्यार्थी, गृहस्थी, वानप्रस्थी और संन्यासी भी कमा रहे हैं। धन कमानेके लिये जो यह सग्राम मचा हुआ है उसका परिणाम हैं कि कुछ लोगोंको जरूरतसे ज्यादा मिल जाता है, कुछ लोग भूखे मरते हैं। प्राचीन-कालमें 'वानप्रस्थ' आश्रमके कारण यह अव्यवस्था नहीं थी। बडे-बडे वैद्य, व्यवसायी, शिल्पी, अध्यापक और दुकानदार ५० सालकी आयुके बाद अपने-आप सब-कुछ छोड़ देते थे, उनकी जगह नये-नये युवक लेते रहते थे। ये नये लोग पुरानोंके साथ अपना सम्पर्क बनाये रखते थे।

अगर किसी नवयुवक वैद्यको कोई बात समझ नहीं पड़ती थी, तो वह किसी पुराने धुरन्धर वैद्यकी सेवामें आश्रममें जाकर उपस्थित होता था, उसके परामर्शसे पूरा लाभ उठाता था । इस प्रकार पुरानोंके आशीर्वादसे नये लोग तय्यार होते थे और समाज दिनोदिन उन्नति करता जाता था । कई लोग कह बैठते हैं कि अगर पुराने इस प्रकार क्षेत्रको छोडकर अलग जा बैठेंगे, तो समाजको नुकसान होगा, पुरानोंका अनुभव समाजके लिये निकम्मा हो जायगा । यह बात गलत है । इस समय भी अगर कोई पुराना अनुभवी शहरमें बैठा रहे, तो कोई गारन्टी नहीं कर सकता कि वह ससार के अन्ततक बना रहेगा । आज नहीं तो कल, कल नही तो परसों वह भी चल देगा । उसका अनुभव दूसरोंके लिये इसी प्रकार उपयोगी हो सकता है कि नये काम करनेवाले आवश्यकता पडनेपर उसकी सहायता लेते रहें । प्राचीन-कालमें वानप्रस्थी इस प्रकारकी हर समय सहायता दिया करते थे । वे अपने पेशोंको नये कार्यकर्ताओंके लिये खाली करते रहते थे, अपना बोझ स्वयं उनके कन्धोंपर डालते थे, क्योंकि उन्हें जीवनकी यात्रामें अगले पडावके लिये चलना होता था, किसी मजबूरीसे नहीं, जीवन-यात्रा की यथार्थताको सिद्ध करनेके लिये आगे कदम रखे बिना उन्हें आत्म-तत्त्वका विकास नही दीखता था ।

वानप्रस्थाश्रम तथा अनिवार्य-शिक्षा——

भोगवाद तथा बेकारीके प्रश्नको हल करनेके साथ-साथ वानप्रस्थाश्रम एक और समस्याको भी हल करता था । जो लोग घर-बार छोडकर जंगलमें जा बसे होते थे, वे वानप्रस्थ लेनेसे पूर्व दुनियांके सब प्रकारके धन्धे कर चुके होते थे । उनमेंसे कुछ-एकके छः-छः सन्तानें भी हो चुकी होती थीं । उन्हें मालूम था कि छोटे बच्चोंका मानसिक-विकास किस

प्रकार होता है। वे अपनी उम्रमें बच्चोके साथ हंस चुके होते थे, रो चुके होते थे, खेल चुके होते थे। अब इनके वानप्रस्थमें आनेके बाद गांवके छोटे-छोटे बालक इनके पास आकर पढने लगते थे। कभी-कभी किसी वानप्रस्थीके पास वीस बालक एकत्रित हो जाते थे, किसीके पास पचास, किसीके पास इससे अधिक। ये बालक अमीर भी होते थे, गरीब भी; राजाओंके भी होते थे, रकोके भी; परन्तु वानप्रस्थियोके आश्रममें आकर इनका ऊच-नीचका कोई भेद-भाव नहीं रहता था। उन आश्रमोमें ये सब भाई-भाई थे। ऐसे ही किसी आश्रममें, सदियां गुजर गई, कृष्ण और और सुदामा पढे थे। बालक गांवसे भिक्षा ले आते थे, और आश्रममें आकर सब मिलकर बाट लेते थे, गुरु भी खाते थे, शिष्य भी खाते थे। कभी कोई अमीर घरका बालक किसी गरीबकी झोपडीके सामने जा खडा होता था, कभी कोई गरीब घरका बालक किसी अमीरके महलके सामने पहुंच जाता था, परन्तु अमीर घरका बालक अपनेको अमीर नहीं समझता था, गरीब घरका बालक अपनेको गरीब नहीं समझता था। इधर घरकी देविया इन बालको के मधुकरी लेनेके लिये आनेकी बाट जोहा करती थीं, कभी देर हो जाती, तो घरसे निकल-निकलकर व्यग्रतासे देखतीं कि आज बालकोकी मण्डली क्यो नहीं आई? वानप्रस्थियोंके इन आश्रमोंको ही 'गुरुकुल' कहा जाता था। इन आश्रमोमें न खाने-पीनेके लिये कुछ लिया जाता था, न पढाने-लिखानेके लिये। इन आश्रमोमें पढ़ानेवालोको कोई वेतन नहीं मिलता था। फिर भी विना वेतन लिये, विना पढ़ानेकी फीस लिये, बिना बालकोसे खाने-पीनेका खर्च लिये, विना राज्यसे किसी प्रकारकी सहायता लिये बालकोको शिक्षाकी पूरी-पूरी व्यवस्था अपने देशमें चल रही थी। इस व्यवस्थाका आधार वानप्रस्थ-आश्रम था। आजकलकी अवस्थाओमें निःशुल्क तथा अनिवार्य-शिक्षाके इस कार्यको पूरा करनेके लिये लाखो

नहीं, करोडो रुपयेकी जरूरत है । आर्य-संस्कृतिने इस समस्याको वान-प्रस्थाश्रमद्वारा हल किया था । आज भी वर्मामें जगह-जगहपर वान-प्रस्थियोके आश्रम है । ये आश्रम प्रत्येक शहर या गावके पास है । गावका प्रत्येक बालक इन आश्रमोमें शिक्षा ग्रहण करनेके लिये भेजा जाता है, रहता भी वहीं है । वह भिक्षा मागता है, खुद खाता है, और गुरुको खिलाता है । वर्माके इन आश्रमोका ही प्रताप है कि आज जहा भारतमें कुछ ही फी-सदी पढे-लिखे है वहां वर्मामें ९९ फी-सदी पढे-लिखे है । इसका यह कारण नहीं कि सरकार वर्मामें शिक्षापर अधिक खर्च कर रही है, इसका यह कारण है कि वहापर वानप्रस्थ-आश्रम अपने टूटे-फूटे रूपमें आज भी विद्यमान है, और वानप्रस्थ-आश्रमोसे घिरे हुए प्राचीन शहरोका जो नक्शा हमने अभी खींचा, वह वर्मामें आज भी खिचा हुआ है ।

सन्यासाश्रम——

आर्य-संस्कृतिको जन्म देनेवाले ऋषियोने जीवनको यात्रा कहा था, और इसे चार पडावोंमें बांटा था । चौथा पडाव सन्यास-आश्रम था । वे खुली हवामें रहनेको इतना पसन्द करते थे कि उनकी रूप-रेखाके अनुसार जीवनका तीन-चौथाई हिस्सा खुली हवामें बीत जाता था । ब्रह्मचारी जगल में रहते थे, गृहस्थी शहरोमें रहते थे, परन्तु वानप्रस्थ और सन्यास फिर खुली हवाके आश्रम थे । इस प्रकार जीवनके सबसे अधिक भागको खुले मैदानो और जगलोमें बितानेके कारण उस समय आयुकी लम्बाई आजकलसे बहुत अधिक थी । सौ बरस जीना——'जीवेम शरद. शतम्'—— यह प्रत्येक नर-नारीकी एक स्वाभाविक आकाक्षा थी ।

आज संन्यास-आश्रमका अभिप्राय यह समझा जाता है कि मनुष्य सब काम छोडकर बैठ जाय । हमारा देश ऐसे सन्यासियोसे भरा पडा है

जो कुछ नहीं करते। वे समझते हैं, अगर वे कुछ करेंगे तो संन्यासी ही नहीं रहेंगे। आज हम कुछ न करनेका नाम सन्यास समझते है। परन्तु आश्रम-व्यवस्थाम जिस सन्यासकी कल्पना की गई है वह ऐसा नहीं है। सन्यास चारो आश्रमोकी शृंखलामें एक कडी है, जीवन-यात्रामें आखिरी मजिल है, अन्तिम पड़ाव है। जिस भावका विकास पहले आश्रमोमें किया जाता है, उसीकी चरम सीमा सन्यासमें होती है, जिस उद्देश्यको लेकर पहले आश्रम चलते है, वह उद्देश्य धीरे-धीरे पूरा होता हुआ सन्यासमें पूर्णरूपसे सिद्ध हो जाता है। सन्यास स्वतन्त्र आश्रम नहीं है, पहले तीनके साथ जुड़ा हुआ है, और जो भावना पहले तीन आश्रमोमें काम करती है वही सन्यासमें अपनी पूर्णतापर पहुच जाती है। हम यह देख चुके है कि पहले तीन आश्रमोमें क्या विचार काम कर रहे है।

पहले हमने देखा था कि ब्रह्मचर्य-आश्रममें त्याग तथा तपस्याका पाठ सिखाया जाता है ताकि जव भोगकी आयु आये तव मनुष्य उसके लिये पूरा तय्यार हो। ससारके विषयोको भोगे विना, वे क्या है, कैसे है, यह जाने विना मनुष्य अपनेको भटकनेसे नहीं रोक सकता, इसीलिये गृहस्थ-आश्रमकी कल्पना की गई है। परन्तु अगर गृहस्थमें पड़कर मनुष्य गृहस्थका ही हो गया, तव उसने गृहस्थ-आश्रमका उद्देश्य नहीं समझा। गृहस्थमें जाना गृहस्थमेंसे निकलनेके लिये है, विषयोको भोगना विषयोसे छुटकारा पानेके लिये है, ससारमें लीन होना ससारकी असारताको समझनेके लिये है, भोगवादका मार्ग त्यागवादकी तरफ ले जानेके लिये है, प्रवृत्ति निवृत्तिके लिये है। ससारमें ऐसा ही होता है, और सदासे ऐसा ही चला आया है। मनुष्यके मनकी रचना भी ऐसी ही है। ऋषियोने तो केवल इस स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक सचाईको आश्रमोके रूपमें एक व्यवस्थामें वाध दिया था। गृहस्थके वाद वैराग्य आता ही है, आज हम

उस वैराग्यका समाजको लाभ नहीं पहुंचाते, ऋषियोने ऐसी व्यवस्था कर दी थी जिससे इस वैराग्यका समाजको भी लाभ पहुंचता था। आज भी बाबाजी घर बैठकर अपने पोतोको कन्धेपर चढाकर घूमा करते हैं, कभी उनके लिये घोडा बनते हैं, कभी गधा बनते हैं। ऋषियोकी व्यवस्थाके अनुसार अपने बाल-बच्चोके लिये ही बाबा बननेके स्थानपर अपने सारे गाव और सारे शहरके बच्चोके लिये बाबा बननेका विधान है। अब भी तो बाबाजीको सारे गावके बच्चे बाबा कहने लगते हैं। भेद इतना है कि अब सबका बाबा होते हुए भी वह अपने पोतोका खास बाबा है, और वानप्रस्थी अपने बच्चोका मोह त्याग देता है, गांवभरके बालक उसके बालक हो जाते हैं, वह सबका समान रूपसे बाबा हो जाता है। यह त्यागकी भावना, जिसका उदय गृहस्थाश्रमसे होता है, वानप्रस्थ-आश्रममें आकर पक जाती है। गृहस्थी संसारको भोगनेके बाद उसे एकदम छोड देता है। बनी-बनाई गृहस्थीको छोडना आसान नहीं है। परन्तु जब एक दिन बरबस यह सब-कुछ छोडना पड़ेगा, रोते-धोते छोड़ना पडेगा, हाय-हाय की पुकारमें छोडना पड़ेगा, हम नहीं चाहेंगे, अपनोको देखकर आंसू बहायेंगे, उन्हें चिपटेंगे, फिर भी छोडना पडेगा, तो क्यो न एक बार हसकर, मुस्कराकर, उछलते हुए, कूदते हुए, झूमते हुए दुनियांको छोडनेकी मस्ती का मजा लूटें। वानप्रस्थी यह मजा लूटता था, परन्तु फिर भी उसमें अभी कुछ कसर बाकी थी। वह अपने शहरसे उठकर उसके पासके जंगलमें जा बैठा था। कभी-कभी उसके बाल-बच्चे उसे मिलने आते थे और उसके भी उनके पास आने-जानेकी सम्भावना बनी रहती थी। वानप्रस्थीके पास जो बालक पढने आते थे, और कुछ नहीं तो उनमें ही उसका मोह हो सकता था, उन्हें ही वह अपने बच्चोकी तरह ऐसा प्यार कर सकता था जो उसे बाध ले। परन्तु वह तो गाठ बाधनेकी जगह गाठ खोलनेके

रास्तेपर कदम रख चुका था। इसलिये वानप्रस्थके वाद एक ऐसा आश्रम आता था जिसमें अगर कोई गाठ रह भी गई हो तो वह खोल दी जाती थी, और वानप्रस्थी सच्चे अर्थोंमें सन्यासी हो जाता था। सन्यासी मोहकी, ममताकी, तेरे-मेरेकी सव गाठोको काट डालता था, और निर्द्वन्द्व होकर, किसी खासको अपना न वनाकर और किसी खासका न वनकर, सवको अपना वनाकर और स्वय सवका होकर घूमता था। आज संन्यासियो के वडे-वडे मठ है, जिनके नहीं है, वे मठ वनानेकी धुनमें है। वदनपर कपड़ा न रखने और भीख मागकर रोटी खा लेनेका नाम ही संन्यास नहीं है। सन्यास वाहरका नहीं, भीतरका चिह्न है। सन्यास घर-वार छोडनेका नाम नहीं, राग-द्वेष, मोह-ममता छोड़नेका नाम है। संन्यास लेनेके वाद घरवालोंके लिये मनुष्य मर जाता था। कभी-कभी तो घरवालोंको पता भी नहीं होता था कि उनके सूत्रका कर्णधार कहां गया। मरना सवको है। सन्यासी मृत्युके वहुत निकट पहुच चुका होता था। मरकर तो ससारको छोडना ही पडता है, सन्यासी जीते-जी मरनेका मजा लूट लेता था और पल्ला झाडकर दुनियांसे चलनेके लिये हर वक्त तैयार रहता था। उसके तनपर पड़ा भगवा कपडा हर समय उसे आगकी उन लपटोकी याद दिलाता था जिनमें पडकर अन्त समयमें सवको पाच तत्त्वोंमें मिल जाना है।

सन्यासीका लक्ष्य प्राणिमात्रकी सेवा था—

परन्तु त्यागकी इस उच्च भावनाका यह अभिप्राय कभी नहीं था कि सन्यासी समाजके लिये निकम्मा हो जाता था। आर्य-संस्कृतिके आदर्शके अनुसार 'त्याग' का ही दूसरा नाम 'सेवा' था। आखिर, मनुष्य किसी-न-किसी क्षेत्रमें सेवा तो करता ही है। पहले वह सकुचित क्षेत्रमें सेवा करता है। वाल्यकालमें तो अपनी ही सेवा करता है। छोटा वच्चा यया

करता है ? उसे यह ख़याल नहीं होता कि माता-पिताके पास भी खानेको है या नहीं। घरमें खानेकी जो बढ़िया-से-बढ़िया चीज़ आये, बच्चा चाहता है, और किसीको मिले या न मिले, उसे अवश्य मिले। बड़े होनेके बाद गृहस्थाश्रममें यह भाव नहीं रहता। माता-पिता स्वयं भूखे रह जाते हैं परन्तु सन्तानको पहले देते हैं। गृहस्थ-जीवनका यह पाठ क्या सिखाता है ? रातको बालक जब बिस्तरपर पेशाब कर देता है तो माता क्या करती है ? क्या वह अपने नीचे सूखा कपडा, और बच्चेके नीचे गीला कपड़ा कर देती है ? नहीं, वह खुद गीलेमें पडी रहती है, बालकके नीचे फौरन सूखा कपडा डाल देती है। बालकको जब नींद नहीं आती, तो मां क्या खुद सोती रहती है और बालकको रोने देती है ? नहीं, वह खुद जाग जाती है, आवश्यकता होती है तो रात भर उसे गोदमें लिये थपकी देती रहती है, खुद नहीं सोती, उसे सुला देती है। गृहस्थ-जीवन त्यागका पाठ सिखाता है, परन्तु किस चीजका त्याग ? अपने सुखका त्याग, अपने आरामका त्याग, अपने ऐश्वर्य तथा उपभोगका त्याग ताकि सन्तानको सुख मिल सके, आराम मिल सके। त्यागके भावके साथ-साथ सेवाका भाव बढता जाता है, यहांतक कि सन्तानकी सेवाके लिये माता-पिता अपना सब-कुछ त्याग करनेके लिये तय्यार हो जाते हैं। गृहस्थमें सेवाका पाठ पढकर जब स्त्री-पुरुष वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करते हैं तब समाज-सेवाका भाव और अधिक उग्र हो जाता है। गृहस्थ-आश्रममें वे लोग अपने बाल-बच्चोंकी सेवा करते थे, परन्तु वानप्रस्थमें आकर वे अपने बाल-बच्चोंको छोड देते हैं और समाजके बाल-बच्चोंकी सेवा करने लगते हैं। यहांपर भी त्यागकी भावना मनुष्यको सेवाके मार्गपर ही आगे-आगे बढ़ाती जाती है। वानप्रस्थी त्याग करता है, परन्तु त्याग इसलिये करता है ताकि वह अपने सेवाके क्षेत्रको विस्तृत कर सके, वह त्याग इसलिये

नहीं करता कि जगलमें निकम्मा बैठ सके। प्राचीन-कालके वानप्रस्थियोके सहारे सम्पूर्ण भारतवर्षमें विना कौड़ी खर्च किये नि.शुल्क तथा अनिवार्य शिक्षाका देशके एक कोनेसे दूसरे कोनेतक प्रचार था---क्या इससे भी वढकर सेवा-भावका कोई दूसरा दृष्टान्त मिल सकता है ? वानप्रस्थी भी अपने गाव या अपने शहरकी ही सेवा करता था। कुछ देर वाद उसे इस परिमित क्षेत्रका त्याग कर और अधिक विस्तृत क्षेत्रमें आना होता था, और अपने ही देशकी नहीं, अपनी ही जातिकी नहीं, अपने ही लोगोकी नहीं, ससारकी सेवा करना उसका कर्तव्य हो जाता था। फिर वह किसी एक देशका नागरिक न होकर विश्वका नागरिक हो जाता था, उसका काम किसी एक देश या एक जातिकी भलाई सोचना न होकर सपूर्ण ससारकी भलाई सोचना होता था। जो लोग संन्यास-आश्रमको खाली वैठे रहनेका आश्रम समझते है वे ऋपियोके विचारकी थाहको नहीं पहुच पाते। आर्य-संस्कृतिकी मर्यादाके अनुसार सन्यासी और सब कुछ कर सकता है, परन्तु खाली, निकम्मा नहीं वैठ सकता। वह तो विश्वका नागरिक है। जिन लोगोपर जिला-वोर्डोंकी चिन्ता होती हैं उनकी अपेक्षा विधान-परिपद्के सदस्योका दृष्टिकोण विशाल होता है, उनकी अपेक्षा पार्लियामेंटके सदस्योका दृष्टिकोण और अधिक विशाल होता है, परन्तु सयुक्त-राष्ट्र-सघके सदस्योका दृष्टिकोण तो सवसे अधिक विशाल होना चाहिये। चाहिये इसलिये क्योकि होता नहीं है। सन्यासीकी दृष्टि सयुक्त-राष्ट्र-सघकी दृष्टि है। आज ससारको सच्चे सन्यासियोकी आवश्यकता है, ऐसे सन्यासियोकी जिन्हें विश्वका नागरिक कहा जा सके। आज योरपने सयुक्त-राष्ट्र-सघकी इमारतें खडी कर ली है, उन इमारतोमें वढिया-से-वढिया फर्नीचर भी जुटा लिया है, परन्तु योरप इन भवनोमें वैठने योग्य मानव तय्यार नहीं कर सका, ऐसे 'विश्वके नागरिक' नहीं

पैदा कर सका जो अपने देशकी ही नहीं, संसारके प्राणिमात्रकी सेवाका व्रत ले बैठें। आज यह दरिद्र भारत योरपको क्या दे सकता है ? परन्तु भारत तो सदियोसे देता रहा है, और इस दरिद्रावस्थामें भी दे सकता है। आज भारत योरपको 'विश्वके नागरिको'का सन्देश दे सकता है, संयुक्त-राष्ट्र-संघमें बैठने योग्य इन्सान पैदा करनेका सन्देश दे सकता है, और दे सकता है विश्वको एक सूत्रम बाधनेवाले, संसारके हितके लिये सब-कुछ कुर्बान कर देनेवाले, प्राणिमात्रकी सेवामें अपनेको भूल जानेवाले त्यागी, तपस्वी, सन्यासियोको ढूढ-ढूढकर विश्वका मूर्धन्य बनानेका सन्देश।

अक्सर लोग कह बैठते है कि भारतीय दृष्टिकोण स्वार्थका, खुद-गर्जीका दृष्टिकोण है। इस देशमें लोग अपनी उन्नतिके लिये जगलमें निकल जाते थ। यह विचार गलत है। आश्रम-प्रणाली इस बातका प्रमाण है कि इस देशमें स्वाथको कम करते-करते धीरे-धीरे इतना कम कर दिया जाता था कि स्वाथ सिफरमें तब्दील हो जाता था, और उसकी जगह परार्थ आ जाता था। ब्रह्मचर्य-आश्रममें बालककी दृष्टि अपनेपर होती है, वह अपने सिवा किसीको कुछ नहीं समझता। वह पढता है, लिखता है, खाता है, पीता है, सोता है, वर्जिश करता है और अपने आत्मा, मन, शरीर को बनाता है। उसे किसीकी कोई चिन्ता नही, संसारके धन्धोसे उसे कोई सरोकार नहीं। वह एक दृष्टिसे 'स्वार्थ' का नमूना है। परन्तु उसे इसी जगह तो टिकना नहीं होता। ब्रह्मचर्यके बाद गृहस्थ-आश्रम आता है। अब वही व्यक्ति जिसे किसीका फिक्र नहीं था, चिन्ता नहीं थी, खुद पीछे खाता है, अपने बच्चोको पहले खिलाता है। वह अगर बाजार-से अगूर लाता है तो ताजे अगूर बच्चेको देता है, दागी दाने खुद खा लेता है। गृहस्थाश्रममें आकर वह स्वार्थका पाठ भूल रहा है, परार्थका पाठ सीख रहा है; स्वार्थसे दूर होता जा रहा है, परार्थके निकट पहुच रहा है।

आठ-दस बच्चोंका बाप हो जानेके बाद वह बिल्कुल स्वार्थ-हीन हो जाता है। उसकी कोई अपनी इच्छा नहीं रहती, अपना स्वार्थ नहीं रहता, अपने बच्चोंकी इच्छाएं, उनकी जरूरतें ही उसकी इच्छाएं और उसकी जरूरतें बन जाती हैं। गृहस्थाश्रममें वह दूसरोंके स्वार्थको अपना स्वार्थ बनानेका सबक सीख जाता है, परन्तु अब भी वह इसमें दक्ष नहीं हो पाता। इसमें दक्षता प्राप्त करनेके लिये उसे वानप्रस्थ होना पडता है। अब उसे यह भूल जाना होता है कि उसके अपने बच्चे ही उसके बच्चे हैं, उसके अपने सगे-सबंधी ही उसके निकटके हैं। अब उसे गांव और शहरके सब बच्चोंको अपना बच्चा समझनेका सबक सीखना है, स्वार्थ या खुदगर्जी और कम करना है। वानप्रस्थ-आश्रममें वह दूसरोंको अपना समझनेका पाठ पढता है, और यह पाठ सन्यास-आश्रममें पूर्ण हो जाता है। संन्यासीके लिये खास तौरपर अपना कोई नहीं रहता, क्योंकि सब एक-समान उसके अपने हो जाते हैं। ऋषियोंने आश्रम-व्यवस्थाको ऐसा बनाया था कि एक आश्रमके बाद दूसरे आश्रममें प्रवेश करता हुआ व्यक्ति स्वार्थकी एक-एक तहको उतारता जाता था, यहांतक कि अन्तिम आश्रममें पहुंचते-पहुंचते उसपर स्वार्थकी एक तह भी बाकी नहीं रह जाती थी, भीतरसे शुद्ध निःस्वार्थ-भाव सूर्यके प्रचण्ड प्रकाशकी तरह चमक उठता था। सन्यासी कौन होता था? सन्यासी वह था जो कोढियों और अपाहिजोंको देखकर अपने बदनके कपडेसे उनकी मरहम-पट्टी करता था, संन्यासी वह था जो रोती-कलपती विधवाओंके साथ बैठकर उनके आंसुओंमें अपने आंसू बहाता था, सन्यासी वह था जो लूलों और लगडोंको देखकर उन्हें अपने हाथका सहारा देता था। ससारके बोझको अपना बोझ, ससारके दुःखको अपना दुःख समझकर चिन्ता करनेवाले सन्यासी आज नहीं रहे, तो भी सन्यास-आश्रमका आदर्श यही था, इस आश्रमकी मर्यादा यही थी।

[९]

नव-मानवका निर्माण

आर्य-सस्कृतिकी योजनाओका केन्द्र मानवका निर्माण था—

आज हमारा वातावरण योजनाओसे भरा पडा है। जो देश उन्नति करने लगता है वह योजनाओका एक तांता-सा बाध देता है। कोई पांच वर्षकी योजनाए बनाता है, कोई दस वर्षकी। इन योजनाओमें क्या होता है? हम बाध बनायेंगे, नहरें खोदेंगे, पुल बांधेंगे, रेलें बिछायेंगे। ये सब योजनाए क्यो बनायेंगे? क्योकि मानव का सबसे बडा प्रश्न रोटीका प्रश्न है। हम हजारो और लाखोको इन निर्माण-कार्योंमें लगाकर बेकारीकी समस्याको हल कर देंगे, और इन योजनाओके पूरा होनेपर लोगोको सब-कुछ मिलने लगेगा, बेकारीकी समस्या खुद ही न रहेगी। मानवकी भूख मिटानेका यह सारा उद्योग प्रशसनीय है, परन्तु इन सब योजनाओमें हम मानवको कितना तुच्छ, कितना क्षुद्र समझे हुए है! हम समझे हुए है कि मानव भूख और प्यासका पुतला है—इसके सिवा कुछ नहीं। आर्य-सस्कृति मानवको शरीर-मात्र नही समझती, भूख और प्यासका ही पुतला नहीं समझती। आर्य-सस्कृति बांध और पुल बाधने, नहरें, रेलें और सड़कें बनानेसे मना नहीं करती,

शरीरकी भूख और प्यासकी समस्याको हल करनेसे भी मना नहीं करती। परन्तु आर्य-सस्कृतिके कार्य-क्रममें ये योजनाए अत्यन्त प्रारभिक योजनाए हैं, उसके कार्य-क्रमका क-ख-ग भी नही है। आर्य-सस्कृतिकी अस्ली योजना, वह योजना जिसके लिये इस सस्कृतिने जन्म लिया, 'मानव का निर्माण' है। आज हम वाध वाध रहे है, नहरें खोद रहे हैं, रेलें बिछा रहे हं, सडकें वना रहे हं, परन्तु वह मानव जिसके लिये यह सब-कुछ हो रहा है, वह कहां है, उसके लिये, उसके 'आत्म-तत्त्व' के विकासके लिये, हमने पाच वर्षकी, दस वर्षकी, बीस वर्षकी कौन-सी योजना बनाई है? रेलोका ताता विछ जाय, मोटरें घर-घर चलने लगें, जमीनके चप्पे-चप्पेपर नहरोका पानी पहुच जाय, भूमिका कोई हिस्सा बजर न रहे, परन्तु इन सवका उपभोग करनेवाला मानव अगर सच्चा न हो, ईमानदार न हो, दूसरेके दु.खमें दु खी और सुखमें सुखी होनेवाला न हो, अगर वह सव तरहसे दुराचारी और भ्रष्टाचारी हो, तो ये रेल-मोटर, ये नहरें और वाध किस काम आयेंगे? और, क्या ऐसा हो नहीं रहा? क्या चारो तरफ चका-चौंध कर देनेवाले वैभवकी वढतीके साथ-साथ मानवका—उस मानवका जिनके लिये यह सम्पूर्ण वैभव और ऐश्वर्य खडा किया जा रहा है, दिनोदिन पतन नहीं हो रहा? मानव कहा है? कहा है वह मानव जिसमें मान-वीयताके गुण हो? वह मानव जो प्रलोभनोके प्रचण्ड ववण्डरके उठ खडे होनेपर उसे तिनकोंकी तरह परे फेंक दे? आर्य-सस्कृतिकी सवसे वडी योजना, उसकी सव योजनाओका केन्द्र 'मानवका निर्माण' था। आज हम यह तो सोचते हं, दिनोदिन वढती जन-सख्याको किस तरह कम किया जाय। माता-पिता क्या करें जिससे कम-से-कम वच्चे पैदा हो, क्योंकि हमारे सामने रोटी-कपडेके सिवा मानवकी कोई दूसरी समस्या है ही नहीं। यह कोई नहीं सोचता कि जो वच्चे पैदा हो रहे हैं उनको मनुष्य वनानेके

ि-दे खडा किया जाय। असली समस्या उनकी है जो पैदा हो चु
जो पैदा हो चुके हैं उनकी समस्या सिर्फ रोटी-कपड़े-मकान ही न
इसमें सन्देह नहीं कि रोटी-कपडा न मिलनेपर मनुष्य झूठा-
दुराचारी-भ्रष्टाचारी हो सकता है, परन्तु इनके भरपूर मिलनेपर
वैसा ही रहता है—इस समस्याका क्या हल है ? आज ससारमें
चार उन लोगोसे नहीं फैल रहा जो भूखे-नगे है, उन लोगोसे फैल
जिनके पास खानेको ज्यादा, पहननेको ज्यादा, रहनेको ज्यादा, स
सब तरहसे सबसे ज्यादा हैं। आर्य-सस्कृति ने अपने विचारव
इस समस्याको बनाया था।

हमें मानवका निर्माण करना है। वह कैसा मूर्ख होगा जो ऐस
खडा कर रहा हो जिसमें रहनेवाला उसे उडा देनेके मनसूबे बाध र
आज हम एक महान् सभ्यताको जन्म दे रहे हैं, विज्ञानके बडे-बडे आ
हो रहे हैं, मनुष्य पांवोसे चलनेके स्थानपर उडने लगा है,
जिस विशाल वैभवको वह उत्पन्न कर रहा है उसके सर्वनाशके बी
साथ ही बखेरता चला जा रहा है। शान्तिका हम नाम लेते हैं, अ
बढती जाती है, प्रेमकी माला जपते हैं, द्वेष और घृणा फूलते-फलते हैं
यह सब इसलिये नहीं है क्योकि शान्तिके स्रोत प्रेम के उद्गम
'आत्म-तत्त्व'को हम भुलाये बैठे हैं। हम सब- है, चारो

था। संस्कारोंसे ही तो मनुष्य बनता है। आत्म-तत्त्व जन्म-जन्मान्तरोंमें किस प्रक्रियामेंसे गुजरा है? हर जन्ममें इसपर संस्कार पड़ते हैं, अच्छे या बुरे—यही तो इस जन्मकी, पिछले जन्मोंकी, और अगले जन्मोंकी कहानी है। इस संस्कृतिमें मनुष्य-जन्मका उद्देश्य शुभ-संस्कारोंद्वारा 'आत्म-तत्त्व'के मैलको धोना है, उसे निखारते जाना है। पिछला मैल कैसे धोया जाय, और नया रंग कैसे चढ़ाया जाय? यह सब-कुछ इस जन्मके संस्कारों-द्वारा ही तो हो सकता है। इस जन्ममें बंधकर ही तो आत्म-तत्त्व पकड़में आता है। बर्तन हाथसे पकड़कर मंजता है, आत्माकी शरीरमें बंधकर मैल धुलती है, शरीरमें बंधकर ही उसपर शुभ-संस्कारोंका नया रंग चढ़ता है। जिस समय, जिस क्षण आत्मा शरीरके बन्धनमें पड़ा, उसी समयसे, उसी क्षणसे आर्य-संस्कृति उसपर उत्तम संस्कार डालना शुरू कर देती है, और उस क्षणतक डालती चली जाती है जबतक 'आत्म-तत्त्व' शरीरको छोड़कर फिर तिरोहित नहीं हो जाता। आत्मा जब-जब शरीरमें आता है तब-तब आर्य-संस्कृतिकी व्यवस्थामें संस्कारोंकी शृंखला से ऐसा घेर दिया जाता है जिससे उसपर कोई अशुभ संस्कार पड़ने ही नहीं पाता। संस्कार तो पड़ने ही हैं, कोई व्यवस्था नहीं होगी, तो अच्छोंके स्थानमें बुरे संस्कार ज्यादा पड़ते जायंगे, मानवका निर्माण होनेके स्थान में, मानवका बिगाड़ होता चला जायगा; व्यवस्था होगी, संस्कारोंका नियमन होगा, अच्छे संस्कार पड़ें, बुरे न पड़ें, इस बातका नियन्त्रण होगा, तो मनुष्य लगातार मनुष्य बनता जायगा, स्वयं उठता जायगा, समाज को उठाता जायगा। आर्य-संस्कृतिकी जो विचार-धारा है उसके अनुसार, यह जन्म, पिछले जन्म, अगले जन्म—यह सब संस्कारोंद्वारा आत्म-शोधका एक सिलसिला है, संस्कारोंको लगातार चोटसे 'आत्म-तत्त्व'पर पड़े मैलको हटानेका प्रयत्न है।

लिये क्या किया जाय। असली समस्या उनकी है जो पैदा हो चुके हैं। जो पैदा हो चुके हैं उनकी समस्या सिर्फ रोटी-कपडे-मकान ही नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि रोटी-कपडा न मिलनेपर मनुष्य झूठा-बेईमान-दुराचारी-भ्रष्टाचारी हो सकता है, परन्तु इनके भरपूर मिलनेपर भी वह वैसा ही रहता है--इस समस्याका क्या हल है? आज संसारमें भ्रष्टाचार उन लोगोसे नहीं फैल रहा जो भूखे-नंगे हैं, उन लोगोसे फैल रहा है जिनके पास खानेको ज्यादा, पहननेको ज्यादा, रहनेको ज्यादा, सब-चीज सब तरहसे सबसे ज्यादा हैं। आर्य-संस्कृति ने अपने विचारका केन्द्र इस समस्याको बनाया था।

हमें मानवका निर्माण करना है। वह कैसा मूर्ख होगा जो ऐसा महल खडा कर रहा हो जिसमें रहनेवाला उसे उडा देनेके मनसूबे बाध रहा हो। आज हम एक महान् सभ्यताको जन्म दे रहे हैं, विज्ञानके बडे-बडे आविष्कार हो रहे हैं, मनुष्य पावोंसे चलनेके स्थानपर उडने लगा है, परन्तु जिस विशाल वैभवको वह उत्पन्न कर रहा है उसके सर्वनाशके बीज वह साथ ही बखेरता चला जा रहा है। शान्तिका हम नाम लेते हैं, अशान्ति बढती जाती है, प्रेमकी माला जपते हैं, द्वेष और घृणा फूलते-फलते हैं। क्या यह सब इसलिये नहीं है क्योंकि शान्तिके स्रोत, प्रेम के उद्गम-स्थान 'आत्म-तत्त्व'को हम भुलाये बैठे हैं। हम सब-कुछ बना रहे हैं, चारो तरफ हमारी योजनाए चल रही हैं, हम सिर्फ उस योजनाकी तरफसे अन्धे हैं जिसपर हमारी सब योजनाओका आधार है, जो योजनाओकी योजना है, जिसके लिये सब योजनाएं है, और जिसके बिना सब योजनाए बेकार है।

'मानव-निर्माण'का आधार संस्कार-प्रणाली---

आर्य-संस्कृतिने मानवके निर्माणकी योजनाको तैयार किया था। इसी योजनाको सफल बनानेके लिये संस्कारोकी पद्धतिको प्रचलित किया

था। सस्कारोसे ही तो मनुष्य बनता है । आत्म-तत्त्व जन्म-जन्मान्तरोंमें किस प्रक्रियामेंसे गुज़रा है ? हर जन्ममें इसपर सस्कार पडते है, अच्छे या बुरे—यही तो इस जन्मकी, पिछले जन्मोकी, और अगले जन्मोकी कहानी है । इस सस्कृतिमें मनुष्य-जन्मका उद्देश्य शुभ-सस्कारोद्वारा 'आत्म-तत्त्व'के मैलको धोना है, उसे निखारते जाना है। पिछला मैल कैसे धोया जाय, और नया रग कैसे चढ़ाया जाय ? यह सब-कुछ इस जन्मके संस्कारो-द्वारा ही तो हो सकता है । इस जन्ममें बंधकर ही तो आत्म-तत्त्व पकडमें आता है। बर्तन हाथसे पकडकर मंजता है, आत्माकी शरीरमें बधकर मैल धुलती है, शरीरमें बधकर ही उसपर शुभ-सस्कारोका नया रग चढता है। जिस समय, जिस क्षण आत्मा शरीरके बन्धनमें पडा, उसी समयसे, उसी क्षणसे आर्य-संस्कृति उसपर उत्तम सस्कार डालना शुरू कर देती है, और उस क्षणतक डालती चली जाती है जबतक 'आत्म-तत्त्व' शरीरको छोडकर फिर तिरोहित नहीं हो जाता। आत्मा जब-जब शरीरमें आता है तब-तब आर्य-संस्कृतिकी व्यवस्थामें सस्कारोकी शृखला से ऐसा घेर दिया जाता है जिससे उसपर कोई अशुभ सस्कार पडने ही नहीं पाता । सस्कार तो पडने ही है, कोई व्यवस्था नही होगी, तो अच्छोके स्थानमें बुरे सस्कार ज्यादा पडते जायगे, मानवका निर्माण होनेके स्थान में, मानवकी बिगाड होता चला जायगा; व्यवस्था होगी, सस्कारोका नियमन होगा, अच्छे संस्कार पडें, बुरे न पडें, इस बातका नियन्त्रण होगा, तो मनुष्य लगातार मनुष्य बनता जायगा, स्वयं उठता जायगा, समाज को उठाता जायगा । आर्य-संस्कृतिकी जो विचार-धारा है उसके अनुसार, यह जन्म, पिछले जन्म, अगले जन्म—यह सब संस्कारोद्वारा आत्म-शोधका एक सिलसिला है, सस्कारोकी लगातार चोटसे 'आत्म-तत्त्व'पर पडे मैलको हटानेका प्रयत्न है ।

अगर अगला-पिछला जन्म न मानें, इसी जन्मको मानें, तब तो संस्कारो को नियंत्रित करके मानवका निर्माण अत्यन्त आसान हो जाता है। मनुष्य जो-कुछ है, 'वशानुसक्रमण' (Heredity) तथा 'परिस्थिति' (Environment) का ही परिणाम है। 'वश-परपरा'से माता-पिता जो शारीरिक या मानसिक सस्कार देकर हमें पैदा कर देते है और 'परिस्थिति'से जो संस्कार हमपर पडते जाते हैं, इन दोनोके मिश्रणसे मनुष्य बनता है। जो पूर्व-जन्मोको मानते है, उनके लिये, इस जन्ममें आत्मा के अपने 'निजी सस्कार', माता-पिताद्वारा 'वश-परपरा'के प्राप्त सस्कार, और 'परिस्थिति'से पडनेवाले सस्कार—इन तीनोका मुकाबिला करना एक कठिन समस्या बन जाता है, जो पूर्वजन्मको नहीं मानते उनकी समस्या 'वश-परपरा' तथा 'परिस्थिति'—इन दो प्रकारके सस्कारोतक सीमित रह जाती है। अगला-पिछला जन्म न मानने, अर्थात् केवल इस जन्मको माननेवालोके लिये तो मानवका निर्माण अत्यत सुगम है। इसमें तो आत्माके अपने पूर्व-जन्मोके सचित सस्कारोका प्रश्न ही नहीं उठता। हम जो सस्कार बालकपर डाल देंगे बडा होकर वह वही बनेगा—यह सत्य भौतिकवादी वर्तमान सभ्यताकी दृष्टिमें जितना सरल और सहल है उतना अध्यात्मवादी आर्य-सस्कृतिमें नहीं, परन्तु फिर भी वर्तमान सभ्यताका ध्यान मानवके निर्माणकी तरफ नहीं जा रहा। हम चूहो और खरगोशो पर परीक्षण करते है, घोडो, बैलो और गायोकी नसलोको सुधारनेका प्रयत्न कर रहे हैं, परन्तु मानवके निर्माणके लिये हम कुछ नहीं कर रहे। आर्य-सस्कृतिने सस्कारोद्वारा मानवके निर्माणको अपने सम्पूर्ण कार्य-क्रम में इतना बडा स्थान दिया था, शायद इसका कारण यह था कि वह आत्माकी सत्ताको मानती थी, आत्माके पूर्व-जन्मोको मानती थी, शरीरके मुकाबिले में आत्माको ही यथार्थ-सत्ता मानती थी, शरीरको आत्माका साधन मानती

थी, इस जन्मको, शरीरका नहीं किन्तु आत्माका प्रश्न मानती थी, और आत्माके उन्नतिके मार्गपर चलनेको इतनी महान् समस्या मानती थी कि इस जन्ममें इसके हल करनेमें जान न लडा दी तो सब-कुछ खोया गया, जीना-न-जीना एक-सा हो गया—ऐसा मानती थी। उपनिषद्के ऋषिने कहा था—'इह चेदवेदीत् अथ सत्यमस्ति, न चेदवेदीत् महती विनष्टि'—यहा, इस जन्ममें अगर आत्म-तत्त्वको पा लिया, तो ठीक, जन्म सार्थक हो गया, न पाया तो नाश, महानाश हो गया। आत्मापर जन्म-जन्मान्तरके सस्कारोका इतना भारी बोझ था कि उसे उतारनेका मौका इस जन्ममें चूक जाना एक अनर्थके सिवा क्या हो सकता था ? आत्माके सस्कारो के बोझको कैसे हल्का किया जाय, उसके संस्कार कैसे बदले जाय ? आर्य-सस्कृतिका कहना था कि माता-पिताद्वारा, उन माता-पिताद्वारा जिन्हे माध्यम बनाकर आत्मा इस जन्मको धारण करता है, सस्कारोको चोट देकर, और परिस्थितिद्वारा पडनेवाले सस्कारोको नियन्त्रित करके आत्माके पुराने सस्कार हटाये जा सकते है, उसपर नये सस्कार डाले जा सकते है। अगर आत्मा पुराने सस्कारोको लेकर आता है, तो वे भी तो किसी जन्ममें माता-पिता तथा अन्य परिस्थितिद्वारा नये सिरे से पट रहे थे। जैसे उस समय नये सिरेसे पड रहे थे, वैसे इस जन्ममें भी नये संस्कार नये सिरेसे पड सकते है। आर्य-सस्कृति निरी भाग्यवादी सस्कृति नहीं है। जो-कुछ है वह पीछेसे ही आता है, नया कुछ नहीं होता—यह आर्य-सस्कृति का विचार नहीं है। न ही आर्य-सस्कृति यह मानती है कि जो-कुछ है, नया ही है, पीछेसे कुछ नहीं आता। पीछेसे बहुत-कुछ आता है, आगे भी बहुत-कुछ नया बनता है, भाग्य भी है, पुरुषार्थ भी है, जो पीछेसे बना-बनाया आता है वह किसी समय बन रहा था, जो भाग्य है वह किसी समय पुरुषार्थ था। पुरुषार्थ तो पुरुषार्थ है ही, भाग्य भी इस दृष्टिसे पिछले

जन्मका पुरुषार्थ है। आत्मा जिन संस्कारोको लेकर आता है वे किसी समय पड़ रहे थे। जैसे किसी जन्ममें वे संस्कार बन रहे थे, आत्मापर पड़ रहे थे, उसके जीवनकी दिशाको बना रहे थे, वैसे इस जन्ममें इच्छित संस्कारोको आत्मापर डालकर हम उसके जीवनकी नवीन दिशाका निर्धारण कर सकते हैं। पीछे जो-कुछ हो गया, हो गया, वह हमारे वसकी बात नही रही, इस जन्ममें सब-कुछ अपने हाथमें है, अपने वसमें है, इसलिये इस मौकेको चूक जाना 'महती विनष्टि'—महा अनर्थ—नहीं तो क्या है? यह दृष्टि थी जिससे आर्य-संस्कृतिने संस्कारोकी प्रथाको जन्म दिया था।

पिछले जन्मोके 'कर्म' तथा इस जन्मके 'संस्कार'—

परन्तु इस एक छोटे-से जन्मके संस्कार जन्म-जन्मान्तरोके कर्मोंका मुकाबिला कैसे करेंगे? हमने न जाने कितने कर्म किये, अच्छे किये, बुरे किये, उन सबको एक-एक करके भोगे बिना केवल इस जन्मके संस्कार क्या कर सकेंगे? क्या ये एक जन्मके संस्कार पिछले इकट्ठे हुए अनन्त जन्मोके कर्मोंके बोझको, उन कर्मोंके पड़े हुए संस्कारोको हल्का कर सकेंगे?

कर्मके विषयमें मानव-समाजने भिन्न-भिन्न विचारोको जन्म दिया है। कोई कहता है, मनुष्यकी पीठपर दो फरिश्ते हर समय हर कामको दो बहियोमें लिखते रहते हैं। कोई कहता है, चित्रगुप्तकी वहीमें एक-एक काम, अच्छा हो, बुरा हो, दर्ज किया जाता है। हर कामकी पडताल होती है, हर कर्मका फल मिलता है, जबतक एक-एक कर्मका फल नहीं मिल जाता, कर्म बैठा रहता है। इन सब विचारोका आधार-भूत विचार एक ही है। संसारमें कार्य-कारणका नियम चल रहा है। कोई कार्य बिना कारणके नहीं होता, और हर कारणका कार्य अवश्य होता है। जिसे

हम कारण कहते हैं वह पिछले कारणका 'कार्य' हो सकता है, जिसे हम कार्य कहते हैं वह किसी अगले कार्यका 'कारण' हो सकता है। इस प्रकार कारण-कार्यकी व्यवस्थासे कर्मोकी शृखला चलती चली जाती है। कर्मों को इस कारण-कार्य-शृखलाका रूप क्या है ? कर्म किसी रजिस्टर में नहीं लिखे जाते, चित्रगुप्तकी वहीमें भी नही दर्ज होते। कर्म तो अपनी निशानी लगाते जाते है, लकीर छोडते जाते हैं, रेखा खींचते जाते हैं। यह निशानी, यह लकीर, यह रेखा तो मस्तिष्कपर पड़ती है। मस्तिष्क, अर्थात् स्नायु-मडल तो भौतिक-वस्तु है, अत उसपर रेखा पड सकती है। आत्म-तत्त्वपर कर्मकी कौन सी निशानी पडती है, कौन-सी रेखा खिचती है ? कर्मकी आत्म-तत्त्वपर पडी निशानी, उसकी लकीर, उसकी रेखाका नाम ही 'सस्कार' है। आत्म-तत्त्वपर एक-एक कर्म नहीं लिखा जाता, उन कर्मोके कारण आत्माके जो सस्कार बनते जाते हैं, आत्माकी रुचि, उसकी प्रवृत्ति, उसकी गतिकी दिशा, एक रास्ता सहल, दूसरा आसान—इसी प्रकारके सस्कारोका बनते जाना कर्मोकी शृखलाका लिखा जाना है। जैसे हम भोजन खाते है, यह भोजन शरीरमें बैठा नहीं रहता, यह पचकर शरीर बन जाता है, अच्छे भोजनसे स्वस्थ शरीर, बुरे भोजनसे अस्वस्थ शरीर, वैसे जब हम कर्म करते हैं, तो ये कर्म उनका फल भोगेजानेके समयतक बैठे नहीं रहते, उन कर्मोसे तत्काल, उसी समय उनका फल—'सस्कार'—बनते जाते हैं। जैसे भोजनके फलस्वरूप शरीर बन जाता है वैसे कर्म, जो मानसिक भोजन है, उनके फल-स्वरूप सस्कार बन जाते हैं। शरीर बन जानेके बाद उस भोजनसे हमें नहीं उलझना पडता जो हमने खाया था, शरीरसे उलझना पड़ता है, इसी प्रकार संस्कार बन जानेके बाद उन भिन्न-भिन्न कर्मोसे हमें नहीं उलझना पड़ता,

जो हमने किये थे, हमें संस्कारोंसे ही उलझना पडता है। ये सस्कार ही कर्मोंका लेखा है। इन सब कर्मोंको एक-एक करके भोगना नहीं पडता। ये सस्कार ही कर्मोंके भोग है, एक-एक कर्मके भोग, क्योंकि कोई कर्म सस्कार छोडे वगैर नही रहता। अच्छे कर्मोंका या तो तुरत अच्छा फल मिल जाता है, या अच्छे कर्मोंसे अच्छा सस्कार पड़ गया, अच्छी रुचि बन गई, अच्छी दिशाकी तरफ आत्मा चल पडा। यह शुभ सस्कार, शुभ रुचि, शुभ प्रवृत्ति भी अच्छे कर्मोंका भोग है, फल है, परिणाम है—अब सब कर्मोंको अपनी-अपनी बारीतक बैठे रहनेकी जरूरत नहीं रहती। बुरे कर्मोंका भी या तो तुरत बुरा फल मिल जाता है, या बुरा सस्कार पड गया, बुरी रुचि बन गई, बुरी दिशाकी तरफ आत्मा चल पड़ा। कर्मोंके लेखेके रूपमें बने ये सस्कार स्वय कार्य है, फल है, परिणाम है। आत्मा इस जन्मसे चलता हुआ भिन्न-भिन्न कर्मों की गठड़ीको बाधकर नहीं ले जाता। जैसे वृक्ष बीजमें समा जाता है, वक्ष बीजका ही फैलाव है, विस्तार है, वैसे कर्म—अनन्त-कर्म—बीज-रूप में, सस्कारमें समा जाते है; कर्म, सस्कारका ही फैलाव है, विस्तार है, अनन्त-कर्म सिमिटकर सस्कारमें आ बैठते है। सस्कार आत्माके साथ रहते है, उसे छोडते नहीं। जब संस्कार आत्माके साथ आ गये, तब इस बातके जाननेकी आवश्यकता नहीं रहती कि अमुक जो कर्म हमने किया था, उसका क्या हुआ, क्या नहीं हुआ। जिन कर्मोंका तत्काल-फल मिल गया वह तो मिल गया, जिनका नहीं मिला वे कर्म अपना सस्कार छोड जाते है, वैसे-के-वैसे नहीं बने रहते। सस्कारोका सिद्धान्त ही यह है कि एक-एक कर्मसे हमारा वास्ता नहीं रह जाता, हमारा वास्ता सस्कारोसे, आत्माकी रुचिसे, प्रवृत्तिसे रह जाता है, कर्मोंका प्रश्न संस्कारोके बन जानेपर समाप्त हो जाता है, और इसके बाद हमारी अस्ली समस्या

भिन्न-भिन्न कर्म नहीं रहते, सस्कार हो जाते है। सस्कारोके इस पुजको ही ऋषि-मुनियोने आत्माके 'सूक्ष्म-शरीर', 'कारण-शरीर'का नाम दिया था। कर्मोंके निचोड को सस्कार कहते है, और सस्कारो के निचोड़को 'कारण-शरीर' कहते है। 'कारण-शरीर' कहनेसे सस्कार और कर्म सब कुछ आ जाता है। 'कारण-शरीर' इसलिये कहा क्योकि आगे जो-कुछ वनना है उसका ये सस्कार ही कारण है। आर्य-सस्कृतिका कहना था कि आत्माके इस 'कारण-शरीर'में, सस्कारो के शरीरमें, जन्म धारण कर लेनेके वाद तो मस्कार डाले ही जा सकते है, जन्म लेनेसे पहले भी नये सस्कार डाले जा सकते है। 'कारण-शरीर'में नवीन सस्कारोका पड जाना—यही सस्कारोकी पद्धतिका रहस्य है। 'कारण-शरीर'मे जो सस्कार पड जायेंगे, चाहे पुराने हो, चाहे नये हो, वे ही इस जन्ममें फूटेंगे। सस्कारोद्वारा ही सस्कारोको वदला जा सकता है। तव आत्माके एक-एक कर्मके पडताल करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। जन्म-जन्मान्तरोके कर्मोका निचोड ही तो सस्कार है। वृक्षकी टहनियो तक रस पहुचानेके लिये एक-एक टहनीमें रस डालनेकी आवश्यकता नहीं, उसकी जडमें रस डालनेसे एक-एक टहनीमें रस पहुच जाता है। सस्कारोको पकडनेसे कर्म-रूपी वृक्षकी एक-एक टहनी हाथ आ जाती है। एक-एक कर्मसे उलझनेकी आवश्यकता नहीं रहती, एक-एक टहनीको पकडने की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार कर्मोंकी जटिल समस्याको सस्कारोद्वारा हल करनेका आर्य-सस्कृतिने प्रयत्न किया था और मानव के नव-निर्माणके विचारको जन्म दिया था।

नये सस्कारोद्वारा पुराने सस्कारोको वदलना—

जो आत्मा नया शरीर धारण करनेवाला है वह कुछ सस्कारोको लेकर

आनेवाला है। ये संस्कार उसका 'कारण-शरीर' है, ऐसा शरीर है जो उसके इस जन्मके मन और स्थूल शरीरको बनानेमें कारण बननेवाले हैं। अगर इसमें बुरे संस्कार हैं और हम वहीं, उसके स्थूल रूपमें आनेसे पहले ही, उन सूक्ष्म संस्कारोंपर चोट नहीं करते, उन्हे बदलनेका यत्न नहीं करते, तो ये संस्कार जैसे हैं वैसा ही तो मानव उत्पन्न होगा। मानवके उत्पन्न होनेसे पहले, उसके संस्कारोंके शरीरमें, उस शरीरमें जो इस जन्मका कारण है, जिसे 'सूक्ष्म-शरीर', 'कारण-शरीर' आदि नामोंसे कहा गया है, नवीन आत्माको जन्म देनेवाले स्त्री-पुरुष अपने विचारोंके वेगसे, बलसे, उनकी उग्रतासे नवीन संस्कार डालनेका यत्न करते हैं। नव-मानव की उत्पत्ति माता-पिताके रज-वीर्यसे ही तो होती है। यह रज-वीर्य ही नव-मानवके 'सूक्ष्म-शरीर', 'कारण-शरीर'का भौतिक आधार बननेवाला है। माता-पिता जैसे होंगे वैसा उनका रज-वीर्य होगा। शुद्ध विचारोंसे शुद्ध रज-वीर्य, अशुद्ध विचारोंसे अशुद्ध रज-वीर्य बनेगा। शुद्ध विचारोंसे बने रज-वीर्यकी तरफ नया जन्म लेनेवाले आत्माका जो संस्कारोंका शरीर, सूक्ष्म-शरीर या कारण-शरीर खिंचेगा, उसमें जन्म लेनेसे पूर्व ही पुराने बुरे संस्कारों, रुचियों और प्रवृत्तियोंपर माता-पिताद्वारा अपने रज-वीर्यके माध्यमसे दिये हुए संस्कारोंकी एक ऐसी चोट लग जायगी जिससे जन्मलेनेके बाद मानवके जीवनकी दिशा बदल जायगी, और वह पुराने संस्कारोंके होते हुए भी, नये संस्कारोंके कारण, नयी दिशाकी तरफ चल पड़ेगा। क्या विचारोंमें इतना सामर्थ्य है कि वह रज-वीर्यपर पड सके, रज-वीर्यपर पड़कर आत्माके पुराने संस्कारोंको, उसके 'कारण-शरीर'को भी बदल सके ? आर्य-संस्कृतिके लोग तो ऐसा मानते थे। वे मानते थे कि जैसे बीजके भीतर, उसकी रचनामें ऐसा परिवर्तन किया जा सकता है जिससे उत्कृष्टतर पौधा उत्पन्न हो, वैसे आत्माके जन्म लेनेसे पूर्व, उसके 'सूक्ष्म-

शरीर', 'कारण-शरीर', 'संस्कारोंके शरीर'में माता-पिताके सशक्त, वेगवान् विचारोंके द्वारा, रज-वीर्यके माध्यमसे, जिस माताके पेटमें उसे नौ मास रहना है, जिसके अंग-अंगसे उसे रस लेना है, जिसके हृदयसे इसका हृदय, जिसके मस्तिष्कसे इसका मस्तिष्क बनना है उस माताके माध्यमसे ऐसा परिवर्तन किया जा सकता है जिससे पुराने संस्कारोंको बिलकुल बदला जा सके, उन्हें सामर्थ्यहीन बनाया जा सके, और एक नव-मानवका निर्माण किया जा सके। तभी तो जो संस्कृति चारों तरफसे कर्मों के जालसे जकड़ी हुई थी उसी संस्कृतिका कथन था कि संस्कारोंद्वारा आत्माको बिलकुल बदला जा सकता है, उसे नये संस्कारोंसे प्रभावित किया जा सकता है, संसारमें मनुष्योंकी एक नयी ही जातिको उत्पन्न किया जा सकता है। अगर कर्मोंकी दीवारको आर्य-संस्कृति एक दुर्भेद्य दीवार समझती, यह समझती कि एक-एक कर्मको जबतक भोग नहीं लिया जाता तबतक आगे कदम नहीं रखा जा सकता, तो संस्कारोंकी प्रणालीको कभी जन्म न देती। कर्म भोगे जाते हैं, परन्तु संस्कारोंके रूपमें, और इसलिये संस्कारोंद्वारा इन्हें बदला भी जा सकता है। जिन संस्कारोंको हम बदलते हैं वे उस आत्माके होते हैं जिसे जन्म लेना है, जिन संस्कारों द्वारा बदलते हैं वे माता-पिताके होते हैं, उन आत्माओंके होते हैं जिन्होंने जन्म देना है। माता-पिताके संस्कार भी कर्मोंके एक लम्बे-चौड़े क्रममें पड़कर बने होते हैं। उन्होंने अनेक कर्म किये, अच्छे किये, बुरे किये, उन सबसे उनके संस्कार बने, उनकी रुचि बनी, प्रवृत्ति बनी, जीवनकी दिशा बनी। आर्य-संस्कृतिमें माता-पितासे यह आशा की जाती है कि वे अपने संस्कार ऐसे बनायें, प्रबल और सशक्त बनायें जिससे वे अपनी सन्ततिके संस्कारोंको प्रभावित कर सकें। एक व्यक्ति अपनी प्रवृत्ति से दूसरेकी प्रवृत्तिको, अपनी रुचिसे दूसरेकी रुचिको, अपनी दिशामें

दूसरेकी दिशाको, अपने संस्कारोंसे दूसरेके संस्कारोंको बदल सकता है। इस बातको माननेमें संस्कारोंको न माननेवालोंको भी कोई कठिनाई नहीं हो सकती। इसीमें संस्कार-पद्धतिद्वारा नव-निर्माणका रहस्य छिपा हुआ है।

जो लोग आत्माके जन्म-जन्मान्तर नहीं मानते, कर्मोंका बखेडा नहीं मानते, सिर्फ इसी जन्मको मानते हैं, उनके लिये यह सारी समस्या बडी सरल है। उनके लिये समस्या 'वंश-परंपरा' और 'परिस्थिति' तक सीमित रह जाती है। जैसे माता-पिता होंगे, जैसी परिस्थितिमें बच्चे रखे जायेंगे, वैसे वे बनते जायेंगे। इन लोगोंके लिये यह समस्या इतनी सरल है कि इस सरलताके कारण ही इनका नव-मानवके निर्माणकी तरफ कोई ध्यान नहीं। कर्म तथा जन्म-जन्मान्तर माननेवाली आर्य-संस्कृतिके लिये तो एक विकट समस्या थी। कर्म एक इतनी बडी रुकावट थी जिससे मानव-समाज एक कदम भी आगे नहीं बढ सकता था। इस रुकावटको देखकर आर्य-संस्कृतिकी चेतनाने मानवके निर्माणके एक बिल्कुल नये विचारको जन्म दिया, और संस्कारोंकी एक ऐसी प्रथाको प्रचलित किया जिसका उद्देश्य ही मनुष्य-समाजको लगातार बदलकर ऊंचे ऊंचे ले जाना था। नये समाजके लिये नया मनुष्य बनाना होगा, मनुष्य-समाज तब बदलेगा जब एक-एक मनुष्य बदलेगा, एक-एक मनुष्य तब बदलेगा जब उसके निर्माणके समय पहले नक्शा खींचकर, नक्शा सामने रखकर उसका निर्माण होगा। जैसे मकान बनाया जाता है, मकान बनानेसे पहले उसकी रूप-रेखा खींची जाती है, एक-एक ईंट, एक-एक पत्थर उस रूप-रेखाके अनुसार चिना जाता है, ऐसे ही जब मानवके निर्माणकी पहले रूप-रेखा बनेगी, उस रूप-रेखाके अनुसार ही जब उसकी रचना होगी, तब यह संसार एक नया संसार होगा, ये मनुष्य नये मनुष्य होंगे। आर्य-संस्कृतिके संस्थापकोंका

संस्कारोंकी प्रणालीको प्रचलित करनेमें मनुष्यको रूपान्तरित करनेका यह स्वप्न था।

सोलह संस्कार—जन्म लेनेसे पहलेके संस्कार—

मनुष्यको बिल्कुल बदल देने, आमूलचूल उसमें परिवर्तन कर देनेका जो प्रयास आर्य-संस्कृतिमें किया गया था उसमें दो-चार नहीं, सोलह संस्कार थे। संस्कार आत्माके जन्म धारण करनेसे पहले शुरू हो जाते थे। कुछ जन्म ग्रहण करनेसे पूर्वके संस्कार थे, कुछ जन्म लेनेके बादके। सबसे पहला संस्कार 'गर्भाधान' संस्कार था, वह संस्कार जिसे आजका जड़वादी जगत् विषय-तृप्तिका साधनमात्र समझता है। इस संस्कारको आर्य-संस्कृति नवीन आत्माके आवाहनका एक पवित्र यज्ञ समझती थी। जीवनकी साधना एक उद्देश्यसे थी। किस प्रकार अपनेसे ऊंचे, अपनेसे श्रेष्ठ आत्माको जीवनमें निमन्त्रित किया जाय, ऐसे आत्माको जो संसारको पहलेसे आगे ले जाये। फिर जब दूसरे तीसरे महीने यह पता चल जाता था कि गर्भ रह गया है, तब 'पुंसवन' संस्कार होता था। पुंसवन संस्कारके समय माताको सम्बोधन करके कहा जाता था—'आ वीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्य'—दस मास तेरी कोखमें रहकर तेरा पुत्र वीर उत्पन्न हो। जीवनके प्रारम्भसे ही माता अपने संकल्प, [illegible] विचारोंसे, अपनी वेगवती तरंगोंकी [illegible] अपने पुत्रको जीवनकी दिशा देने लगती थी। पुंसवन-संस्कार तब होता था जब गर्भमें भौतिक शरीरका निर्माण होने लगता था। जब गर्भमें मानसिक शरीरका निर्माण प्रारम्भ होता था तब 'सीमन्तोन्नयन' संस्कार किया जाता था। [illegible] बताये जाते थे, उसे अच्छे [illegible], [illegible] कहा जाता था, [illegible] [illegible] पिता कहता था—'[illegible]'—[illegible]

देखती हो ? माता कहती थी—'प्रजां पश्यामि'—मैं इसमें अपनी सन्तान को देखती हूं। दिन-रात अपनी सन्तानके निर्माणमें माता लीन रहती थी। इन नौ-दस महीनोंको माता एक ही ध्यानमें बिताती थी। उसे एक ऐसी सन्तानको जन्म देना है जिसे वह जो चाहे बना सकती है। उसके गर्भमें वह जो-कुछ बन गया फिर उसे बदलना असंभव हो जायगा। इस समय वह एक ऐसी मशीनमें पड गया है जिसमें उसके 'कारण-शरीर'को पकड़कर, अपने संस्कारोंके ढांचेमें उसके संस्कारोंको ढाला जा सकता है। आत्माका 'कारण-शरीर'में बंध जाना, 'कारण-शरीर'का माता-पिताके रजवीर्यमें बंध जाना, माता-पिताके अंग-अंगसे ही आत्माका इस जन्ममें आ सकना, इसके बिना न आ सकना—ये सब बातें माता-पिताके हाथ में एक ऐसा साधन दे देती हैं जिससे वे सन्तानको जो चाहे बना सकते हैं। अमेरिकाके प्रेसीडेन्ट गारफील्डका घातक गीटू जब पेटमें था तब उसकी माता गर्भपातकी औषधियां खाकर उसे गिराना चाहती थी, वह न गिरा परन्तु माताके संस्कारोंने उसे हत्यारा बना दिया। नैपोलियनकी माता जब गर्भवती थी तब नित्य फौजोंकी कवायद देखने जाती थी। सैनिकोंके जोशीले गीतोंको सुनकर उसके हृदयमें जो प्रबल लहरें उठी थीं उन्होंने नैपोलियनको नैपोलियन बना दिया। प्रिंस बिस्मार्क जिस माताके गर्भ में था वह अपने घरके द्वारपर लगे हुए नैपोलियनकी सेनाके तलवारोंके चिह्नोंको जब देखा करती थी, उस समय उसके हृदयमें फ़्रांससे बदला लेनेकी इच्छा प्रबल हो उठती थी। इन संस्कारोंके वेगने फ़्रांससे बदला लेनेवाला बिस्मार्क पैदा कर दिया। गर्भावस्थाकी दस महीनेकी मशीन इतनी जबर्दस्त है, इस समय बालकपर डाले गये संस्कार इतना वेग रखते हैं कि जन्म-जन्मान्तरके संस्कार उसके सम्मुख ढीले पड़ जाते हैं। तभी कहा गया है कि मनुष्य-जन्म एक दुर्लभ जन्म है। जीवनका कांटा इस समय

बदल गया तो बदल गया, नहीं तो कहनेवाले कहते थे कि फिर चौरासी लाख योनियोंका चक्कर काटना पडेगा। इसका यह मतलब नहीं कि कोई गिनी-गिनाई चौरासी लाख योनियां है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि मनुष्य-जीवन यूं ही हाथसे खो देनेकी चीज नहीं। यह मिला है, तो किसी कामके लिये, जीवनका निर्माण करनेके लिये। नवजीवनके निर्माण का काम गर्भमें आते ही शुरू हो जाता है। उस समय माताका हाथ विश्वकर्माका हाथ है। वह जो चाहे कर सकती है। जन्म लेनेसे पूर्व, जबतक बालक माताके पेटमें रहता है, तबतक वह सस्कारोंकी पूरी चोट देती रहे, पुराने सस्कारोंको बदलकर, उनका वेग कम करके, नये सजीव सस्कारोंका वेग बढा दे, बालकके 'कारण-शरीर'में, जो माता-पिताके भौतिक-शरीरमेंसे गुजर रहा है, अपनी ऐसी पुट चढा दे, ऐसी जाग लगा दे कि बालक कुछ-का-कुछ बन जाय—यह उद्देश्य है 'गर्भाधान', 'पुंसवन' तथा 'सीमन्तोन्नयन' सस्कारोंका—उन तीन सस्कारोंका जो तब किये जाते हैं जब सन्तानने जन्म नहीं लिया होता, अभी वह माता-पिताके शरीरका ही अंग होती है, उन्हींका हिस्सा होती है, एक अर्थमें वही होती है। नव-मानवके निर्माणका यही समय है। ससारकी माताएं इस रहस्यको समझ जायं तो एक नया मानव नहीं, एक नया समाज उत्पन्न हो जाय।

जन्म लेनेके बादके सस्कार—

इसके बाद वे सस्कार आते हैं जो जन्म लेनेके बादके हैं। बच्चेके जन्म लेते ही सोनेकी शलाकासे उसकी जीभपर 'ओ३म्' लिखा जाता है, कानमें 'वेदोऽसि' कहा जाता है, 'अश्मा भव—परशुर्भव' आदि मन्त्र उच्चारण किये जाते हैं। यह 'जात-कर्म' संस्कार है। उत्पन्न होते ही इसे

ऐसे सस्कारोसे घेर दिया जाता है जो उसके 'व्यक्तित्व'के निर्माणके लिये आवश्यक है। इन सब क्रियाओका मुख्य अभिप्राय यही है कि जिन माता-पिताके हाथमें अब बालकके व्यक्तित्वके निर्माणका कार्य है उन्हे हर समय अपने कर्तव्यका ध्यान रखना है। जन्मके ११वें या १०१वें दिन 'नाम-करण' सस्कारका समय है। यह नाम यू ही पुकारनेमात्रके लिये नहीं रखा जाता। 'जात-कर्म'के समय माता-पिताने एक संकल्प किया था। यह सोचा था कि उनके ऊपर एक महान् उत्तरदायित्व आ पडा है। जो आत्मा उनके घर आया है उसके व्यक्तित्व-निर्माणमें उन्होने कोई कोर-कसर नही रख छोडनी है। अब नामकरण-संस्कारके समय वे उस सकल्पको स्थूलरूप देते है, बालकके सामने जीवनमें जैसा लक्ष्य रखना चाहते है वैसा नाम उसे देते है। नाम रख देनेका अभिप्राय है जीवन-में सदाके लिये, जाने-अनजाने, एक विशेष प्रकारका सस्कार डालते रहना। 'सत्य-स्वरूप' नामवाला अगर झूठ बोले तो अपने नामसे उसे स्वय शर्म आये, 'प्रेम-सागर' कहानेवाला अगर लड़े-झगडे तो उसका नाम ही उसे झिडक दे। इन दो सस्कारोके बाद चौथे मासमें 'निष्क्रमण', छठे मासमें 'अन्न-प्राशन', तीसरे वर्षमे 'चूड़ाकर्म', पांचवें वर्षमें 'कर्णवेध' सस्कार किये जाते है। ये सब स्वास्थ्यकी दृष्टिसे किये जाते है ताकि शुरू-शुरूमें माता-पिताका बालकके शरीरकी तरफ ध्यान रहे। जब बालकको पढने-लिखनेकी उम्र हो जाये, तब 'उपनयन'-सस्कार किया जाता है। 'उप'का अर्थ है, समीप, 'नयन'का अर्थ है, ले जाना—तब बालकको गुरुके समीप ले जाते है। आर्य-सस्कृतिमें प्रत्येक बालकका उपनयन-सस्कार आवश्यक है, इस सस्कृतिमें गुरु-शिष्यका प्रगाढ़ सम्बन्ध हो जाना जीवनके कार्य-क्रमका आवश्यक हिस्सा है। शिष्य गुरुको कहता है—'ब्रह्मचर्य-मागाम् उपमानयस्व'—मै ब्रह्मचर्य धारण करनेके लिये आपके पास

आया हूं, मुझे अपने निकट रखिये ! आर्य-संस्कृतिमें बालक गुरुके पास रहता था, दिन-रात उसीके आश्रममें जीवन बिताता था, और उसके इन दिनोंका मुख्य लक्ष्य ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन था। 'उपनयन'—अर्थात् बालकको शिक्षकके बिल्कुल नजदीक ले आना, गुरु-शिष्यका निकट-तम सम्बन्ध, पिता-पुत्रका-सा सम्बन्ध संस्कारोंकी पद्धतिका आवश्यक हिस्सा था। जैसे माता नौ मासतक बच्चेको गर्भमें धारण करती है, दिन-रात उसके निर्माणमें लगी रहती है, वैसे आचार्य बालकको विद्या-माताके गर्भमें धारण करता है, दिन-रात उसके निर्माणमें लगा रहता है। इसी आशय को अथर्व वेद में कहा है—'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि सं यन्ति देवाः ॥' आज हम भिन्न-भिन्न शिक्षा-प्रणालियोंको जन्म दे रहे हैं, परन्तु सब प्रणालियोंकी आधार-भूत शिक्षा-प्रणाली सिर्फ एक है—और वह है गुरु तथा शिष्यका पिता-पुत्रका-सा संबंध। इस सम्बन्धका नाम ही आर्य-संस्कृतिमें 'गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली' था। 'गुरुकुल'—शब्दका आधार-भूत तत्त्व है 'कुल'। गुरु तथा शिष्यमें 'कुल'की भावना, पिता-पुत्रके-से सम्बन्धको जगाना—यही सब शिक्षा-प्रणालियोंका आधार-भूत तत्त्व है। यह सम्बन्ध नहीं तो नवीन-से-नवीन शिक्षा-प्रणाली बेकार है, यह सम्बन्ध है तो पुरानी-से-पुरानी बेकार शिक्षा-प्रणाली भी बहुत भारी काम दे जाती है। 'उपनयन' और 'गुरुकुल' एक खास भावनाके प्रतीक हैं। गुरु कैसा हो? जैसे माता-पिता पुत्रको बनानेमें लगे रहते हैं, उनका पुत्रसे निकट-से-निकटका सम्बन्ध होता है, वैसे गुरु शिष्यको अपना पुत्र समझकर उससे निकट-से-निकटका सम्बन्ध स्थापित करे—यही 'उपनयन' और 'गुरुकुल' इन शब्दोंके एक-एक अक्षरसे ध्वनित है। आर्य-संस्कृतिकी शिक्षाके इस आधार-भूत सम्बन्धको [illegible] निम्न

शिक्षा-पद्धतिमें स्थान दिया गया है ? उपनयन-संस्कारके साथ-साथ एक दूसरा संस्कार होता था जिसका नाम 'वेदारंभ' था। वेदारंभका अर्थ है, वेदाध्ययनके प्रारंभ करनेका संस्कार। इस संस्कारके समय बालकको कहा जाता था—"आजसे तू ब्रह्मचारी है। शुद्ध रहनेके लिये जलका भरपूर सेवन करते रहना। कभी ठाली मत बैठना, काम में लगे रहना। आलसी मत होना, दिनको मत सोना। आचार्यके अधीन रहकर विद्या-भ्यास करना, आज्ञाका उल्लंघन न करना। एक-एक वेद का बारह वर्ष पर्यन्त अभ्यास करते हुए ४८ वर्षतक विद्याभ्यास करनेको अपना लक्ष्य बनाना। आचार्य भी अगर बुरी बात कहे तो मत मानना। क्रोध और अनृतको त्याग देना। अष्ट-प्रकारके मैथुनकी तरफ ध्यान न जाने देना। कठोर भूमिपर शयन करना। गाना-बजाना, तेल लगाना—ये सब तेरे लिये वर्जित हैं। किसी बातमें अति न करना—अति स्नान, अति भोजन, अधिक निद्रा, अधिक जागरण, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोकको छोड़ देना। रातके चौथे पहरमें जागकर, शौच से निवृत्त होकर, दातुन करना, फिर स्नान, सन्ध्या, ईश्वर-स्तुति, प्रार्थना और योगाभ्यास करना। हजामत मत करना। मांस, रूखा भोजन और मद्य-पान न करना। बैल, घोड़ा, हाथी, ऊटकी सवारी न करना। शहरमें मत रहना, जूता और छत्री मत धारण करना। बिना इच्छासे या इच्छा-पूर्वक कभी वीर्य-स्खलन न होने देना, वीर्यकी रक्षा करके ऊर्ध्वरेता बनना। तेल मलना, उबटन लगाना, अति खट्टा, अति तीखा, कसैला, क्षार, लवण और रेचक पदार्थोंका सेवन न करना। आहार-विहारकी सीमामें रहते हुए नित्य विद्या-ग्रहणमें यत्नवान् रहना। सुशील बनना, थोडा बोलना, सभ्यता सीखना। मेखला और दण्डका धारण, भिक्षाचरण, अग्निहोत्र, स्नान, सन्ध्योपासन, आचार्यका प्रियाचरण, सायं-प्रात आचार्यको नमस्कार,

विद्या-सचय, इन्द्रियोका सयम—ये तेरे नित्यके काम है।" यह उपदेश क्या है, आर्य-संस्कृतिका निचोड है। जिस प्रकार आज हमारे विद्यार्थियो के जीवनमें विलासिता बढ रही है, और उस विलासिताका जो दण्ड हमारा समाज भोग रहा है, उसे देखते हुए उन ऋषियोके चरणोमें बरबस सिर झुक जाता है जिन्होने विद्यार्थीके सामने विद्याध्ययन करनेके दिन ही ये उच्च आदर्श रखे थे। आजका बालक गली-मोहल्लेवाले दूसरे साथियो से आचारकी शिक्षा-दीक्षा लेता है, आर्य-संस्कृतिमें गुरुका काम सिर्फ विद्या पढा देना ही नहीं था, एक सदाचारी व्यक्ति तय्यार कर देना था। गुरु के आश्रममें तपस्याका जीवन व्यतीत करनेके बाद 'समावर्तन'-सस्कार होता था। इस समय स्नातकको पगडी-दुपट्टा पहनाया जाता था, उसकी हजामत होती थी, शीशा-कंघी, तेल दिया जाता था। तपश्चर्याके बाद सांसारिक जीवन व्यतीत करनेकी आज्ञा दी जाती थी, और गृहस्थाश्रम में प्रवेशके समय 'विवाह'-सस्कार होता था। विवाहके समय मधुपर्क, गोदान, शिलारोहण, सप्तपदी, ध्रुव-दर्शन—ऐसी-ऐसी क्रियाएं होती थीं जो गृहस्थीको आत्म-विकासके लक्ष्यके साथ बांधे रखती थीं। गृहस्थाश्रममें ही टिके रहनेकी आज्ञा नहीं थी। 'गृहस्थस्तु यदा पश्येत वलीपलितमात्मन। अपत्यस्यैव चापत्य तदारण्य समाचरेत्'—जब गृहस्थ देख लेता था कि उसकी चलाई हुई गाडी चल पडी है तब वह आगे चल देता था, उसका 'वानप्रस्थ'-सस्कार होता था। जीवनके इस विकासोन्मुखी कार्य-क्रम में यात्राका अन्तिम पडाव 'संन्यासाश्रम' था, यह जीवनका अन्तिम सस्कार था। 'वनेषु विहृत्यैव तृतीय भागमायुष, चतुर्थमायुषो भाग त्यक्त्वा सगान् परिव्रजेत्'—जीवनका तीसरा हिस्सा वानप्रस्थमें बिताकर, चौथे हिस्सेमें, सब छोडकर, सन्यासी होकर बितावे। उस समय सन्यासी कहता था—'पुत्रै-षणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता। मत्त सर्वभूतेभ्य, अभयमस्तु'—

मैंने सब एषणायें छोड दीं, न मुझे पुत्रकी कामना है, न वित्तकी, न मान-प्रतिष्ठा की। इन एषणाओंमें पडकर ही तो मनुष्य मनुष्यका शत्रु बनता है। अब मुझसे किसीको भय खानेकी जरूरत नही। मैं सबका, सब मेरे--यही भावना मेरे जीवनका आधार बन गई है। इस प्रकार दिन-रात विश्व के कल्याणमें आयुके बचे हुए एक-चौथाई हिस्सेको बिताकर जब जीवन समाप्त हो जाता था तब अन्तिम संस्कार--'अन्त्येष्टि'-क्रिया होती थी, और तब जाकर यह आत्मा संस्कारोंकी उस जकडनमेंसे छूटता था जिसमें आर्य-संस्कृतिने इसे इस जन्ममें बाध रखा था।

उन लोगोंका जीवनके प्रति कितना व्यापक, गहरा और गभीर दृष्टि-कोण था जिन्होंने मनुष्य-जीवनको सोलह संस्कारोंमें बाधा हुआ था। इन सोलह संस्कारोंमें तेरह संस्कार उस आयुमें होते थे जिस समय संस्कारो द्वारा मनुष्य ढल सकता है। आज हम दो संस्कार करते हैं--विवाह-संस्कार जीते समय, अन्त्येष्टि-संस्कार मरते समय। आर्य-संस्कृति मनुष्य-जीवनको एक महान् अवसर समझकर चली थी, और इस अवसरका लाभ उठाकर संस्कारोंकी प्रक्रियाद्वारा नव-मानवके निर्माणका स्वप्न लेती थी। आजके युगमें भी यह स्वप्न मानव-समाजको उतनी ही प्रेरणा और स्फूर्ति दे सकता है जितनी यह किसी समय प्राचीन भारतके भाग्य का निर्माण करनेवालोंको देता था, सिर्फ उस दृष्टिके खुल जानेकी आवश्यकता है जिस दृष्टिसे ऋषि-मुनियोंने जीवनकी समस्यामें दिनोदिन विकासके मार्गपर आगे-आगे बढते हुए 'आत्म-तत्त्व'को देखकर नव-मानवके निर्माणकी महान् योजनाको जन्म दिया था।

[१०]

वर्ण-व्यवस्थाका आध्यात्मिक आधार

आर्य-संस्कृतिके मूल-तत्त्वोंमें जो स्थान चार आश्रमोंको है, वही स्थान चार वर्णोंको है। वर्ण-व्यवस्था इस संस्कृतिका प्राण थी। परन्तु कौन-सी वर्ण-व्यवस्था? क्या वह वर्ण-व्यवस्था जो ब्राह्मणको क्षत्रियसे, क्षत्रियको वैश्यसे, वैश्यको शूद्रसे पृथक् करती है, जो मनुष्य-समाजमें छूत और अछूतका भेद उत्पन्न करती है, जिसके परिणाम-स्वरूप ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतरका संग्राम छिड़ा हुआ है, जो जाति-पातिके झगड़ेकी जड़ है, जो जन्मको कर्मसे प्रधानता देती है? इस समय देशकी जागृतिका रुख इन वर्णोंकी स्वार्थपूर्ण दुर्भेद्य चट्टानके टुकड़े-टुकड़े करनेकी तरफ बढ़ रहा है। आज इस जाति-पातिको तोड़नेके लिये जागृतिका प्रत्येक प्रेमी व्याकुल हो रहा है। लोग समझ रहे हैं कि जाति-पातिकी रचना ब्राह्मणोंके दिमागकी उपज है, उन्होंने स्वार्थ-वश अधिकारोंपर अनुचित तौरपर एकाधिपत्य जमानेके लिये इसे रचा था, इससे उन्हें अनेक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। वर्ण-व्यवस्थाके नामसे हमारे देशमें जो सामाजिक अत्याचार होते रहे, मनुष्य मनुष्यका शत्रु रहा, उसे देखते हुए तो यही समझमें आता है कि देशको उन्नतिके मार्गपर ले जाना हो, तो इसे एकदम भुला देना होगा,

मैंने सब एषणायें छोड दीं, न मुझे पुत्रकी कामना है, न वित्तकी, न मान-प्रतिष्ठा की। इन एषणाओंमें पडकर ही तो मनुष्य मनुष्यका शत्रु बनता है। अब मुझसे किसीको भय खानेकी जरूरत नहीं। मैं सबका, सब मेरे--यही भावना मेरे जीवनका आधार बन गई है। इस प्रकार दिन-रात विश्व के कल्याणमें आयुके बचे हुए एक-चौथाई हिस्सेको बिताकर जब जीवन समाप्त हो जाता था तब अन्तिम संस्कार--'अन्त्येष्टि'-क्रिया होती थी, और तब जाकर यह आत्मा संस्कारोंकी उस जकडनमेंसे छूटता था जिसमें आर्य-संस्कृतिने इसे इस जन्ममें बाध रखा था।

उन लोगोंका जीवनके प्रति कितना व्यापक, गहरा और गंभीर दृष्टि-कोण था जिन्होंने मनुष्य-जीवनको सोलह संस्कारोंमें बाधा हुआ था। इन सोलह संस्कारोंमें तेरह संस्कार उस आयुमें होते थे जिस समय संस्कारो द्वारा मनुष्य ढल सकता है। आज हम दो संस्कार करते हैं--विवाह-संस्कार जीते समय, अन्त्येष्टि-संस्कार मरते समय। आर्य-संस्कृति मनुष्य-जीवनको एक महान् अवसर समझकर चली थी, और इस अवसरका लाभ उठाकर संस्कारोंकी प्रक्रियाद्वारा नव-मानवके निर्माणका स्वप्न लेती थी। आजके युगमें भी यह स्वप्न मानव-समाजको उतनी ही प्रेरणा और स्फूर्ति दे सकता है जितनी यह किसी समय प्राचीन भारतके भाग्य का निर्माण करनेवालोंको देता था, सिर्फ उस दृष्टिके खुल जानेकी आवश्यकता है जिस दृष्टिसे ऋषि-मुनियोंने जीवनकी समस्यामें दिनोदिन विकासके मार्गपर आगे-आगे बढते हुए 'आत्म-तत्त्व'को देखकर नव-मानवके निर्माणकी महान् योजनाको जन्म दिया था।

[१०]

वर्ण-व्यवस्थाका आध्यात्मिक आधार

आर्य-संस्कृतिके मूल-तत्त्वोंमें जो स्थान चार आश्रमोंको है, वही स्थान चार वर्णोंको है। वर्ण-व्यवस्था इस संस्कृतिका प्राण थी। परन्तु कौन-सी वर्ण-व्यवस्था? क्या वह वर्ण-व्यवस्था जो ब्राह्मणको क्षत्रियसे, क्षत्रियको वैश्यसे, वैश्यको शूद्रसे पृथक् करती है, जो मनुष्य-समाजमें छूत और अछूतका भेद उत्पन्न करती है, जिसके परिणाम-स्वरूप ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतरका संग्राम छिडा हुआ है, जो जाति-पांतिके झगड़ेकी जड है, जो जन्मको कर्मसे प्रधानता देती है? इस समय देशकी जागृतिका रुख मुख्यत. वर्णोंकी स्वार्थपूर्ण दुर्भेद्य चट्टानके टुकडे-टुकडे करनेकी तरफ बढ रहा है। आज इस जाति-पातिको तोडनेके लिये जागृतिका प्रत्येक प्रेमी व्याकुल हो रहा है। लोग समझ रहे हैं कि जाति-पातिकी रचना ब्राह्मणोंके दिमागकी उपज है, उन्होंने स्वार्थ-वश अधिकारोंपर अनुचित तौरपर एकाधिपत्य जमानेके लिये इसे रचा था, इससे उन्हें अखंड अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। वर्ण-व्यवस्थाके नामसे हमारे देशमें जो सामाजिक अत्याचार होते रहे, मनुष्य मनुष्यका शत्रु रहा, उसे देखते हुए तो यही समझमें आता है कि देशको उन्नतिके मार्गपर ले जाना हो, तो इसे एकदम भुला देना होगा,

जातिके वालकोंके मस्तिष्कसे मिटा देना होगा, लुप्त कर देना होगा, इतिहासकी वस्तु वना देना होगा, तभी हम आगे वढ सकेंगे। परन्तु क्या सही अर्थोंमें यही वर्ण-व्यवस्था है?

आर्य-संस्कृतिने जिस वर्ण-व्यवस्थाको जन्म दिया था वह, वह वर्ण-व्यवस्था नही थी जो आज हमारे समाजमें चली हुई है—आज जिस चीजको वर्ण-व्यवस्था कहा जा रहा है उसे जितनी जल्दी मिटा दिया जायगा उतनी जल्दी समाज उन्नतिके मार्गपर चलेगा। दूसरोको उनके जन्मसिद्ध अधिकारो से वंचित करनेकी इस अव्यवस्थाको वर्ण-व्यवस्था कहना भूल है। आज तो वर्गहीन-समाज (Classless society) का निर्माण ही हमारा लक्ष्य है, परन्तु 'वर्ण' 'वर्ग' नहीं है। वर्ण-व्यवस्थाका प्रारभ वड़े गहन सिद्धान्तोपर हुआ था। आज सदिया बीत जानेपर वर्ण-व्यवस्थाका नाम रह गया है, अस्ली चीज कभीकी समाप्त हो चुकी है। वर्ण-व्यवस्था किन्हीं स्वार्थी ब्राह्मणो के दिमागकी उपज नहीं थी, यह मानव-समाजके उन महान् आध्यात्मिक सिद्धान्तोका वर्गीकरण तथा नियमन था जिनके विना कोई समाज एक क़दम भी आगे नहीं वढ़ सकता। वे सिद्धान्त क्या थे?

यह सब-कोई जानता है कि मनुष्य इकला नही रह सकता, वह दूसरो के साथ रहना चाहता है, वह सामाजिक प्राणी है। हमारी वैयक्तिक आवश्यकताएं अकेले रहते हुए पूर्ण नहीं हो सकतीं, इसीलिये पारस्परिक सहायताके लिये मनुष्य समूह-रूपसे मिलकर समुदाय—संस्थान—उत्पन्न कर लेता है। उन संस्थानोके नागरिक अनेक होनेके कारण अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार कामको बाट लेते है। इस प्रकार 'श्रम-विभाग' तथा 'परस्पर-सहयोग' (Division of Labour and Mutual Co-operation) से काम चल निकलता है। ज्यो-ज्यो एक आदमी एक ही काम के लिये अपना समय देता है, त्यो-त्यो वह उसे दूसरोकी अपेक्षा

अधिक कुशलता तथा आसानीसे कर लेता है। उसकी सन्तान उस काम को जन्मते ही सीखने लगती है, अत. उसकी सन्तानके लिये वह काम और भी आसान हो जाता है।

वर्ण-व्यवस्था और श्रम-विभाग एक वस्तु नही है—

मनुष्यकी प्राथमिक आवश्यकताए खाना-पीना, कपड़ा और मकान होती है, इसलिये प्रारभमें श्रम-विभागका अभिप्राय भौतिक-आवश्यकताओ को पूर्ण करनेके लिये जरूरी श्रमके विभागसे ही होता है। भौतिक-आवश्यक सामग्रीको 'पूजी' कहा जा सकता है, उसके बटवारेके साधनको 'श्रम' कहा जा सकता है, अत समाजकी प्रारभिक अवस्थामें एक प्रकारसे श्रम-विभाग द्वारा ही पूजीका विभाग होता है। यदि समाजको ऐसे ही विकसित होने दिया जाय, 'श्रम-विभाग' का सिद्धान्त ही समाजका विकास करता चला जाय, समाज भी भौतिक-आवश्यकताओतक अपनेको सीमित रखे, भौतिक आवश्यकताओसे ऊपर उठकर समाजके विकासकी कोई दूसरी दिशा भी हो सकती है—खाने-पीने, कपडेके सिवा समाजके विकासमें कोई और तत्त्व भी हो सकते है—इसे न माना जाय, तो समाजका संगठन 'श्रम-विभाग' और 'पूंजी-विभाग'को ही सामने रखकर होगा, अर्थशास्त्र ही हमारे अध्ययनका मुख्य विषय होगा, पूंजीवाद, समाजवाद, कम्यूनिज्म, लेबर, स्ट्राइक, मालिक, मजदूर—ये समस्याए ही हमारी सबसे बडी समस्याए होगी।

भौतिक-आवश्यकताओं को पूर्ण करना मनुष्य-जीवनके लिये आवश्यक है, परन्तु मनुष्य-जीवन इन्हींमें समाप्त नहीं हो जाता। भौतिक-विकास एकागी विकास है, और सिर्फ इसीपर शक्ति केन्द्रित करनेका परिणाम समाजके लिये भयकर होता है। भौतिक विकाससे पूजीका अपने-आप

असमान-विभाग हो जाता है। श्रम-विभागको अनियमित चलने देनेका आवश्यक परिणाम पूंजीका असमान-विभाग है। जिस समाजमें पूंजीका असमान-विभाग होगा, उसमें पूंजीका समान-विभाग करनेके लिये समय-समयपर उत्पात मचते रहेंगे तथा पूंजीपतियों और श्रमियोंके झगड़े भी उठते रहेंगे। जिन देशोंमें समाजका संगठन केवल भौतिक आवश्यकताओंको आधार बनाकर किया गया है, वे समाज-विद्रोह की अच्छी उपजाऊ भूमि हैं, क्योंकि श्रमसे पूंजीका जो असमान-विभाग हो जाता है उसका निपटारा करनेके लिये ग़रीबोंका खून खौल उठता है। जो समाज श्रमद्वारा पूंजी अथवा भौतिक-आवश्यकताओंके सम या विषम विभागके सिद्धान्तपर आश्रित होगा उसमें श्रम या पूंजीके विभागकी स्वाभाविक बीमारियोंका इलाज करनेके लिये प्रकृति अपने उपायोंका अवलम्बन अवश्य करेगी, चाहे उसे खूनकी नदियां ही क्यों न बहानी पड़ें !

आर्य-संस्कृतिके समाज-शास्त्रियोंने अपने समाजका विकास अन्धी प्रकृति पर नहीं छोड़ा था। उनके समाजकी रचना केवल भौतिक आवश्यकताओं को दृष्टिमें रखकर श्रम-विभागके सिद्धान्तके अनुसार नहीं हुई थी। समाज-विषयक उनकी दृष्टि एकांगी या अधूरी नहीं थी। उन्होंने समाज का विकास अन्धी प्रकृतिके हाथमें छोड़नेके स्थानपर अपने हाथोंमें ले लिया था। इसमें सन्देह नहीं कि भौतिक आवश्यकताओंको पूर्ण करना, श्रमद्वारा पूंजीका विभाग करना भी उनके समाज-निर्माणका एक आवश्यक अंग था, परन्तु उनके लिये जीवनका अभिप्राय भौतिक आवश्यकताओंको पूर्ण करने-मात्रसे बहुत-कुछ अधिक था। वे समझते थे कि समाजको केवल पूंजीपति या श्रमी—इन दो भागोंमें विभक्त कर देना समाजके आप-से-आप हो रहे, अन्ध-विकास (Unconscious deve-

lopment of society) का परिणाम है, इसका अन्त श्रेणी-युद्ध तथा समाज-विप्लव (Class-war and revolution) में होता है। वे यह भी समझते थे कि समाजके विकासको अपने हाथमें लेकर इस प्रकार चलाया जा सकता है, जिससे समाजको श्रेणी-युद्ध या विप्लवसे बचाया जा सके। समाजके इसी विकासको आर्य सस्कृतिमें वर्ण-व्यवस्थाका नाम दिया गया था।

श्रम-विभागका आधार आर्थिक, वर्ण-व्यवस्थाका आधार मनोवैज्ञानिक है—

जो लोग वर्ण-व्यवस्थाकी श्रम-विभागके सिद्धान्तसे तुलना करते हैं वे आर्य-संस्कृतिके मूल-तत्त्वोको नहीं समझते। आर्य-सस्कृतिमें 'श्रम' का विचार आश्रम-व्यवस्थामें रखा था, वर्ण-व्यवस्थामें नहीं। 'श्रम'का अर्थ है, परिश्रम, मेहनत। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास—ये चार श्रम थे, चार प्रकारकी मेहनत थे जो आत्माको जीवन-पथपर आगे-आगे ले जाते थे। इनमें कर्मको नहीं छोडा जाता था, कर्मके लिये तो श्रम किया जाता था, तभी इन्हे, 'आ-श्रम' अर्थात् चारो तरफसे श्रम-ही-श्रम कहा जाता था। वर्ण-शब्द तो वृञ् वरणे—वरण करना, चुनना—इस धातुसे बना है। प्रत्येक मनुष्यमें स्वाभाविक तौरपर जो चार प्रकारकी प्रवृत्तियां हैं उनमें से अपने स्वभावको देखकर वह किसी एकको चुन लेता है। वर्ण-विभाग चार पेशे या चार व्यवसाय नहीं है, ये चार प्रकारकी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तिया है। वर्ण-व्यवस्थाके अनुसार, मनुष्यकी भौतिक आवश्य-कताओंके पहलूको, आर्थिक पहलूको ही नहीं, सम्पूर्ण मनुष्यको देखा गया है। वर्ण-व्यवस्थाका सिद्धान्त, समाजके ध्येयको सम्मुख रखते हुए, उसके अभीष्ट विकासका सिद्धान्त है। खाना-पीना-कपड़ा ही सब-कुछ नहीं, मनुष्य

इससे बहुत-कुछ ऊंचा है, शरीर ही सब-कुछ नहीं, वह शरीरका अधिष्ठाता, उसका स्वामी है। श्रम तथा पूंजी शरीरकी रक्षाके लिये हैं, परन्तु फिर, शरीर तो अपने लिये नहीं, शरीर आत्माके लिये है। व्यक्तिरूपसे प्रत्येक मनुष्यको आत्माकी तरफ जाना है। वर्ण-व्यवस्था मनुष्यको सामूहिक रूपसे शरीरसे आत्माकी तरफ ले जानेका सिद्धान्त है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—चार वृत्तियां नहीं, मानवकी चार प्रवृत्तियां हैं, आत्माके जीवन-यात्रामें जाने की चार दिशाएं हैं। इनमें एक प्रवृत्ति, एक दिशा, खाना-पीना-कपडा भी है, परन्तु यही तो सब-कुछ नहीं। हमारा सब-कुछ तो आत्माका विकास है। खाना-पीना-कपडा वैश्य-प्रवृत्ति है, आत्माका विकास इससे बहुत-कुछ बढ़कर है। आर्य-संस्कृतिके दृष्टि-कोणमें प्रत्येक मानवको जीवन-यात्रामें आत्म-तत्त्वका विकास करना है। जो काम प्रत्येकको करना है वही तो अन्तमें जाकर मानव-समाजको करना है, क्योंकि मानवके सामूहिक-विकासका नाम ही सामाजिक-विकास है। व्यक्ति-रूपमें मानवके विकासका लक्ष्य आत्म-तत्त्वका विकास है, तो सामूहिकरूपमें मानव-समाजके विकासका लक्ष्य इसके सिवा और क्या हो सकता है? इस विकासकी तरफ जाना ही समाजमें ब्राह्मण-प्रवृत्तिको जगाना है।

चार मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियां—

इस बातको जरा और अधिक स्पष्ट समझनेकी जरूरत है। मनुष्य में चार प्रवृत्तियां हैं, इन्हीं चारके आधारपर मनुष्य-समाजमें आर्य-संस्कृति ने चार प्रवृत्तियां मानी हैं। प्रवृत्तियां चार क्यों हैं, और कैसे? प्रवृत्तियों का चारमें विभाग संसारके मौलिक-तत्त्वोंपर किया गया है। सांख्य-शास्त्रके अनुसार सत्तामात्रके आधारमें सत्त्व, रज, तम—ये तीन मौलिक-तत्त्व हैं।

इसीको 'सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृति'—सत्त्व, रज, तमकी समावस्था का नाम प्रकृति, इनकी विषमावस्थाका नाम विकृति, अर्थात् 'यह ससार'—ऐसा कहा है। सृष्टिकी रचनाके यही सूक्ष्म तत्त्व मनकी रचना करते है जिनसे मन सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक कहाता है। मनोविज्ञानके ये तीन तत्त्व समाज-शास्त्रमें जाकर चार बन जाते हैं। आर्य-सस्कृतिके समाज-शास्त्रियोने साख्यके मनोविज्ञानके तीन तत्त्वोके सिद्धान्तको लेकर समाज का विभाग सात्त्विक, सात्त्विक-राजसिक, राजसिक-तामसिक तथा तामसिक—इस प्रकार चार प्रवृत्तियोको आधार बनाते हुए—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन चार वर्णोके रूपमें कर दिया है। ये चारो पेशे नहीं, व्यवसाय नहीं, अपितु मनुष्यकी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियोके चार मुख्य विभाग है। ससारभरके पेशे, व्यवसाय, इन विभागोमेंसे वैश्य-विभागके अन्तर्गत समा जाते है। भारतीय अध्यात्म-तत्त्व (Metaphysics) से ही भारतीय मनोविज्ञान (Psychology) ने अपने सिद्धान्तोको स्थिर किया, इसी मनोविज्ञानको आधार बनाकर आर्य-सस्कृतिके समाज-शास्त्र (Sociology) ने मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तियो को सामने रखकर समाजके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये चार विभाग किये। मानव-समाजकी प्रवृत्तियोका, उसकी स्वाभाविक दिशाओका यह वर्गीकरण है। सात्त्विक-प्रवृत्तिवाला व्यक्ति, जिसकी जीवनके प्रति आध्यात्मिक-दृष्टि है, ब्राह्मण है। सतोगुण तथा रजोगुणका सम्मिश्रण क्षात्र-प्रवृत्ति है, इसमें सतोगुणके साथ रजोगुणकी प्रधानता है। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय-प्रवृत्तिके लोग समाज-सेवाका जो कार्य करते है वह इसलिये नहीं करते क्योकि यह उनका पेशा है, आजीविकाका साधन है। वे इन कार्योको इसलिये करते है क्योकि उनके जीवनका आधार-भूत तत्त्व आत्म-तत्त्व है और वही उन्हें अपने 'मस्तिष्क' तथा 'पौरुष' से समाज-

सेवाके कार्यमें प्रेरित करता है। उनका 'आत्म-तत्त्व' स्वार्थसे परार्थके मार्गपर जा रहा है, विषमतासे समताके मार्गपर जा रहा है, अनेकतासे एकताके मार्ग पर जा रहा है, प्रकृतिमें भटकनेके स्थानपर अपने स्वरूपमें जा रहा है, अपने विकासके मार्गपर आगे बढ रहा है। उनकी सेवा निष्काम होती है, समाज उनकी भौतिक आवश्यकताओंको पूर्ण करता है । ब्राह्मण-प्रवृत्ति वालेके लिये तो यहांतक कहा गया है कि वह समाज-सेवा करता हुआ भूखा मरने लगे, तो 'शिल' तथा 'उञ्छ'से निर्वाह कर ले, परन्तु मांगे नहीं-- 'शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः।' बहुत दिनोंके लिये भोजन-सामग्री इकट्ठी करके भी न रखे। स्वाधीन रहता हुआ निष्काम-वृत्तिसे समाजकी सेवा करे। गरीबीमेंही अमीरी समझे। क्षत्रिय-प्रवृत्तिवालेके लिये भी धनकी लालसा उसका क्षेत्र नहीं है। उसकी राजसिक-प्रवृत्तियां सतोगुणकी तरफ ही जा रही हैं। रजोगुणके कारण उसमें क्रियाशीलता की प्रधानता है, परन्तु उसकी सम्पूर्ण क्रियाशीलताका रुख सतोगुणी है। रजोगुण तथा तमोगुण मिलकर वैश्य-प्रवृत्तिको बनाते हैं, इसमें रजोगुण की अपेक्षा तमोगुण प्रधान है। जैसे ब्राह्मण तथा क्षत्रिय-प्रवृत्तिमें निष्का-मता है, वैसे वैश्य-प्रवृत्तिमें सकामता है । तामसिक प्रवृत्तिको शूद्र-प्रवृत्ति कहा गया है ।

आर्य-संस्कृतिके जिस विचारको हमने अभी सांख्यके शब्दोंमें कहा उसे वर्तमान मनोविज्ञानकी परिभाषामें भी कहा जा सकता है । जीव दो प्रकारके होते हैं--उद्बुद्ध तथा अनुद्बुद्ध । उद्बुद्ध-जीव तीन प्रकारके होते हैं---ज्ञान-प्रधान, क्रिया-प्रधान, इच्छा-प्रधान । जो मस्तिष्कसे समाजकी सेवा करते हैं वे निष्काम-प्रवृत्तिवाले सात्त्विक जीव ज्ञान-प्रधान होनेके कारण ब्राह्मण कहाते है , जो हाथसे समाजकी सेवा करते हैं वे निष्काम राजस-जीव क्रिया-प्रधान होनेके कारण क्षत्रिय कहाते हैं ; जो उदरसे,

खाने-पीनेके दृष्टि-कोणको मुख्यता देकर समाजकी सेवा करते हैं वे सकाम तम-प्रधान राजस-जीव इच्छाके प्रबल होनेके कारण वैश्य कहाते हैं। यह तो उद्बुद्ध-जीवोंकी बात हुई, परन्तु जो अनुद्बुद्ध अवस्थाके जीव होते हैं वे सकामता, जड़ता तथा तमोगुणके प्रधान होनेके कारण शूद्र कहाते हैं। मनुष्यमें ज्ञान (Knowing), क्रिया (Willing) तथा इच्छा (Feeling) की प्रधानताके कारण उसका ज्ञान-प्रधान, क्रिया-प्रधान तथा इच्छा-प्रधान—यह सत्त्वरजस्तमसात्मक-विभाग करके वर्ण-व्यवस्थाकी आधार-शिला रखी गई है। इसकी रचनामें अध्यात्म-शास्त्र तथा मनोविज्ञान-शास्त्रके सिद्धान्त काम कर रहे हैं। समाजका यह विभाग, यह वर्गीकरण, जानते हुए, समझते हुए, समाजको मानो अपने हाथमें लेकर किया गया है, समाजको यूं ही विकसित होनेके लिये अपने भाग्यपर नहीं छोडा गया। मनुष्यकी व्यक्तिरूपसे जो स्वाभाविक, आधार-भूत चार प्रवृत्तियां हैं, उन्हें सामाजिक-रूपमें समझने, और समाजके विकासमें नियुक्त करनेके प्रयासका नाम वर्ण-व्यवस्था है।

श्रम-विभाग वैश्य-प्रवृत्तिका अंग है—

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रको चार पेशे समझना भूल है। क्या प्राचीन आर्योंमें चार ही पेशे थे, उनके चार ही व्यवसाय थे? पेशे तो अनन्त हो सकते हैं। जैसा अभी कहा गया, ये चार विभाग पेशोंके, वृत्तियोंके नहीं, प्रवृत्तियोंके हैं। इन चार प्रवृत्तियोंमेंसे एक प्रवृत्ति वह है जिसे वैश्य-प्रवृत्ति कहा जाता है। मनुष्यकी वैश्य-प्रवृत्ति ही श्रम-विभाग (Division of labour) के रूपमें प्रकट होती है। इस प्रवृत्तिका व्यक्ति सब-कुछ व्यापारिक दृष्टिसे देखता है, और जीवनके आर्थिक प्रश्नोंको हल करनेमें ही लगा रहता है। वैश्यके जीवनको ही पेशे या व्यवसायका

जीवन कहा जा सकता है, ब्राह्मण तथा क्षत्रियको नहीं, इसलिये वैश्य-प्रवृत्ति तथा श्रम-विभागका सिद्धान्त एक ही वस्तु है। परन्तु, क्योकि वैश्यप्रवृत्ति वर्ण-व्यवस्थाका चौथाई हिस्सा है, वैश्य-प्रवृत्तिके अलावा आर्य-सस्कृतिमें सामाजिक-विकासकी तीन और प्रवृत्तिया मानी गई है, इसलिये श्रम-विभागका सिद्धान्त वर्ण-व्यवस्थाके केवल चौथाई हिस्से को छूता है। वर्ण-व्यवस्था ही श्रम-विभाग नही है। वर्ण अर्थात् प्रवृत्तिया चार है, श्रम अर्थात् वृत्तिया अनन्त है। आर्य-सस्कृतिमें अनन्त श्रमोका नाम वैश्य-प्रवृत्ति है। ब्राह्मण-प्रवृत्ति और क्षत्रिय-प्रवृत्तिकी तरफ अभी तो मनुष्य-समाजने कदम भी नहीं रखा। आर्य-सस्कृतिमें केवल चार पेशे नहीं थे, आजकलकी तरह हजारो पेशे थे, परन्तु उन सबको एक वैश्य-प्रवृत्तिके नामसे पुकारा जाता था। 'वर्ण'का अर्थ पेशा या व्यवसाय नहीं है,—इसका अर्थ है वृञ्-वरणे—वरण करना, चुनना। चुननेका अभिप्राय पेशेके चुननेसे नहीं, पेशा तो जीवनकी भौतिक-आवश्यकताओको सामने रखकर चुना जाता है, चुननेका अभिप्राय प्रवृत्ति अथवा स्वभावके अनुकूल अपने जीवन-पथको चुननेसे है, वह पथ जो आत्म-तत्त्वके विकासके लिये अधिक उपयुक्त है। वर्णका अर्थ 'वृत्ति' नहीं, 'प्रवृत्ति' था। ये प्रवृत्तिया चार समझी जाती थीं, जिनमेंसे आर्थिक-प्रवृत्ति एक थी। वेद पढने अथवा सेनामें भर्ती होनेका उद्देश्य भी यदि रुपया कमाना होगा, तो वह वैश्य-प्रवृत्तिमें ही गिना जायगा ब्राह्मण तथा क्षत्रिय-प्रवृत्तिमें नहीं। जो लोग पैसा कमानेके लिये पढाते-लिखाते है, पैसेके लिये सेनामें भर्ती होकर दूसरे मुल्कोमें जाकर बेगुनाहो को गोलीका शिकार करते है, भले ही वे अपनी जान खतरेमें डालते हो, वे न ब्राह्मण है, न क्षत्रिय। आर्य-सस्कृतिकी परिभाषामें पैसा कमानेके लिये कुछ भी करनेवाला वैश्य है। प्रवृत्ति ही मुख्य वस्तु है, क्योकि यही आन्तरिक है, वास्तविक है, यही आत्मासे फूटती है, वृत्ति तो चारमेंसे एक प्रवृत्ति

का बाह्य रूप है। समाजका विकास जड सिद्धांतोपर चलता हुआ श्रम-विभागके आर्थिक-नियम (Economic principle) को पैदा कर देता है। श्रम-विभागसे पूंजीका असमान-विभाग हो जाता है। पूंजीके असमान-विभागसे बना-बनाया समाज टूट जाता है, श्रेणी-युद्ध, क्रांति तथा विप्लवकी आंधीसे टुकडे-टुकडे हो जाता है। वही सामाजिक-विकास मनोवैज्ञानिक सिद्धांतोंपर चलता हुआ वर्ण-व्यवस्थाके गहरे तथा विस्तृत नियमोंपर समाजकी रचना करता है, इसका परिणाम शांति, सहयोग तथा पारस्परिक प्रेम होता है। क्यो होता है? क्योंकि वर्ण-व्यवस्थाके अनुसार जीवनका आर्थिक पहलू एक बहुत छोटा पहलू है। सारे लडाई-झगडे, सब संग्राम, सब क्रांतियां, सब विप्लव आर्थिक-विषमताको दूर करनेके लिये ही होता है। आर्य-संस्कृतिने वर्ण-व्यवस्थाकी रचना करते हुए मनुष्यके सामने एक ऊंचा लक्ष्य रख दिया था, वैश्य-प्रवृत्तिको आर्थिक-समस्यामें उलझता छोडकर यह घोषित किया था कि तमोगुणसे रजोगुण ऊंचा है, रजोगुण से सतोगुण ऊंचा है, सात्त्विक-भावको जागृत करना आत्म-तत्त्वको जानना है, पहचानना है, और यही मनुष्यकी जीवन-यात्राका अन्तिम लक्ष्य है। श्रम-विभाग आर्थिक समस्याको मनुष्यकी मुख्य समस्या मानता है, वैश्य-प्रवृत्तिको ही सब-कुछ मानता है, वर्ण-व्यवस्था ऐसा नहीं मानती, यह श्रम-विभाग तथा वर्ण-व्यवस्थाके सिद्धांतोंमें मूलगत भेद है। यदि समाजके विकासको अपने हाथमें न लेकर स्वयं होने दिया जाय, तो थोडे ही कालके अनन्तर 'श्रम-विभाग'का सिद्धांत अपने-आप कार्य करता दिखाई देगा, 'वर्ण-व्यस्था' तो उस सिद्धांतको अपने हाथमें लेकर, उसके उद्देश्योंको निर्धारित कर, उनकी तरफ समाजको ले जानेका नाम है। अपने-आप इसलिये क्योंकि अर्थ-पूंजी-खाना-पीना-कपडा—इनपर रुक जाना, इनमें आगे न बढ़ना, यह मनुष्यका कुछ स्वभाव-सा है। आगे तो

तब बढे जब भौतिक-आवश्यकताओंकी पूर्तिको साधन समझे, साध्य नहीं। वर्ण-व्यवस्थामें तो 'आत्म-तत्त्व'का विकास प्रधान है, भौतिक भोग-सामग्री उस विकासका एक साधक-अंग है, यही सब-कुछ नहीं। वर्ण-व्यवस्थामें श्रम-विभाग आ जाता है, श्रम-विभागमें वर्ण-व्यवस्था नहीं आती। वर्ण-व्यवस्था बडी वस्तु है, श्रम-विभाग छोटी। श्रम-विभागका आधार मनुष्य-की शारीरिक, अर्थात् आर्थिक आवश्यकताएं हैं; वर्ण-व्यवस्थाका आधार शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक आवश्यकताएं हैं। श्रम-विभागकी दृष्टि पेशों तथा व्यवसायोंपर पडती है; वर्ण-व्यवस्थाकी दृष्टि उन सिद्धांतों पर जिनसे पेशे तथा मानवके विकासकी दिशा निश्चित की जाती है। श्रम-विभागकी दृष्टि भौतिक तथा वर्ण-व्यवस्थाकी दृष्टि आध्यात्मिक है।

हमने अबतक यह कहा कि वर्ण-विभाग पेशोंका नाम न होकर प्रवृत्तियोंका विभाग है। अच्छी आमदनी न होने या अन्य किसी कारणसे मनुष्य पेशा बदल सकता है, परन्तु प्रवृत्ति नहीं बदलती। पेशा तो बदलने-वाली वस्तु है, वर्ण, अर्थात् प्रवृत्ति सत्य-वस्तु है। तभी कहा है—'आचार्य-स्त्वस्य यां जातिं यथावद् विधिपारग उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा'—आचार्य अपने शिष्यके मानसिक-विकासको वर्षोंतक देखकर, उसकी प्रवृत्तिको देखकर जो जाति, जो वर्ण निश्चित कर देता है, वह सत्य है, अजर है, अमर है, क्योंकि वर्ण-विभाग तो प्रवृत्तिका विभाग है, वर्गीकरण है, बचपनसे लगातार वर्षोंतक समीपसे देखकर यह बता देता है कि अमुक व्यक्तिके जीवनकी दिशा इस तरफ जा सकती है, दूसरी तरफ नहीं। जैसे आजकलके मनोवैज्ञानिक 'बुद्धि-परीक्षा' (Intelli-gence test) करते हैं, वे कहते हैं, 'विद्या' बढ़ सकती है, 'बुद्धि' नहीं, बुद्धि अर्थात् विषयके ग्रहण करनेकी योग्यता मनुष्यमें वही रहती है, वैसे प्राचीन-कालके आचार्य प्रत्येक बालककी बुद्धि-परीक्षा करनेके बाद

उसकी प्रवृत्तिका निर्धारण कर देते थे, उस प्रवृत्तिको वे वर्ण कहते थे, और अगर वे कहते थे कि वह वर्ण बदलता नहीं, तो वे वही बात कहते थे जो आजकलके बडे-बडे शिक्षा-शास्त्री, बडे-बडे शिक्षा-मनोविज्ञानके पडित कहते है। आजकल वर्ण-व्यवस्थाके इस अर्थको कोई नहीं लेता, गलतीसे 'वर्ण'का अर्थ पेशा लिया जाता है।

श्रम-विभागके लिये 'वर्ण-व्यवस्था' शब्दका प्रयोग—

हा, तो क्या वर्ण-व्यवस्थाका पेशोके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं ? क्या यह प्रवृत्तियो के विभागके सिवा कुछ नहीं ? ऐसी बात भी नहीं है। पेशोका विभाग ही श्रम-विभागका दूसरा नाम है। वर्ण-व्यवस्थामें वैश्य-वर्ण श्रम-विभागका प्रतिनिधि था। जैसे श्रम-विभागमें मनुष्य अर्थके उपार्जनके लिये कई श्रम, कई व्यवसाय करता है, वैसे अर्थ-उपार्जनके लिये जो-जो भी व्यवसाय किये जाते थे वे वैश्य-वर्णमें गिने जाते थे। वर्ण-व्यवस्था शब्दका दोनो अर्थोंमें प्रयोग होता था। मुख्यतः प्रवृत्तियोके विभागको वर्ण-व्यवस्था कहा जाता था, परन्तु वैश्य-वर्णमें जो व्यवसायोका विभाग था उसे भी वर्ण कह दिया जाता था। जब वर्ण शब्दका प्रवृत्तियोके विभागके अर्थ में प्रयोग होता था तब वर्ण सत्य था, अजर था, अमर था। जब वर्ण शब्दका पेशे और व्यवसाय-अर्थमें प्रयोग होता था, जैसा यह सदियोसे होता रहा, तब वर्ण बदल सकता था, जब चाहे जो जिस वर्णमें जा सकता था। उसी अर्थमें कहा जाता था—'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रि-याज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च'—शूद्र ब्राह्मण हो सकता है, ब्राह्मण शूद्र हो सकता है। क्योकि आर्य-साहित्यमें व्यवसाय और स्वभाव, वृत्ति और प्रवृत्ति—दोनोके लिये 'वर्ण' शब्दका प्रयोग हुआ है, इसलिये वर्ण बदल सकता है, नहीं बदल सकता—ये दोनो भाव उसमें पाये जाते है, परन्तु जब कहा जाता है वर्ण नहीं बदल सकता तब प्रवृत्तिसे अभिप्राय होता है, पेशेसे नहीं,

जब कहा जाता है, वर्ण बदल सकता है तब वृत्तिसे, पशेसे अभिप्राय होता है, प्रवृत्तिसे नहीं। असलमें वर्ण बदलता भी है, नहीं भी बदलता, क्योंकि एक पेशेको छोड़कर दूसरे पेशेको लेनेसे कोई किसीको रोक नहीं सकता, उम्र भरके लिये किसीके लिये एक ही पेशा लिखा नहीं जा सकता, परन्तु इसके साथ-साथ भिन्न-भिन्न वृत्तियोके मनकोंके अलग-अलग होते हुए प्रवृत्ति-रूपी एक सूत्र उन्हें बाधे रखता है, इसमें भी सन्देह नहीं।

आज सब वैश्य बन रहे हैं—

आज दूसरी प्रवृत्तियो का तो कोई नाम ही नहीं लेता, एक ही प्रवृत्तिने मानवको घेर रखा है, सब वैश्य बने जा रहे हैं, पैसा-पूंजी कमानेके पीछे पड़े हुए है, ब्राह्मण-क्षत्रिय जो प्रवृत्तियां थीं वे भी वृत्तिया, पेशा, पैसा कमाने का साधन बन गई हैं, ब्राह्मणत्व-क्षत्रियत्व बिल्कुल उठ गया है, निष्कामता कहीं रही नहीं, समाजके ऊचे अध्यात्मवादी आदर्शोंकी कोई चर्चा नहीं करता—इसका क्या कारण है ? इसका कारण यह है कि हमने समाजका विकास अन्धी, जड़-शक्तियोके हाथमें दे रखा है, उसे चेतन शक्तिके हाथ में नही दिया। जड-विकासका परिणाम है कि आज हम भौतिक पदार्थोंको, ससारके भोग-ऐश्वर्यको सब-कुछ समझे बैठे है, इनके लिये जीते, इनके लिये मरते है। पैसेसे भौतिक-पदार्थ जुटते है इसलिये पैसा सब-कुछ बन गया है। परन्तु अगर हमें जडकी तरफ नहीं चेतनकी तरफ जाना है, तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जो-कुछ हो रहा है, वह ठीक है या ग़लत ? क्या इसे ऐसे ही चलने दिया जाय ? आर्य-सस्कृति इस बातको नहीं मानती कि खाना-पीना ही सब-कुछ है, रोटीकी समस्या ही मनुष्यकी आदि और अन्तकी समस्या है। परन्तु न माननेमात्रसे तो काम नहीं चलता। पैसेसे मनुष्यका मोह कैसे छूटे, इससे उसका मुह कैसे मुडे ? जबतक पैसेसे मनुष्यका

मोह न तोड़ा जायगा तबतक यह कम्बख्त आगे नहीं चलेगा। आर्य-संस्कृतिने इसका उपाय वर्ण-व्यवस्थाद्वारा किया था।

पैसेकी क्रय-शक्ति बढ गई है—

वह कैसे? लोग पैसेके पीछे क्यों भागते हैं? पैसेके पीछे वे इसलिये भागते हैं क्योंकि पैसेकी खरीदनेकी शक्ति बहुत बढ़ गई है। कोई समय था जब संसारमें पैसेको कोई जानता तक न था। किसान खेती करता था, जुलाहा कपड़ा बुनता था, तीसरा आदमी तीसरा काम करता था। जिसके पास जो-कुछ था दूसरोंको दे देता था, जो उसके पास नहीं था, वह बदलेमें दूसरोंसे ले लेता था। इस प्रकार वस्तुओंसे वस्तुओंका आदान-प्रदान, विनिमय होता था। परन्तु मनुष्य विनिमय का कोई सुविधाजनक, छोटा, संक्षिप्त माध्यम चाहता था। सौ मन अनाज या रुईको संभाल रखना कोई आसान काम न था, उसे देरतक रखा भी नहीं जा सकता था, उसमें कीड़ा लग सकता था, आग-पानीसे वह नष्ट हो सकती थी, उसे एक जगहसे दूसरी जगहपर आसानीसे ले जाया नहीं जा सकता था। विनिमयके इस माध्यमकी तलाश करते-करते पैसेकी उत्पत्ति हुई। पैसेको जब चाहे जिस चीजमें बदला जा सकने लगा। मनुष्यको बहुत सुविधा हो गई। मनुष्य पैसेको संभालकर रख लेता। जब चाहता जिस चीजको पैसेमें बदल लेता, और जब चाहता उसका अनाज, कपड़ा, लकड़ी, मकान—जो चाहता खरीद लेता। पैसेमें इतनी ही शक्ति रहती तो संसारमें कोई अनर्थ न होता, परन्तु धीरे-धीरे पैसेकी शक्ति बढने लगी। यह शक्ति इतनी बढ गई कि पैसेसे मनुष्य खाने-पीने-पहननेके पदार्थ ही नहीं, सब-कुछ खरीद सकने लगा। पैसेसे मनुष्य मनुष्यको खरीदने लगा। जब ब्राह्मणने यह देखा कि पैसेमें इतनी शक्ति है, उसे

किसी भी चीजमें वदला जा सकता है, उसमें ससारकी सब शक्तिया समेटकर रख दी गई है, जब चाहें उसमेंसे जिस किसी शक्तिको उद्बुद्ध किया जा सकता है, तो उसने पैसेके लिये अपने मस्तिष्कको वेचना शुरु कर दिया। ब्राह्मण व्यापारीके हाथ विक गया, सवसे ऊ ी वोली देनेवाले के हाथ उसने अपने दिमागको नीलाम कर दिया। क्षात्र-शक्ति भी वनियोंके हाथोंमें खेलने लगी, क्योंकि हर वातमें पैसेको जो प्रधानता मिल गई। पैसेवाला आजके युगका राजा है---यह इसलिये क्योंकि पैसेकी क्रय-शक्ति---खरीदनेकी ताक़त वहुत वढ गई है। आर्य-सस्कृतिके समाज-शास्त्रियोंने इस खरावीको यहीं पकड लिया था। उन्होंने अपने समाजका विकास आर्थिक-आधारोंपर नहीं होने दिया, पैसेकी क्रय-शक्तिको नहीं बढने दिया। उन्होंने यह कैसे किया---इसे समझनेकी आवश्यकता है।

पैसेकी क्रय-शक्ति वढ गई---इसका क्या अर्थ है? पैसा अगर रोटी-कपडा-मकान खरीद सके, तो इसमें किसे आपत्ति हो सकती है? अगर पैसेवाला रोटी खरीदेगा तो कितनी खरीद लेगा, खायेगा तो कितनी खा लेगा। अगर मकान भी खरीदेगा तो कितने खरीद लेगा, खरीदता ही चला जायगा तो वे उसके किस काम आयेंगे? पैसेसे कोई मोटरें खरीद ले, हवाई जहाज खरीद ले, परन्तु फिर वही प्रश्न उठ खडा होता है, कितने और कहातक? पैसेको जमा करते-करते एक अवस्था ऐसी आ जाती है जब जमा करनेवालेके लिये पैसा निरर्थक हो जाता है। करोडो रुपया जिसका वैकमें जमा है वह उसका क्या उपयोग कर सकता है? चार रोटीसे ज्यादा वह खा नहीं सकता, एक कमरेसे ज्यादामें वह सो नहीं सकता, दो-चार गजसे ज्यादा कपडा वह पहन नहीं सकता। जो आदमी सात फुट पानीमें डूब जाता है उसके लिये सौ फुट पानी हो तो भी उतना, सात फुट पानी हो तो भी उतना। डूबनेके लिये तो सात फुट ही चाहिये, वाकी का

बेकार है। भौतिक-आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये भी एक खास सीमातक रुपये-पैसेकी जरूरत है, उससे आगे जितनी आर्थिक-सम्पत्ति है वह सब बेकार है। परन्तु फिर भी लोग पैसे जोडनसे थकते नहीं। यह इसलिये क्योंकि पहले तो पैसेसे भौतिक सुख-भोग मिलते हैं, बाकी बचे हुए, बैंकमें जमा किये हुए, जिसे हम निरर्थक कह रहे है, उस पैसे से हुकूमत और इज्जत मिलती है। पैसेवालेकी हुकूमत है, पैसेवालेकी इज्जत है। पैसा खाने-पीनेकी चीजोंको ही नहीं, हुकूमत और इज्जतको भी खरीद सकता है। यह है पैसेकी बढ़ी हुई ताक़त, बढी हुई क्रय-शक्ति। जब इसकी क्रय-शक्ति इतनी बढी हुई है तब हरेकका पैसा जमा करनेके लिये लपक पड़ना स्वाभाविक है।

वर्ण-व्यवस्थाद्वारा पैसेकी क्रय-शक्ति घटा दी गई थी——

वर्ण-व्यवस्थाद्वारा आर्य-संस्कृतिने यह प्रयत्न किया था कि पैसेवाला खाने-पीने, भौतिक ऐश्वर्य-उपभोगको तो खरीद सके, परन्तु हुकूमत और इज्जतको न खरीद सके। आर्य-संस्कृतिका कहना था कि चारों प्रवृत्तियों के लोगोंके लिये आवश्यक है कि वे अपनी-अपनी प्रवृत्तिके अनुसार समाजकी सेवा करें——ब्राह्मण ज्ञानसे, क्षत्रिय क्रियासे, वैश्य इच्छासे, शूद्र शारीरिक सेवासे। यह उनका 'कर्त्तव्य' है। जब किसीका कोई 'कर्त्तव्य' निश्चित किया जाता है तो उसके साथ उसे कोई 'अधिकार' भी दिया जाता है। यह अधिकार उसे कर्त्तव्यके पारितोषिकके रूपमें दिया जाता था। संसारमें अधिकार चार प्रकारके है——इज्जत, हुकूमत, दौलत, खेल-कूद। आर्य-संस्कृतिमें इन चारोंका विभाग कर दिया गया था। ब्राह्मणको इज्जत दी जाती थी, परन्तु इज्जतसे दिमाग न बिगड जाय, इसलिये इज्जत देते हुए साथ ही कह दिया जाता था——'सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत्

विषादिव'---सम्मानसे ब्राह्मण ऐसे डरता रहे जैसे विषसे। क्षत्रियको हुकूमत दी गई थी, परन्तु हुकूमतसे भी दिमाग न विगड जाय, इसलिये दण्ड देने की शक्तिको देते हुए उसे साथ ही कह दिया जाता था---'दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः। धर्माद्विचलिते हन्ति नृपमेव स-बान्धवम्'---सचाईमे डिगनेवाले क्षत्रियको दण्ड-शक्ति ही उसके बन्धु-बान्धवोके साथ नष्ट कर डालती है। वैश्यको दौलत मिलती थी। वह दौलतसे खाने, पीने, पहनने, रहनेके साधनोके सिवा और कुछ नहीं खरीद सकता था। साथ ही, जैसे भोजनके पेटमें ही पडे रहनेसे बीमारी हो जाती है, सम्पूर्ण सम्पत्ति के वैश्यके पास जमा हो जानेसे समाजका शरीर रुग्ण न हो जाय, इसलिये वैश्यको दौलत-सम्पत्ति देते हुए कहा जाता था---'दद्याच्च सर्वभूताना-मन्नमेव प्रयत्नत'---वैश्य लेता जाय परन्तु साथ ही देता जाय। शूद्र, क्योंकि समाजकी अपनी किसी मानसिक-शक्तिद्वारा सेवा नहीं कर सकता, इसलिये उसे अपने कर्त्तव्योके पुरस्कारमें छुट्टी, खेल-कूद, तमाशा---ये चीजें मिलती थी, परन्तु शूद्र अपनी निचली स्थितिमें ही पडा न रहे, अपने आत्म-तत्त्वका विकास करे, इसलिये उसे कहा जाता था--'शूद्रेण सम-स्तावत् यावद्वेदे न जायते'---'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम्'---शूद्र भी ब्राह्मण बन सकता है, जबतक वह उन्नत नहीं होता तभीतक वह शूद्र है, उसके उन्नतिके मार्गपर चलनेमें कोई समाज उसके सामने बाधा बनकर नहीं खडा हो सकता। इस प्रकारकी व्यवस्थामें जहा अधिकार है, वहां कर्त्तव्य भी है, जहां स्वतन्त्रता है, वहा बन्धन भी है। इस समय सब लोग सब प्रकारके अधिकार चाहते हैं। ब्राह्मण चाहते हैं उन्हें इज्जत, हुकूमत, दौलत, खेल-कूद---सब-कुछ मिले; क्षत्रियोकी भी यही अभिलाषा है; वैश्य भी इसीके शिकार हैं। वर्तमान सामाजिक संगठनमें तो वैश्यों का ही पलड़ा भारी हो रहा है। उन्हींको दौलतके साथ-साथ इज्जत और

हुकूमत मिल रही है, वही खेल-कूदमें समय बिताते हैं, मजदूर बेचारे तो कामके मारे मरे जाते हैं। इसीका परिणाम है कि शुद्ध ब्राह्मणत्व तथा शुद्ध क्षत्रियत्वसे संसारकी जो उच्च अवस्था चित्रित की जा सकती है, वह कहीं देखनेको भी नहीं मिलती। वैश्यत्वके बोझसे मानव-समाजकी आत्मा कराह रही है। रुपये-पैसेसे सब-कुछ खरीदा जा सकता है, इसलिये सब पैसा कमानेमें जुटे हैं। वर्ण-व्यवस्थामें पैसेकी क्रय-शक्तिको कम करने के लिये इज्जत, हुकूमत, दौलतको अलग-अलग बांट दिया था, वैश्यको सामाजिक-व्यवस्थामें, ब्राह्मण तथा क्षत्रियसे नीचेके स्थानपर रख दिया था। भारतीय समाज-शास्त्री जानते थे कि समाजका विकास स्वार्थ-बुद्धि तथा परार्थ-बुद्धि दोनोंके समन्वयसे हो सकता है। समाजको न स्वार्थ-मय बनाया जा सकता है, न परार्थ-मय। वे जानते थे कि स्वार्थ परार्थके लिये चलेगा तभी समाजका आध्यात्मिक विकास होगा। इसलिये उन्होंने आर्थिक दृष्टि-कोणकी अवहेलना तो नहीं की थी, परन्तु परार्थको मुख्य बनाकर स्वार्थको परार्थके साधकके तौरसे गौण स्थान दे दिया था। निष्काम-प्रवृत्ति परार्थ प्रवृत्ति है; सकाम-भाव स्वार्थ-प्रवृत्ति है। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय निष्काम तथा परार्थ-भावसे समाजकी सेवा करते हैं, और वैश्य तथा शूद्र सकाम तथा स्वार्थ-भावसे। आर्य-संस्कृतिका ध्येय सकामता नहीं निष्कामता था, स्वार्थ नहीं परार्थ था। इसी लक्ष्य की तरफ चलते हुए आर्य-संस्कृतिने सकामता को निष्कामताका, स्वार्थको परार्थका सेवक बना दिया था, वैश्य-प्रवृत्तिको निचला दर्जा देकर ब्राह्मण-प्रवृत्ति से ऊपर उभरने नहीं दिया था। यह भाव वर्ण-व्यवस्थाका आधार-भूत तत्त्व था और इसीके द्वारा आर्य-संस्कृतिने पैसेकी क्रय-शक्तिको कम कर दिया था।

वर्ण-विभागका लक्ष्य प्रवृत्तियों, आकांक्षाओंका बंटवारा है।

ज्ञान-प्रधान व्यक्तिको ज्ञानका जीवन बितानेकी सोचनी चाहिये, और इसी आकाक्षाको रखते हुए उसे उचित पुरस्कार मिलना चाहिये। इसी प्रकार क्रिया तथा इच्छा-प्रधान व्यक्तियोंको करना चाहिये। ब्राह्मण ज्ञान-प्रधान (Man of Knowledge) है, अत ज्ञान के कारण उसे इज्जत मिलेगी, हुकूमत और दौलत नहीं। क्षत्रिय क्रिया-प्रधान (Man of action) है, अत क्रियाशीलता के कारण उसे हुकूमत मिलेगी, दौलत और इज्जत नहीं। वैश्य इच्छा-प्रधान (Man of desire) है, अत इच्छाशीलता के कारण उसे दौलत मिलेगी, इज्जत और हुकूमत नहीं। ससारके सारे अनर्थ इसलिये होते हैं क्योंकि इज्जत, हुकूमत और दौलत एक ही जगह जमा हो जाते हैं—इन्हें एक जगह जुटने न दिया जाय, अलग-अलग रखा जाय, तो समाजमें अव्यवस्था हो ही नहीं सकती, और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको अपनी प्रवृत्तिके अनुसार समाज-सेवा के रूपमें कर्त्तव्यको निभानेका जो अधिकार दिया जायगा, ब्राह्मणको इज्जत, क्षत्रियको हुकूमत, वैश्यको दौलत—उसका दुरुपयोग हो ही नहीं सकता। इस समय जो सबके वैश्य बननेकी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है उसका कारण भी यही है कि वैश्यके पास प्रतिष्ठा, शक्ति तथा धन तीनो आकर इकट्ठे हो गये हैं। अगर इन तीनोको अलग-अलग कर दिया जाय, अगर वैश्यको प्रतिष्ठा तथा शक्ति न देकर केवल धन दिया जाय, प्रतिष्ठा तथा शक्तिको धनसे खरीदी जा सकनेवाली चीजें न बनने दिया जाय, तो सब लोग वैश्य बननेका प्रयत्न भी न करें, और इससे जीवन-संग्रामकी विषमता भी कम हो जाय। इस समय तो सम्पूर्ण मानव-समाज वैश्य बना जा रहा है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि सबको धनकी इतनी आवश्यकता है। प्रवृत्ति न होते हुए भी वैश्य-वृत्तिके लिये यह घुडदौड़ इसलिये हो रही है क्योंकि आज दौलतसे ही इज्जत

और हुकूमत मिलती है। मनुष्य, स्वभावसे, दौलत इतनी नहीं चाहता जितनी इज्जत और हुकूमत चाहता है। दौलतको तो वह इसलिये चाहता है क्योंकि आज इसीसे इज्जत और हुकूमत मिल रही है। यदि समाज-का ढाचा वदल दिया जाय, धनकी वढती हुई क्रय-शक्तिको ढीला कर दिया जाय, तो रुपये-पैसेकी यह दौड आधीसे कम रह जाय। वर्ण-व्यवस्थाका यही पहलू ससारकी रक्षा कर सकता है, नहीं तो ससार धन-सग्रह करता-करता ही मट्टीका ढेर हो जायगा। इस समय कितने होनहार युवक केवल इज्जत और हुकूमत पानेके लिये रुपया बटोरनेमें पसीना वहा रहे हैं। उनमें ज्ञानकी प्रधानता है, कुछमें क्रियाकी प्रधानता है, परन्तु उन शक्तियोंसे वे समाजको कोई लाभ नहीं पहुचा रहे। वर्ण-व्यवस्था की मूलगत विचार-धाराको समझनेसे ससारकी न जाने कितनी अमूल्य शक्तिको नष्ट होनेसे बचाया जा सकता है, उसका समाज के विकासमें उपयोग किया जा सकता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये चार 'कर्त्तव्य' है ; इज्जत, हुकूमत, दौलत, खेल-कूद —ये चार 'अधिकार' है। कर्त्तव्यो तथा अधिकारोको प्रवृत्तिके अनुसार चार हिस्सोंमें बांटकर उन्हे नियमित कर देनेका नाम वर्ण-व्यवस्था है, ऐसा न होनेका नाम वर्ण-सकरता है। जब ज्ञान-प्रधान सात्त्विक जीव ज्ञानसे समाजकी सेवा कर केवल प्रतिष्ठा या इज्जत चाहता है—हुकूमत और दौलतकी तरफ़ नजर नहीं उठाता—तब वर्ण-व्यवस्था होती है। जब वह इज्जत, हुकूमत और दौलत तीनोको पाना चाहता है तब वर्ण-सकरता। यही नियम क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र पर लागू है। प्रवृत्तियोका विभाग हो जानेपर उसे क्रियात्मक रूप देना राज्यका काम है। राज्यको यह देखना चाहिये कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय प्रवृत्तियोके व्यक्ति, जो समाजकी सेवामें निष्काम तथा परार्थ-वृत्तिसे

दिन-रात लगे है, भूखे तो नहीं मरते, उनकी भौतिक आवश्यकताए तो पूर्ण होती है, उन्हे उचित प्रतिष्ठा तथा सम्मान मिलता है। इस प्रकार व्यक्तिरूपसे जब सब लोग अपनी प्रवृत्तियोको नियमित रखेंगे, समष्टि-रूपसे राज्य उनके नियमनमें सहायक होगा, तब वर्ण-व्यवस्थाका सिद्धान्त क्रियात्मक रूप धारण करेगा। जो व्यक्ति जिस कार्यके योग्य हो, जिस कार्यको कर सकनेकी ओर उसकी प्रवृत्ति हो, उसके लिये वैसी वृत्ति देना, वैसा आजीविकाका साधन उत्पन्न कर देना राज्यका कर्त्तव्य है, और राज्यसे वैसी वृत्तिकी आशा रखना प्रत्येक व्यक्तिका अधिकार है। प्रवृत्तियो तथा वृत्तियोमें समता रखनेकी जिम्मेदारी राज्यपर है। ब्राह्मणकी आंख हुकूमत और दौलतपर न हो, ऐसे काम पर ही हो जिससे उसे मान-प्रतिष्ठा-इज्जत मिल सकती है; क्षत्रियकी आख दौलत और इज्जतपर न हो, ऐसे ही कामपर हो जिससे उसके हाथमें शक्ति दी जा सके, वैश्यकी आख इज्जत और हुकूमतपर न हो, ऐसे ही कामपर हो जिससे वह धनका सञ्चय कर सके—हर व्यक्तिकी आकांक्षा, उसके दिलकी चाह इन तीनोमेंसे एक वस्तु पानेकी हो, यह व्यवस्था रखना राज्यका काम है। डा० भगवानदासके शब्दोमें जैसे राज्य यह व्यवस्था करता है कि एक पुरुष एक स्त्रीके साथ विवाह करे, अनेक स्त्रियोके साथ नहीं, वैसे राज्यको इस बात की देख-भाल भी करनी चाहिये कि हर आदमी हर आकाक्षाको लेकर न बैठ जाय। ब्राह्मण-प्रवृत्तियोका व्यक्ति बाजारमें तराजू लेकर बैठा हो, और वैश्य-प्रवृत्तियोका व्यक्ति धर्मका ठेकेदार बना हुआ हो—ये वर्ण-संकरताकी निशानिया है, और यही अवस्था आज समाजमें अधिकतासे दीख पड़ती है। इन घटनाओसे वर्ण-व्यवस्थाकी अक्रियात्मकता सिद्ध नही होती। इनसे यही सिद्ध होता है कि समाजकी व्यवस्था टूट जानेसे वर्ण-सकरताकी अवस्था आ जाती है। वर्ण-सकरताकी

अवस्था, वह अवस्था जिसमें समाजका विकास मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंके ऊपर नहीं हो रहा होता, किसी भी राज्यकी सबसे कडी आलोचना है, क्योंकि हर व्यक्तिको उसकी प्रवृत्तिके अनुसार वृत्ति देना राज्यका काम है।

पहले यह दर्शाया जा चुका है कि 'श्रम-विभाग' का सिद्धान्त केवल आर्थिक आधारोंपर आश्रित होनेके कारण समाजके चौमुखी-विकासमें सहायक सिद्ध नहीं हो सकता, परन्तु कइयोंकी यह सम्मति भी हो सकती है कि श्रम-विभागको संकुचित अर्थोंमें न लेकर विस्तृत अर्थोंमें लेना चाहिये। उनके मतमें श्रममें केवल वैश्य नहीं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सब आ जाते हैं। उनका कहना है कि चारों वर्ण भी चार श्रम हैं। श्रमका अर्थ आर्थिक-श्रम ही नहीं, प्रत्येक प्रकारका कार्य 'श्रम' है। ब्राह्मण और क्षत्रियके नि स्वार्थ, निष्काम-जीवनके श्रम हैं, वैश्य-शूद्रके स्वार्थ, सकाम-भावके श्रम हैं। अगर 'श्रम'-शब्दका इतना विस्तृत अर्थ लिया जाय तो हमें इसमें भी कोई आपत्ति नहीं। वर्ण-व्यवस्थाका तो यही तकाजा है कि त्याग-भावको, निवृत्तिको, परार्थको, आत्म-तत्त्वको जीवनमें मुख्य स्थान मिलना चाहिये, स्वार्थ-भावको, प्रवृत्तिको, भोगको गौण। यदि यह भाव 'श्रम'-शब्दका प्रयोग करते हुए भी रह सकता है तो भले ही वर्ण-व्यवस्थाके लिये श्रम-विभाग का प्रयोग हो, परन्तु फिर भी वर्ण-व्यवस्था तथा श्रम-विभागमें इतना अन्तर तो रह ही जाता है कि श्रम-विभाग वह सिद्धान्त है जो बे-जाने-बूझे, स्वयं, समाजके अन्धे विकासमें, अपने-आप काम कर रहा होता है, जिसका समाज-शास्त्री अध्ययन करते हैं, और वर्ण-व्यवस्था वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार समझ-बूझकर, समाजको अपने हाथमें लेकर, आध्यात्मिक लक्ष्यको सम्मुख रखकर, समाजमें विकसित हो रहे नियमका अध्ययन

नहीं अपितु उस नियमके अनुसार समाजको विकसित करनेका प्रयत्न किया जाता है । इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान समाज-शास्त्रमें श्रम-विभाग भी ऐसा सिद्धान्त बनता चला जा रहा है, जो मनुष्यके कावूमें आ रहा है, और स्वयं अपनी अन्धी दौड नहीं दौड रहा । परन्तु पश्चिमके समाजने जहासे पहले-पहल इसे पकडा है वहा इसका संकुचित आर्थिक अभिप्राय (Economic consideration) ही लिया है, और इसे हाथमें लेकर समाजका विकास करनेके स्थानमें देरतक इस सिद्धान्तका अध्ययन भर किया है और, यदि अब धीरे-धीरे मनुष्य के सम्पूर्ण विकासको श्रम-विभागके अन्तर्गत किया जा रहा है और इस सिद्धान्तको आधार बनाकर समाजकी रचना की जा रही है, होने ही नहीं दी जा रही, तो समझ लेना चाहिये कि पश्चिम इतनी देर के बाद अब भारतके वर्ण-व्यवस्थाके आदर्शको छूनेकी तय्यारी भर कर रहा है । अगर श्रम-विभागके ये विस्तृत अर्थ मानें तो दोनो सिद्धान्तोसे परिणाम भी लगभग एक-से निकलते हैं। श्रम-विभागके सिद्धान्तसे भी समाजके, वर्ण-व्यवस्थाकी तरहके ही, चार विभाग हो जाते है। इस समय योरुप में भी क्लर्जी, सोल्जर, मर्चेंट तथा लेबरर—ये चार विभाग ही हैं, और सर्वदा-सर्वत्र, सब देश-कालमें मनुष्य-समाजके यही चार भेद स्वाभाविक-तया हो सकते हैं । नाम भले ही कुछ हो, ये तो उन प्रवृत्तियोके विभाग हैं जो सब जगह एक-सी है । श्रम-विभागके इन स्वाभाविक भेदोको वर्ण-व्यवस्थाने सिर्फ नियमित कर दिया है, और इस विभागके अपने-आप हो जानेमें इसके सिर्फ आर्थिक बन जानेकी जो प्रवृत्ति है उसे हटा दिया है । वर्ण-व्यवस्थाके विचारसे मिलता-जुलता ही विचार ग्रीसके प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटोका था । उसने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में लिखा है—

"समाजके मुखिया 'गार्डियन', अर्थात् 'रक्षक' कहायेंगे । उनका

जीवन इस प्रकारका हो कि जहातक सभव हो कोई निजी सम्पत्ति न वना सकें। उनके घरमें किसीका प्रवेश निषिद्ध न हो, उनका भडार सबके लिये खुला हो। सयमी तथा उत्साही लोगोंको जो युद्ध करनेमें दक्ष हो, जिस चीजकी जरूरत हो, वह उन्हे निश्चितरूपमें समाजकी तरफसे मिला करे, क्योकि वे समाजकी सेवा करते है। उन्हें जो-कुछ मिले, वह न ज्यादा हो, न कम हो। वे एक ही भोजनालयमें भोजन करें, और ऐसे रहें जैसे कैम्पमें रहा करते ह। उन्हे मालूम होना चाहिये कि उनके हृदयोंमें परमात्माने दैवीय-धन रखा है इसलिये उन्हे सोने-चादीकी आवश्यकता नहीं। पार्थिव-सम्पत्ति उनके आत्मिक-धनको अपवित्र बनायेगी क्योंकि ससारमें सिक्केने ही असख्य उपद्रव खड़े किये है। उनके लिये सोने-चादीको छूना पाप है, जिस मकानमें ये चीजें हों उसमें जाना पाप है, इनके आभूषण पहनना और इन धातुओंके बर्तनोमें पानी पीना पाप है। यदि वे इन नियमोका पालन करते रहेगे, तो वे अपनी तथा अपने समाजकी रक्षा कर सकेंगे। जव वे सम्पत्ति जोड लेंगे, जब उनके पास जमीन, घर तथा रुपया हो जायगा, तो वे 'गार्डियन' या रक्षक होनेके स्थानपर घर-बारवाले व्यापारी हो जायेंगे, और अपने समाजके सहायक होनेकी जगह उसे दबानेवाले स्वामी वन जायेंगे। उनका जीवन घृणा करने तथा घृणा किये जानेमें, षड्यत्र करने तथा षड्यत्रोका शिकार वननेमें बीत जायगा, समाज नष्ट हो जायगा। 'गार्डियन्स' के लिये इसी प्रकारका राज्य-नियम होना चाहिये।"

प्लेटोने समाजके वही विभाग किये है जो वर्ण-व्यवस्थामें पाये जाते हैं। उसके विभाग है—'गार्डियन्स' या 'फिलासफर्स', 'सोल्जर्स' तथा 'आर्टिजन्स'। जिस प्रकार वर्ण-व्यवस्थाके समाज-शास्त्रीय सिद्धान्तका आधार मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तिया है, उसी प्रकार प्लेटोने भी अपने

विभागका आधार मनोविज्ञान ही रखा है। 'रिपब्लिक'की चतुर्थ पुस्तकमें लिखा है—

"क्या आत्माकी तीन प्रकारकी प्रकृति होती है? क्यों नहीं, यदि समाजके तीन प्रकारके विभाग हैं, तो ये जरूर आत्माकी प्रकृतिके विभाग होंगे, क्योंकि समाजमें ये तीन गुण व्यक्तियोंके गुणोंसे ही आते हैं।"

भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियोंवाले व्यक्तियोंका उल्टी वृत्तियोंमें पड़ जाना वर्ण-संकरता है, और इसी अवस्थाको प्लेटोने सामाजिक-अव्यवस्था कहा है। उसका कथन है कि इस अव्यवस्थाको दूर करना राज्यका कार्य है। 'रिपब्लिक' की चतुर्थ पुस्तकमें लिखा है—

"जब ऐसा व्यक्ति, जो प्रकृतिके अनुसार 'आर्टिजन' अर्थात् वैश्य-प्रवृत्तिका है, धनके घमंडमें आकर 'वारियर' अर्थात् क्षत्रिय-श्रेणीमें प्रविष्ट होना चाहता है, जब 'वारियर' अपनेसे ऊंची श्रेणीके योग्य न होता हुआ 'सीनेटर' या 'गार्डियन' अर्थात् ब्राह्मण-श्रेणीमें आना चाहता है, जब एक ही व्यक्ति सबके काम करना चाहता है, तब समाजमें दुर्व्यवस्था फैल जाती है। किसी भी राज्यमें सुशासन होनेके लिये आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंको अपने-अपने धर्ममें ही लगाया जाय, और अव्यवस्था न होने दी जाय।"

वर्ण-व्यवस्थाके रूपमें आर्य-संस्कृतिने समाजके आध्यात्मिक-दिशाकी तरफ विकसित होनेके एक महान् सिद्धान्तका आविष्कार किया था। हम इस सिद्धान्तको किस हदतक क्रियामें परिणत कर सकते हैं— इसका निर्णय उस वर्ण-व्यवस्थाको देखकर करना न्याय-संगत नहीं जो आजकल हमारे समाजमें प्रचलित है। यह वर्ण-व्यवस्था नहीं,

वर्ण-व्यवस्थाका कुत्सित रूप है, यह वह भव्य भवन नहीं जिसका आर्य-संस्कृतिने निर्माण किया था, यह उस भवनका खंडहर है। हमें नामों से किसी प्रकारका आग्रह नहीं, ये नाम रखे जाय, कोई दूसरे नाम रख लिये जांय, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वर्ण-व्यवस्थाके आधार में आर्य-सस्कृतिके जो सजीव तत्त्व काम कर रहे हैं वे ही मानव-समाजकी समस्याओका यथार्थ और अन्तिम हल है।

[११]

भौतिकवाद बनाम अध्यात्मवाद

प्रकृतिकी विजय या आत्माकी विजय—

इस पुस्तकमें जगह-जगह हम देख आये हैं कि ससारके विचारको के जीवनके प्रति दो दृष्टि-कोण रहे हैं—भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद। पश्चिममें भी दोनो तरहके विचारक हुए हैं, पूर्वमें भी, परन्तु पश्चिममें भौतिकवादी विचारको एवं पूर्वमें अध्यात्मवादी विचारकोकी सख्या अधिक रही है। अन्य जितने दृष्टि-कोण हैं वे न्यूनाधिक तौरसे इन दोनोमें समा जाते हैं। आर्य-सस्कृतिमें भौतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि-कोणोका समन्वय रहा है, परन्तु क्योकि इसमें भौतिक-जगत्को आध्यात्मिक-तत्त्वका अनुगामी माना गया है, साधन माना गया है, मुख्य तत्त्व प्रकृति नहीं आत्मा माना गया है, अत. यह सस्कृति कोरी आध्यात्मिक न होती हुई भी अध्यात्मवादके अन्दर ही समा जाती है।

भौतिकवादी विचारकोकी दृष्टिमें उन्नतिका अर्थ प्रकृतिपर विजय पाना है। पहले बैलगाडी चलती थी, अब मोटर और विमान चलने लगे हैं ; पहले मट्टी का दिया जलता था, अब बिजली जलने लगी है ; पहले जिन बातोके लिये महीनो लग जाते थे अब उनके लिये बटन

दवाना काफी है। नयी-नयी मशीनोके जरिये मनुष्य प्रकृतिका स्वामी बनता जा रहा है।

अध्यात्मवादी विचारकोकी दृष्टिमें उन्नतिका अर्थ प्रकृतिकी नहीं, आत्माकी विजय पाना है। मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोहके सामने क्षण-क्षण अपनेको निर्बल पा रहा है। इन मनोवेगोने उसे पागल बना रखा है। मनुष्यने मोटर बना ली, हवाई जहाजमें उडने लगा, बिजलीसे काम लेने लगा, एक सेकडमें जहा चाहे वहा अपनी बात पहुचाने लगा, मशीनके जरिये प्रकृतिका स्वामी बन गया, परन्तु अगर मोटरपर चढकर वह दूसरेको लूटने लगा, हवाई जहाजपर चढकर निहत्थोपर बम बरसाने लगा, मशीनके जरिये आग उगलने लगा, प्रकृतिपर विजय पाकर ससारको भस्म करने लगा, तो यह विजय किस कामकी ?

आर्य-सस्कृतिने इस विचारको खूब मथा था। छान्दोग्य-उपनिषत् (७-१) में एक कथा आती है। नारद सनत्कुमार ऋषिके पास गया और कहने लगा—भगवन् ! मैंने दुनियाका सब-कुछ पढ डाला, चारो वेद, विज्ञान, नक्षत्र-विद्या, क्षत्र-विद्या—कुछ नहीं छोडा, परन्तु मेरे आत्माको शाति नहीं मिली। मैं 'मन्त्रवित्' हो गया हू, 'आत्मवित्' नहीं हुआ ! प्रकृतिका ज्ञान मंत्र-ज्ञान है, अपना ज्ञान आत्म-ज्ञान है। भगवन्, मैंने सुना है—'तरति शोक आत्मवित्'—जो 'आत्म-तत्त्व'को जान जाता है, 'आत्मवित्' हो जाता है, उसे शाति मिल जाती है, मुझे आत्माका उपदेश दीजिये। कठ-उपनिषत्में नचिकेताकी कथाका उल्लेख है। उसे कहा गया—तू हाथी-घोडे, ससारके ऐश्वर्य, भोग-विलास, प्रकृतिपर शासन, जो-कुछ चाहे माग, आत्मज्ञान बडा कठिन है, इसे मत माग। नचिकेता आजकलका युवक नहीं था, उसने आर्य-संस्कृतिमें जन्म लिया था। वह कहता है, भौतिक वासनाए तो एक जन्म क्या, सैकडो

जन्म लेते जाय तब भी नही मिटतीं, आत्म-तत्त्वके दर्शन कर लेनेपर भौतिक-जगत् स्वय हाथ जोड़कर खडा हो जाता है। भगवन्, मुझे आत्माका उपदेश दीजिये। बृहदारण्यक उपनिषद् (४-५) में याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी का सवाद आता है। याज्ञवल्क्य जब वानप्रस्थी होने लगे, तब उन्होंने अपनी भार्या मैत्रेयीको कहा—लो, तुम्हे कुछ सम्पत्ति देता चलू। मैत्रेयी पूछने लगी—'यन्नु म इय सर्वा पृथिवी वित्तन पूर्णा स्यात् स्यामह तेनामृता'—अगर सारी पृथिवीके भोगके पदार्थ मुझे मिल जाय, तो मेरे आत्माको शाति मिल जायगी या नहीं ? याज्ञवल्क्यने कहा—'नेति-नेति। यथैव उपकरणवतां जीवित तथैव ते जीवितं स्यात्। अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन'—ससारके प्राकृतिक साधनोंके मिलनेसे तुझे आत्मिक शाति प्राप्त नहीं होगी, हां, उपकरण अर्थात् साधन-सम्पन्न व्यक्तियोका जीवन जितना सुखी हो सकता है, उतनी सुखी तू जरूर हो जायगी। मैत्रेयी कहने लगी—'येनाहं नामृता स्या किमहं तेन कुर्याम्'—जिस वस्तुके प्राप्त करनेसे मेरे आत्माको चिरस्थायी शाति न मिले उसके पीछे दौडकर मैं क्या करूगी, मुझे तो 'आत्म-तत्त्व' का ही उपदेश दीजिये।

आर्य-संस्कृति भौतिक उन्नतिको जानती ही नहीं थी, यह बात नहीं। जीवनके मार्गपर चलते हुए एक स्थान आ जाता है जहा रास्ता दो दिशाओ की तरफ फूट निकलता है। एक दिशा भौतिकवादकी तरफ ले जाती है, दूसरी अध्यात्मवादकी तरफ। भौतिकवादकी तरफ, प्रकृतिपर विजय पानेकी तरफ जो रास्ता जाता है, वह प्रेय-मार्ग है, प्यारा रास्ता है, क्योकि वह दिलको लुभानेवाला है। अध्यात्मवादकी तरफ, आत्माकी विजय पानेकी तरफ जो रास्ता जाता है, वह श्रेय-मार्ग है, शुरू-शुरूमें कठिन भले ही प्रतीत हो, अन्तमें मनुष्यका

भला, उसका श्रय उसीमें है। भौतिकवादको आर्य-संस्कृतिने प्रेय-मार्ग, 'अपरा-विद्या' कहा है, अध्यात्मवादको श्रेय-मार्ग, 'परा-विद्या' कहा है। दोनो मार्ग आर्य-सस्कृतिके लिये परिचित मार्ग थे--'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा च अपरा च'--परन्तु अपरा पराके लिये है, प्रेय श्रेयके लिये है, भौतिक अध्यात्मके लिये है, मनुष्यका अन्तिम भला, उसे वास्तविक शाति परासे, श्रयसे, अध्यात्मसे मिल सकती है--यह आर्य-सस्कृतिका सोचा-समझा हुआ निष्कर्ष था। आर्य-सस्कृति भौतिकवादको जानती थी, अपरा-विद्यासे परिचित थी, प्रेय-मार्ग उसके लिये कोई नया मार्ग नहीं था, उसे मालूम था कि इस मार्गपर चलनसे ससारके भोग मिलते है, एश्वर्य मिलते है, प्रकृतिपर विजय पाया जाता है, परन्तु वह इस मार्गपर उतना ही चली थी जितना पराके लिये, श्रेयके लिये, अध्यात्मके लिये, 'आत्म-तत्त्व'के विकासके लिये आवश्यक था। आज हम बतहाशा प्रकृतिपर विजय पानेके मार्गपर भागे चले जा रहे है। किसलिये ? आर्य-सस्कृतिके विचारक भी इस मार्गपर बतहाशा भाग सकते थे, उन्होने जीवनकी यात्रा वर्तमान युगसे तो बहुत पहले शुरू की थी। उन्होने जान-बूझकर इस मार्गको छोडा था, यह जानते हुए छोडा था कि इस मार्ग पर चलें तो मनुष्य प्रकृतिका राजा तो बन सकता है, जो चाहे प्रकृतिके पेटमेंसे निकाल सकता है, परन्तु आत्माका दरिद्र हो जाता है। आखिर, किसलिये प्रकृतिके पेटको चीरते ही चले जाय, किस उद्देश्यके लिये ? आज प्रकृतिके पेटको चीरकर मनुष्यने एटम बम निकाला, हाईड्रोजन बम निकाला। बुरी चीजें निकालीं, अणुशक्तिके प्रयोगसे अच्छी वस्तुएं भी निकल सकती है। जो अच्छी वस्तुए निकलेंगी उनसे मनुष्यको आराम मिलेगा, उसका समय बचेगा, वह अपने समयको प्रकृतिके और अधिक गहरे अध्ययनमें लगायेगा, और अधिक आरामकी चीजें निकालेगा, याज्ञवल्क्यके

शब्दोमें वह भौतिक उपकरणोसे, साधनोसे सम्पन्न हो जायगा, परन्तु आत्मिक-शक्ति उसे तब भी नहीं मिलेगी। आर्य-सस्कृतिके विचारक जानते थे कि अगर वे इस मार्गपर चलते तो वे भी यह सब-कुछ कर सकते थे, परन्तु उन्होने इस मार्गको छोड दिया, यह घोषणा करके छोडा कि यह मार्ग बहुत प्यारा मार्ग है, लुभावना मार्ग है, परन्तु इस मार्गपर चलकर मनुष्य मनुष्य नहीं बन सकता, आत्म-तत्त्वका विकास नहीं कर सकता, जिस शाश्वत-शाति और चिर-सुखको पानेके लिये वह अनादिकालसे भटक रहा है उसे नहीं पा सकता।

अस्ली वस्तु क्या है ? मनुष्य प्रकृतिके पेटमें घुसकर उसमेंसे अच्छा-बुरा जो-कुछ है उसे बाहर निकाल लाये, उसका हिमालय-जितना एक बडा ढेर खडा कर दे, चारो तरफ भोगके उपकरण इकट्ठे करके उनके बीचमें खडा होकर अपनी वाह-वाह करे—यह अस्ल वस्तु है, या आत्म-तत्त्वको समझना, मैं क्या हू किधरसे आया हूं, किधर जाना है, यह ससार मेरा लक्ष्य है या लक्ष्यकी तरफ जानेका साधन, मेरा लक्ष्य क्या है, उस लक्ष्यको पानेका सही रास्ता क्या है—यह अस्ल वस्तु है? आर्य-सस्कृतिने प्रश्नके दोनो पहलुओपर सोचा था, और सोचकर फैसला किया था कि प्रकृतिपर विजय पाना ठीक है, परन्तु प्रकृतिपर ही विजय पाते चले जाना, और सब-कुछ भूल जाना, गलत रास्ता है। सही रास्ता, आत्माको लक्ष्यतक पहुचानेका रास्ता, प्रकृतिकी नहीं आत्माकी विजय पाना है।

आत्मापर विजय पानेका क्या उपाय है? आर्य-विचारकोका कथन था कि पाच कसौटियोपर खरा उतरनेपर आत्म-तत्त्व विकासके मार्ग पर चल पड़ता है। इन पाचकी साधना आत्माकी साधना है, इन पाचोको जीवनमें उतार लेना अध्यात्मवाद है, इनसे उल्टा चलना

भौतिकवाद् हैं। वे पांच क्या हैं ? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर
और अपरिग्रह—ये पाच वे चट्टानें हैं जो आर्य-अध्यात्मवादकी नींवक
अचल और दृढ बनाती हैं। इन चट्टानोको आधार बनाकर जिस
व्यक्ति, जिस समाज और जिस देशके जीवनरूपी भवनका निर्माण
होगा वह अडिग होगा, उसे किसी तरहका भूचाल अपने लक्ष्यक
तरफ जानेसे रोक नहीं सकेगा। व्यक्ति तथा समाजका जीव
इन्हीं पाच तत्त्वोमें बधकर ठीक दिशाकी तरफ जाता है, जहा ह
इन तत्त्वोमेंसे किसी एकको भी छोडते हैं वहीं हम व्यक्ति, समाज
देशको फिसलता देखते हैं। अध्यात्मवादके लिये ये तत्त्व अटल सत्य है
भौतिकवाद इनमें डूबता-उबरता रहता है, कभी हा करता है, कभी न
करता है। हा-ना क्यो करता है, कठोर-ना ही क्यो नहीं कर देता
क्योकि जो सचाई है वह बरबस अपनेको जाहिर करती है, प्रकाश सदि
के घोरतम अन्धकारको चीरकर निकल आना चाहता है। 'हिरण्मये
पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'—सचाईका मुंह बाहरकी चमक-दमक
छिपा हुआ है, परन्तु बादल कबतक सूर्यको ढाक सकते हैं, सूर्यक
किरणें घनघोर घटाओको छिन्न-छिन्न कर देती हैं, और भौतिकवाद
कमजोर पर्देके पीछेसे भी अध्यात्मवादकी किरणें फूटने लगती हैं, इसलि
भौतिकवाद भी उन अध्यात्म-तत्त्वोसे निपट इनकार नही कर सकता

अहिंसा—

आत्म-तत्त्वके खरा उतरनकी सबसे पहली कसौटी 'अहिंसा' है
प्रकृतिमें हम क्या देखते हैं ? बडा छोटेको खा रहा है, बलवान् कमजो
को जीने नहीं देता। पौधोमें, पशु-पक्षियोमें यही नियम काम कर र
है। वर्तमान विचारक इसे 'स्ट्रगल फॉर एग्जिस्टेन्स' (Struggle fo

existence) कहते हैं, भारतके प्राचीन ग्रंथोंमें इसे मत्स्य-न्याय कहा गया है। 'मत्स्यन्यायाभिभूत जगत्'—संसारमें मत्स्य-न्याय चल रहा है, बड़ी मछली छोटीको निगल जाती है, जो बड़ी मछली निगलती है उसे फिर उससे बड़ी मछली हड़प जाती है। टैनीसन एक महान् कवि हुआ है। उसने प्रकृतिका वर्णन करते हुए उसे एक ऐसे दानवके रूपमें देखा है जिसके दांत और पंजे खूनसे लथपथ हैं—वह कहता है—Nature red in tooth and claw—प्रकृति जिसके दांत और पंजे लाल हो रहे हैं। भौतिकवादका कहना है कि जो प्रकृतिका नियम है वही मनुष्यका नियम है। प्रकृति जब कमजोरको जीने नहीं देती तो मनुष्य कमजोरको क्यों जीने दे। इसी सिद्धान्तसे युद्धके विचारने जन्म लिया है। शक्तिशाली मनुष्यको, शक्तिशाली समाजको, शक्तिशाली राष्ट्रको ही जीनेका हक है, कमजोरको नहीं। इसीलिये जो राष्ट्र शक्तिशाली हैं वे कमजोर राष्ट्रोंको पद-दलित करनेके लिये निकल पड़ते हैं। कोई समय था जब शांतिसे घर बैठे लोगोंको कोई चैनसे नहीं जीने देता था। जिसके जीमें आया, जो फौजें खड़ी कर सका, वह विश्व-विजयका नारा उड़ाता हुआ निकल पड़ा, संसारमें बवंडर खड़ा करके घर लौट आया। जर्मन-जाति का विश्वास था कि वह जाति विश्वका शासन करनेके लिये उत्पन्न हुई है। केवल इस विश्वासके कारण जर्मनीमें ऐसे साहित्यका निर्माण हुआ जिसमें युद्धको प्रकृतिकी अनिवार्य मांग कहा गया, दो भयंकर युद्ध हुए, करोड़ोंका खून बहा, और मानव-समाज आज भी अभी सोचमें ही पड़ा हुआ है कि तीसरा विश्वव्यापी युद्ध करे, या न करे। इसी सिद्धान्तको आधार बनाकर अंग्रेजोंने अपने साम्राज्यवादके विचारको खड़ा किया। आर्य-संस्कृतिकी आध्यात्मिक विचार-धाराने इस दिशामें प्रकृतिको अपना

पथ-प्रदर्शक कभी नहीं माना। क्या पौधे, पशु-पक्षी, मछलियां, पतंग मानवके जीवनकी दिशाका निर्धारण करेंगे? क्या मनुष्य है? मानव-जन्म आगे बढनेके लिये है, कीडे-मकोडोंको अपना बनाकर उनकी तरफ लौटनेके लिये नहीं। इसलिये आर्य-संस्कृ मनुष्यको पशु माननेसे इनकार कर दिया। इसके अतिरिक्त वही होता है जो सार्वत्रिक बन सके, व्यापक बन सके। अगर म न्याय ही नियम है, अगर बड़ेने छोटेको खा ही जाना है, तो प्रश्न होत कौन बडा है, कौन छोटा है? बड़ा-छोटा, बलवान्-कमजोर, सापे शब्द हैं। जिसे हम बडा कहते हैं वह किसी एककी दृष्टिसे बडा किसी दूसरेकी दृष्टिसे छोटा है। जिसे हम बलवान् कहते हैं वह भी दूसरेकी दृष्टिसे कमजोर है। अगर बडा ही जीयेगा, छोटा नहीं, बल ही जीयेगा, कमजोर नहीं, तब तो संसारमें केवल कोई एक ही जी स जो सबसे बडा होगा, सबसे बलवान् होगा। सब राष्ट्रोंमें बल राष्ट्र एक होगा, उस राष्ट्रमें भी बलशाली व्यक्ति एक होगा! क्या सब राष्ट्र उस एक राष्ट्रके लिये, और वह सम्पूर्ण राष्ट्र एक व्यक्तिके लिये समाप्त हो जायगा? संसारमें इस अन्धे, भौतिकवादी दृष्टि-कोणके लिये प्रयत्न होते रहे, कोशिशें होती कि एक राष्ट्र सब राष्ट्रोंको दबा ले, और उस एक राष्ट्रमें एक सारे राष्ट्रको दबाकर रखे। परन्तु ये कोशिशें कामयाब नहीं अगर कुछ देरतक हुईं भी तो झट-से प्रतिक्रिया हुई, और मछलियो पशुओंका नियम मनुष्य-समाजमें चलकर भी न चला। समय जब राजा-महाराजा होते थे, हमारे देखते-देखते वह समय चला जो रह गया, वह चला जायगा। डिक्टेटरोंका [illegible]

प्रकट होनेका साधन है, माध्यम है। भौतिकवाद प्रकट होगा, हम कुछ देरतक उसमें टिकेंगे, उसीको सब-कुछ समझेंगे, परन्तु क्योंकि आत्म-तत्त्व भौतिकके बिना अपनेको प्रकट ही नहीं कर सकता इसलिये भौतिक तभीतक टिकेगा जबतक आत्म-तत्त्व उस स्तरसे आगे नहीं निकल जायगा। जहां आत्म-तत्त्व आगे निकला वहीं भौतिकवाद बेजान मट्टीके ढेलेकी तरह गिर जायगा। इसमें अपनी चमक नहीं, अध्यात्मवादकी चमक-से यह चमकता है, उसके जीवनसे यह जीता, उसके प्राणसे अनुप्राणित होता है। हिंसा आत्माका नियम नहीं, जड प्रकृतिका नियम है, आत्म-तत्त्वका नियम अहिंसा है। किसी प्राणीको मारकर खा जाना—यह तो हिंसाका बहुत मोटा, स्थूल रूप है। आर्य-संस्कृतिके ऊंचे अर्थोंमें नानात्व-भावना, भेद-बुद्धि, वह बुद्धि जिससे हम संसारमें जीनेका अपना ही अधिकार समझते हैं, दूसरोंका नहीं, जिससे हमने मानव-समाजको पारिस्परिक द्वेष और कलहका अखाडा बना रखा है, हम जीयेंगे, दूसरे को नहीं जीने देंगे—यह भावना हिंसा है। हम जीयें, और दूसरोंको भी जीने दें, ज़रूरत पड़े तो दूसरोंके जीवनके लिये अपने जीवनकी आहुति दे दें—यह अहिंसा है। अपने लिये दूसरोंको बलि चढा देना अन्धी प्रकृतिका नियम है, मछलियों-कीडों-मकौडोंका नियम है, जड भौतिक-वादका नियम है; दूसरोंके लिये अपनेको बलिदान चढा देना आत्म-तत्त्वके विकासका नियम है, मनुष्यका नियम है, चेतन अध्यात्म-वादका नियम है। प्रकृतिकी हिंसा उस प्रतिक्रियाको जगानेके लिये है जिसके द्वारा प्रकृतिसे भिन्न यह दैवीय मानव अहिंसाके तत्त्वमें ही अपनी पूर्णताको पा सकता है।

क्या यह आध्यात्मिक सचाई संसारमें अपनेको बार-बार प्रकट नहीं करती ? क्या दूसरोंके लिये अपनेको कुर्बान कर देनेवालोंको

दुनियां जिन्दा नहीं कहती ? क्या हिंसा, चिल्ला-चिल्लाकर, 'अहिंसा ही सत्य है—अहिंसा ही सत्य है' का नारा नहीं लगाती ? क्या क्राईस्ट को सूलीपर चढा देनेके बाद मानव-समाजने उसकी पूजा करके अपने पापका सदियोंतक पश्चात्ताप नहीं किया ? क्या ब्रूनोको जिन्दा जला देनेवालोंने उसके बुत खडे करके उसकी पूजा नहीं की ? क्या दयानन्द ने अपनेको जहर देनेवालेकी जान बचाकर मरते-मरते अपनेको अमर नहीं बना लिया ? क्या गांधी अहिंसाके अमर सत्यकी साधनामें अपने प्राण न्यौछावर करके मनुष्योंसे देवताओंकी श्रेणीमें नहीं चला गया। हम कितने ही जोरदार शब्दोंमें हिंसाका प्रतिपादन करें, इसे प्रकृतिमें देखें, मनुष्य-समाजमें देखें, परन्तु सारा-का-सारा सृष्टिका प्रवाह हिंसासे निकलकर अहिंसाकी तरफ जा रहा है, अनेकतासे निकलकर एकताकी तरफ जा रहा है, विषमतासे निकलकर समताकी तरफ जा रहा है, पारस्परिक द्वेष-कलह-लडाई-झगड़ेसे निकलकर प्रेम-शांति-बन्धुत्वके लिये चीख रहा है, चिल्ला रहा है, इनके लिये तरस रहा है। क्या यह सब-कुछ होते हुए भी कोई कह सकता है कि सृष्टिका मूल-तत्त्व अहिंसा नहीं, हिंसा है, अध्यात्म नहीं, भौतिक है ? प्रकृतिका नाम लेनेवाले भी आखें खोलकर प्रकृतिका अध्ययन नहीं करते क्योंकि वहां भी, जहां हिंसा दीखती है, वहा ओटमें अहिंसा बैठी हिंसापर दो टूक आसू बहा रही होती है।

अहिंसाके इसी तत्त्वको आधार बनाकर महात्मा गांधीने एक विचित्र प्रकारकी विचार-धाराको जन्म दिया। उनका कहना था कि जब हम लड़ते-झगड़ते हैं तब एक बातको भूल जाते हैं। बुराई अलग चीज है, और बुराई करनेवाला व्यक्ति, देश या जाति अलग चीज है। हमें बुराईका विरोध करना है, बुराई करनेवालेका नहीं

बुराई करनेवाला तभीतक बुरा है जबतक वह बुराईको नहीं छोड़ता, उसे छोडते ही वह भला हो जाता है। इस दृष्टिसे बुराई करनेवाले से प्रेम करते हुए भी हम उसकी बुराईसे लड सकते हैं। इस प्रकारकी लडाईमें द्वेष-भावना नहीं उत्पन्न होती। संसारकी समस्याएं ईर्षा-द्वेषकी समस्याएं हैं। हम लडते हुए ईर्षा-द्वेषके आवेशमें आ जाते हैं। अगर हम बुराई और बुराई करनेवालेको अलग-अलग देखने लगें तो ईर्षा-द्वेष-घृणा उत्पन्न ही नहीं हो सकती। ईर्षा-द्वेष-घृणा मनके आवेग हैं। आवेग को देखकर आवेग बढता है। दूसरेके बढते क्रोधको देखकर हमारा क्रोध बढता है, दूसरा शान्त होता जाय, और हमारा क्रोध बढ़ता जाय—ऐसा नहीं होता। इसलिये क्रोधका मुकाबिला शांतिसे, घृणाका मुकाबिला प्रेमसे करना क्रोध और घृणाके वेगको काट देनेका सही रास्ता है। अंग्रेजोंके साथ लडनेमें महात्मा गाधीने इसी विचार-धाराको क्रियात्मक रूप दिया। उनका कहना था, अंग्रेज बुरे नहीं, उनसे हमें घृणा नहीं, उनकी शोषण-नीतिसे हमें लडना है, हम अंग्रेज-जातिके प्रति प्रेम रखते हुए भी उनकी नीतिके प्रति विद्रोहका झंडा खड़ा कर सकते हैं। ऐसा उन्होंने किया भी। इसीका परिणाम है कि १५० सालतक भारतका शोषण करनेके बाद आज जब अंग्रेज भारतको छोडकर चले गये हैं तब भी पीछे कटुताका अंश नहीं दिखाई देता। आर्य-संस्कृतिके मूल-तत्त्व अहिंसाको व्यक्ति, देश तथा जातिके जीवनमें जिस प्रणालीद्वारा घटाया जा सकता है उसका नाम महात्मा गाधीने 'अहिंसात्मक असहयोग' रखा था। भारतकी स्वतंत्रताकी लड़ाईका अन्तिम अध्याय महात्मा गांधी ने लिखा, और इसका शीर्षक है—'अहिंसाद्वारा हिंसापर विजय'! आजतक संसार हिंसाका उत्तर हिंसा ही समझता रहा है, परन्तु आर्य-संस्कृतिकी घोषणा है—'अक्रोधेन जयेत् क्रोध असाधुं साधुना

जयेत्'—क्रोधसे क्रोध बढता है, घृणासे घृणा बढती है, हिंसासे हिंसा बढती है। आश्चर्य इसी बातका है कि यह सब आखोके सामने देखकर भी ससार इसी मार्गपर बढता चला जा रहा है।

सत्य—

आत्माके विकासका दूसरा तत्त्व 'सत्य' है। जैसे ससारमें चारो तरफ फैली हिंसाके बीचमें अहिंसा अपना सिर ऊचा किये खड़ी है, वैसे चारो तरफ फैल रहे अनृतमेंसे सत्य ऊचा सिर किये खड़ा है। अहिंसा तथा सत्यमें एक भेद है। अहिंसाके विरोधमें तो भौतिकवादी युगमें आवाज सुनाई देती है, सत्यके विरोधमें भौतिकवाद भी कुछ कहनेका साहस नहीं करता। इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि सत्य तो आत्म-तत्त्वका ही शुद्ध रूप है। आत्म-तत्त्व प्रकृतिमें उलझा रहता है, जब यह उस उलझनमेंसे निकल आता है, तब यह सत्य-स्वरूप हो जाता है। वेदने कहा है—'तत्त्व पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये'—सत्यकी भावनामें आत्म-तत्त्वका अधिक-से-अधिक प्रकाश है, आत्म-तत्त्व को निकट-से-निकट देखना सत्यको देखना है। 'ऋत च सत्यं चाभीद्धात्त-पसोऽध्यजायत'—उस तपोमय आत्म-तत्त्वसे पहले-पहल ऋत तथा सत्य उत्पन्न हुए। ऐसी हालतमें भौतिकवाद भी इस आध्यात्मिक-तत्त्वसे इतना सहमा रहता है कि सत्यके विरुद्ध कुछ कहनेका साहस नहीं कर सकता। परन्तु वह भौतिकवाद ही क्या जो आध्यात्मिक-तत्त्वके आगे पर्दा खडा न कर दे। इसका काम ही अध्यात्मका आवरण करना, उसे ढक देना है। यही कारण है कि भौतिकवाद सत्यकी दुहाई देता हुआ भी असत्यकी तरफ—झूठकी तरफ लपकता है। भौतिक-वादी-जीवन, असत्यको आधार बनानेका प्रयत्न करता है। कृत्रिमता

क्या है? जो जैसा हो वह वैसा न दीखे। आजके जीवनमें यही कृत्रिमता चारो तरफ छा रही है। अपनी असलीयत कोई जाहिर नहीं होने देना चाहता। दूसरोका खून पीनेवाला यह चाहता है कि सब उसे दयालु कहें, पद-पदपर झूठ बोलनेवाला यह चाहता है कि लोग उसे सच्चा और ईमानदार कहें, चोर और व्यभिचारी भी अपने को सत्पुरुष और सदाचारी कहलानेका दंभ रचता है--यह सब कृत्रिम जीवन इसीलिये तो चल रहा है कि हम सत्यका नाम लेते हैं, परन्तु असत्यका आचरण करते हैं। हमारा आभ्यन्तर तथा बाह्य जीवन अलग-अलग है। हम जैसे हैं वैसे नहीं प्रकट होना चाहते। अगर कोई हमें पलट-कर रख दे, अन्दरका बाहर रख दे, हमारे भीतरसे इतना गंद निकले कि हम अपनेपनसे ही इन्कार कर दें। हमारी 'प्राइवेट लाइफ' कुछ और है, 'पब्लिक लाइफ' कुछ और। हम समझते हैं कि 'प्राइवेट' में हम जो चाहें करें, उसमें हमें पूछनेवाला कोई न हो। व्यक्तिको छोड़ दें, समष्टिमें हम क्या देखते हैं? जैसे व्यक्ति अपनी अस्लीयतको छिपाना चाहता है, वैसे समाज और देश अपनी अस्लीयतको प्रकट होने देना नहीं चाहते। राजनीति वह विज्ञान है जिसमें झूठ बोलना एक कलाका रूप धारण कर गया है। राजनीतिज्ञ अपने मनकी बात वाणीमें और वाणीकी बात क्रियामें नहीं आने देता, वह जो करता है उसे कहता नहीं, जो कहता है उसे न करता है, न सोचता है। यह सब क्यो होता है? इसलिये होता है क्योकि भौतिकवाद सत्यका नाम तो ले लेता है, नाम लेनेके बाद वह इस आध्यात्मिक-तत्त्वको भूल जाना चाहता है। परन्तु सत्यको कैसे भूला जा सकता है? सत्य तो सूर्य है, सूर्यपर कबतक पर्दा पड़ा रह सकता है? संसारमें झूठ भी चलता है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु झूठ कबतक चलता है? झूठ तबतक चलता है जबतक झूठको दुनियां सत्य

समझती है। जहा पता चला कि यह झूठ है वहा क्या वह एक क्षण भी टिकता है ? खोटा सिक्का बाजारमें तभीतक चलता है जबतक लोग उसे खरा समझते हैं । यह पता लगते ही कि यह खोटा है कोई उसे छूतातक नहीं। आत्म-तत्वका प्रकृतिमें उलझकर अनृतमें, झूठमें, मिथ्यामें उलझ जाना भौतिकवाद है, उसमेंसे निकलकर—'अनृतात्सत्य-मुपैति'—अनृतसे सत्यकी तरफ, मिथ्यासे यथार्थकी तरफ मुड जाना अध्यात्मवाद है ।

भौतिक-जगत्‌में जो स्थान प्रकाशका है, आध्यात्मिक-जगत्‌में वही स्थान सत्यका है। प्रकाशको ढका जा सकता है परन्तु उसकी किरणें फूट-फूटकर निकलती है। सत्यको भी ढका जा सकता है, परन्तु प्रकाशकी तरह सत्य भी फूट-फूटकर निकलता है । सत्य ही आत्म-तत्व है, आत्म-अनात्मका झगडा सत्य-अनृतका झगडा है, अंधेरे-उजेलेका झगड़ा है। प्रकाश भौतिक है, वह बुझ सकता है, परन्तु सत्य अभौतिक है, आध्यात्मिक है, वह ढक भले ही जाय, मिटता कभी नहीं है। तभी असत्यके घटाटोप खडा कर देनेपर भी सत्य उसमेंसे झाका करता है। क्या हम अपने जीवनमें नहीं देखते कि हर बातमें दूध-का-दूध और पानी-का-पानी झलक उठता है। जैसे प्रकाशका स्वरूप अपनेको प्रकाशित करना है, वैसे सत्य हर समय अपनेको प्रकाशित करनेके मार्गपर जा रहा है। रुकावटें आती हैं, इसे ढँकनेके लिये प्रकृति अपने आवरण फेंकती है, परन्तु सत्य उन सबको ठोकर मारता हुआ आगे बढा जाता है। 'सत्यमेव जयते नानृतम्' का घोष करनेवालोने योही कोई बात नहीं कह दी थी, उन्होने एक अमर और अटल तत्वकी घोषणा की थी ।

अस्तेय—

अध्यात्मवादकी तीसरी परखका नाम 'अस्तेय' है। भौतिकवाद

प्रकृतिसे परे, और प्रकृतिमें भी भोग-ऐश्वर्यसे परे कुछ नहीं देखता। ससारके भोग-ऐश्वर्य पैसेसे मिलते हैं, अत उसके लिये पैसा परमेश्वर है। पैसेका किसी तरहसे अपने पास ढेर लगा लेना—यह भौतिकवादका दर्शन है, शास्त्र है, सब-कुछ है। पैसा एक जगह जमा हो जाता है तो दूसरी जगह खाली हो जाती है, अमीर-गरीबकी समस्या उठ खडी होती है। आज लाखो है जिन्हें पता नहीं कि उनके पास जो सम्पत्ति है उसका क्या करें, करोडो है जिनके पास भरपेट खानेको भी नहीं। पैसा सब-कुछ है, इसलिये पैसेके लिये सब पागल फिरते है, हरेक अपने-अपने दायरेमें गठकतरा, चोर, डाकू और लुटेरा है। डाक्टर बढ रहे है, डाक्टरो के साथ बीमारी बढ रही है, वकील बढ़ रहे है, वकीलोंके साथ मुकदमे-बाजी बढ रही है; पुलिस बढ रही है, पुलिसके साथ अपराध बढ़ रहे है, हरेकका हाथ अपनी जेबमें नहीं, दूसरेकी जेब में है। हरेक ठग है, और हरेक ठगा जा रहा है। जीवनकी जो दिशा व्यक्तिकी है, वही समाजकी है। बडे-बडे देश, बडी-बडी जातियां एक-दूसरेसे छीना-झपटीमें पडी हुई है। जब बाकायदा लूटा जा सकता था तब लूटती थीं, जब लूटनेका अर्थ कुछ बुरा समझा जाने लगा तब लूटनेको 'राज करना' कहने लगीं, जब दूसरेपर राज करना भी बुरा समझा जाने लगा तब राज्यका विस्तार करनेके स्थानमें वे अपने 'प्रभावका क्षेत्र' विस्तृत करने लगीं। अपना जो-कुछ है उससे सतुष्ट न होकर दूसरेके पास जो-कुछ है, उसे हर उपाय से हडप लेनेकी प्रवृत्ति भौतिकवादी प्रवृत्ति है, इसे आर्य-सस्कृतिमें स्तेय, चोरी कहा गया है। आर्य-सस्कृतिके विचारकोंका कहना था कि भौतिक-वाद टिक नहीं सकता, जिस क्षण यह पांव गड़ानेकी कोशिश करता है उसी क्षण इसीमेंसे प्रतिक्रिया उत्पन्न होकर इसका नाश कर

देती है। भौतिकवाद एक परस्पर-विरोधी विचार है। क्या हम देख नहीं रहे कि भौतिकवादके पैसेके विचारने पूंजीवादको जन्म दिया, और पूंजीवादने ही अपनेको समाप्त कर देनेवाले समाजवादको जन्म दे दिया। पूंजीवादके पेटमेंसे समाजवादका जन्म ले लेना सिद्ध करता है कि यथार्थ सत्य भौतिकवाद नहीं, अध्यात्मवाद है। समता आध्यात्मिक सचाई है। आर्य-संस्कृति विषमताका नहीं, समताका पाठ पढाती है। भौतिकवादी संस्कृति जगह-जगह देखती है, कौन वस्तु मेरी नहीं तेरी है, जो तेरी है उसे किस तरह मेरी वनाया जाय; आध्यात्मिक संस्कृति जगह-जगह देखती है, कौन वस्तु तेरी है मेरी नहीं, जो मेरी नहीं उसे किस तरह तेरी वनाया जाय! इसीका नाम अस्तेय है। आज हम दूसरेकी वस्तुपर अधिकार जमानेके मंसूवे वांधते हैं, दूसरे की मेहनत-मजदूरीको मुफ्तमें या सस्तेमें लेना चाहते हैं—यह चोरी है। दूकानदार खरा पैसा लेकर खोटा माल देना चाहता है, अहलकार रिश्वत लेकर इन्साफ बेचना चाहता है, धर्म-गुरु शिष्योंसे दान-दक्षिणा लेकर उन्हें निरा बेवकूफ रखना चाहता है—यह सब चोरी है। इसी प्रकार अगर किसी देशके शासक प्रजासे टैक्स वसूल करके उसका ठीक हिसाब नहीं रखते, उसे ऐशो-आराममें, बड़ी-बड़ी तनख्वाहोंमें और फिजूलखर्चीमें जाने देते हैं तो वे भी चोर हैं। चोर कहलाना तो भौतिकवादी सभ्यतामें भी कोई नहीं चाहता—सब यह चाहते हैं कि चोरी कर लें परन्तु चोर न कहलायें। क्यों न कहलायें? इसलिये क्योंकि हमारी अन्तरात्माकी पुकार है कि विश्वका आधार-भूत तत्त्व स्तेय नहीं, अस्तेय है, छीना-झपटी नहीं, लेना-देना है। आवश्यकताओंको बढानेसे ही तो छीना-झपटी चलती है। अस्तेयका दूसरा अर्थ आवश्यकताओंको घटाना है। भौतिकवादी संस्कृतिका श्रीगणेश ही

ताओंको बढानेसे होता है। आवश्यकताएं हैं, उन्हें पूरा करनेके लिये पदार्थोंका उत्पादन होता है, उत्पादनके लिये विभाग है, विभाग कभी सम कभी विषम होता है, विषम विभाग होनेसे पूंजीवाद उत्पन्न हो जाता है—और फिर यह लम्बा-चौडा सिलसिला चल पड़ता है जिसमें कल-कारखाने, पूंजीपति-मजदूर, जरूरतसे ज्यादा पैदा हो जाना—ये सब समस्याएं उठ खडी होती हैं। आवश्यकताओंको बिल्कुल समाप्त भी नहीं किया जा सकता। मनुष्यकी कुछ-न-कुछ आवश्यकताएं तो हर समय बनी ही रहेंगी, परन्तु उस हालतमें, हरेक व्यक्तिकी आवश्यकताएं कम होनेके कारण स्तेयका, छीना-झपटीका दृष्टि-कोण नहीं रहेगा और इन समस्याओंकी जटिलता हट जायगी।

आर्य-संस्कृतिका विचार था कि मेरे पास दूसरेकी कोई वस्तु न रह जाय। इसीको उन्होंने ऋणका नाम दिया था। ऋण तीन तरहके थे—पितृ-ऋण, देव-ऋण, ऋषि-ऋण। रुपये-पैसेकी चोरी तो उनमें कहीं कोई भूलकर होती थी। खाने-पीनेकी चीजें जुटानेमें सब लोग दिन-रात नहीं लगे रहते थे, खाने-पीनेसे ऊंचा भी कोई काम है—इस बातको वे समझते थे, इसलिये सबको भरपूर खानेको मिलता था, फिर चोरी कैसे होती? उपनिषत्में अश्वपति कैकय कहते हैं—'न मे स्तेनो जनपदे'—मेरे राज्यमें कोई चोर नहीं। आज जब हरेक चोर बना हुआ है, ऐसी घोषणा हमें चौंका देती है, परन्तु चोरी तो जीवनके प्रति एक खास दृष्टि-कोणका परिणाम है। अगर आवश्कताओंको पूर्ण करना ही जीवनका लक्ष्य है, और भौतिक आवश्यकताएं ही आवश्यकताएं हैं, तब चोरी और छीना-झपटी नहीं होगी तो क्या होगा? आर्योंका दृष्टि-कोण यह नहीं था इसलिये उनके यहां रुपये-पैसेका कोई ऋण नहीं था। पैसेको वे इतना ही समझते थे जितना यह है, इससे ज्यादा नहीं, इसलिये

के लिये उनमें मारामारी नही होती थी। चन्द्रगुप्तके समय मैगस्थनीज भारत आया तब उसने देखा कि यहां लोग रातको ानोमें ताले लगाकर नही सोते थे। रातको वे दरवाजे खोलकर े थे और चादकी किरणोके सिवा दूसरा कोई मकानमें नही ता था। ऋण कौन-से थे ? माता-पिताने हमें जन्म दिया, हमें स्थाश्रम द्वारा अपनेसे बेहतर सन्तान ससारमें छोड़ जानी है, इस ार 'पितृ-ऋण' चुकाया जाता था; गुरुओने अपने आश्रमोमें कर हमें विद्या-दान दिया, हमें वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश करके ारोके बच्चोको भी विद्या-दान देना है, इस प्रकार 'देव-ऋण' चुकाया ता था; सन्यासियोने सब-कुछ त्यागकर संसारका भला किया, समें हमारा भी भला हुआ, यह हमारे प्रति उनका ऋण है, इस षि-ऋणको अपनी आयुमें संन्यासी बनकर चुकाया जाता था। ाना सब-कुछ चुकानेके बाद भी हमारे सिर किसीका कोई कर्जा न ; इसलिये पाच यज्ञोकी कल्पना की गई थी। यज्ञका अर्थ है—दान। ान ऋण थे, तो पांच यज्ञ थे, तीन रास्तोसे लेते थे, तो पांच रास्तो देते थे। भौतिकवादमें जीवनका लक्ष्य लेना-लेना है, अध्यात्मवादमें ीवनका लक्ष्य देना-देना है। आत्माका विकास लेनेमें नहीं देनेमें है, जोड़ने नहीं छोडनेमें है। यह ठीक है कि आत्मा प्रकृतिमें इतना बंधा पड़ा है ि उसे प्रकृति-जैसा बन जानेमें, लेनेमें, जोडनेमें ही आनन्द आता है, परन्तु ानेके बाद देनेमें, जोडनेके बाद छोड़नेमें, प्रकृतिमेंसे अपने खोये हुए ापको निकाल लेनेमें जो आनन्द और मस्ती आती है वह लेने-ही-लेने ा आनन्द और मस्तीसे बहुत ऊंची होती है—यही सिद्ध करता है कि ीश्वके विकासका तत्त्व स्तेय नहीं, अस्तेय है, भौतिक नहीं आध्या-त्मक है।

ब्रह्मचर्य—

अध्यात्मवादका चौथा तत्त्व 'ब्रह्मचर्य' है। भौतिकवाद संसारमें भोगके सिवा कुछ नहीं देखता, आर्य-संस्कृतिका अध्यात्मवाद भोगको त्यागकी तरफ जानेका साधन समझता है। संसारमें भोग है, ऐश्वर्य है—इनसे कौन इनकार कर सकता है, परन्तु क्या कोई भोग अन्ततक टिका है? विषयोंका स्वभाव आत्माको विषयमेंसे निकाल देना है। अच्छे-से-अच्छा भोजन मुखमें जाकर कुछ देर स्वादिष्ठ प्रतीत होता है, चबाते-चबाते उसका स्वाद चला जाता है, देरतक उसे मुंहमें रखा नहीं जा सकता—शक्कर भी तो देरतक मुहमें पडी रहे तो मीठी नहीं रहती। विषयोंका रस क्षणिक है, देरपा नहीं, इसलिये हमें विषयोंमें भटकनेके स्थानपर विषयोंमेंसे निकलना सीखना है, इन्द्रियोंको खुला छोड देनेके स्थानपर उन्हें वशमें करना, संयममें रखना सीखना है। प्रकृतिके विषय आत्म-तत्त्वको सांसारिक भोग-ऐश्वर्यमें बांधकर, तुच्छ, क्षुद्र पदार्थोंमें अटका देते है। वह इन्हींको अपना रूप समझने लगता है, इनसे एकात्मता स्थापित करने लगता है, इन्हींमें अहकार-बुद्धि उत्पन्न कर लेता है। इनसे हटकर, छोटेपनसे बडेपनकी तरफ चल देना, विषयोंमें अपने स्वरूपको खो देनेके स्थानमें आत्म-तत्त्वकी अपनी महान् सत्ताको पहचानना ब्रह्मचर्य है। 'ब्रह्म' का अर्थ है बड़ा, महान्, विशाल। 'चर्य' शब्द 'चर गति-भक्षणयो'—धातुसे निकला है जिसका अर्थ है, चलना, गति करना। ब्रह्म होनेके लिये, क्षुद्रसे महान् होनेके लिये, विषयोंके छोटे-छोटे रूपोंमेंसे निकलकर, आत्म-तत्त्वके विराट् रूपमें अपनेको अनुभव करनेके लिये चल पडना 'ब्रह्मचर्य' है। भौतिकवाद मनुष्यको अल्प बनाता है, तुच्छ और क्षुद्र बनाता है। जहा कहीं वह विषयरूपी मीठेकी छोटी-सी डली पड़ी देखता है वहीं चीटीकी तरह चिपक जाता है, उस छोटी-सी

डलीको वह सब-कुछ समझने लगता है, उसका रस चूसने लगता है। परन्तु चींटी भी तो चीनीके दानेके साथ कुछ देर उलझकर, उसका रस चूस-कर उसे छोड़ देती है, आगे निकल जाती है, मिठासके दूसरे दानेकी तलाश करती है। मनुष्य भी एक विषयको छोड़कर दूसरे विषयपर लपकता है, दूसरेसे तीसरेपर और इस प्रकार भौतिकवादमें सारी आयु लपकनेमें बिता देता है। अध्यात्मवादका कहना है कि संसारके विषय बोल-बोलकर अपनी तुच्छता जता रहे हैं, इनकी रचना ही इस प्रकारकी है कि ये खुद अपनी निस्सारता कह उठते हैं, इनकी यथार्थता इसीमें है कि ये अपना अनुभव कराय, विषयोंमेंसे आवाज निकल रही है—'नाल्पे सुखमस्ति भूमा वै सुखम्'—अल्पतामें सुख नहीं, महानतामें ही सुख है। जीवनके प्रति यह दृष्टि-कोण बन जाना 'ब्रह्म' अर्थात् बड़े होनेके मार्गपर चल पड़ना है—यही ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्यके इस विस्तृत अर्थके साथ इसका एक संकुचित अर्थ भी है। जो व्यक्ति महान् बननेके मार्गपर चलता है उसके लिये इन्द्रियोंको विषयोंमेंसे खींचकर उनपर संयम रखना, उन्हें अपने वशमें करना आवश्यक है। विषयोंमें ही तो 'अल्पता' है। उनमेंसे निकलना ही तो अल्पतासे निकलना, 'भूमा'में प्रवेश करना है, इसीका नाम 'अहं ब्रह्मास्मि' है—अर्थात् मैं छोटा नहीं हूं, ब्रह्म हूं—महान् हूं। इस दृष्टिसे ब्रह्मचर्यका विस्तृत अर्थ जहां महान् बनना है, वहां संकुचित अर्थ संयम करना है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्यके दो पहलू हैं—एक विचारात्मक, दूसरा क्रियात्मक। महान् बनना विचारात्मक पहलू है, यह ब्रह्मचारीका आदर्श है; संयमी बनना उसीका क्रियात्मक पहलू है, क्योंकि संयमी होकर, क्षुद्र बनानेवाले विषयोंमेंसे निकलकर ही, वह महान् बनता है। संयम शब्द भी बहुत विस्तृत है। आंख, कान, नाक, जिह्वा आदि जितनी इन्द्रियां हैं, वे अपना-अपना रस

ढूंढती हैं। आत्म-तत्त्व इनके छोटे-छोटे विषयोंमें खोया-खोया न फिरे, यह संयम है, यह ब्रह्मचर्य है, सिर्फ वीर्य-रक्षा ही ब्रह्मचर्य नहीं है। ब्रह्मचारीको दीक्षा देते हुए कहा जाता था, ज्यादा मत खाना, ज्यादा मत सोना, ज्यादा मत खेलना, ज्यादा कुछ मत करना। ब्रह्मचर्य शब्दका इन सब बातोंके लिये—संयमके लिये--विस्तृत अर्थोंमें प्रयोग होते हुए भी एक संकुचित अर्थमें भी प्रयोग होता था। सब विषयोंकी जड काम-वासना है। जितने विषय हैं सबका लक्ष्य इस वासनाको जगाना है। ब्रह्मचारीका मुख्य लक्ष्य इस वासनापर काबू पाना था। ब्रह्मचर्यका स्थूल, सर्व-साधारणकी भाषामें अर्थ था, काम-वासनापर आधिपत्य पा जाना। भौतिकवादी जगत् फ्रॉयडका नाम लेकर कह उठता है कि काम-वासना दबाये दबती नहीं, जितना इसे दबाया जाय, उतनी ही यह चमक उठती है, मानसिक-रोग उत्पन्न कर देती है, अत: यह मार्ग ग़लत है। ऐसी बात नहीं है। आजकलके मनोविश्लेषणवादी जो-कुछ कहते हैं वह यह है कि इच्छा दबाये दबती नहीं, अन्तश्चेतनामें जाकर और अधिक क्रियाशील हो जाती है, और भिन्न-भिन्न तौरसे मनको विक्षिप्त करती रहती है। परन्तु कौन-सी इच्छा? वह इच्छा जिसे हम अन्तःकरणसे तो बुरा नहीं समझते, हां, समाजके भयसे बुरा समझते हैं। कोई दूसरा जान न पाये, देख न ले--इसलिये उसे दबाते हैं, इसलिये नहीं दबाते क्योंकि हम अन्तःकरणसे उसे बुरा समझते हैं। ऐसी इच्छा जब दबती है तब अन्दर-अन्दर हम उसका मजा लेते हैं, बाहर उसे जाहिर नहीं होने देना चाहते। फिर वह इच्छा अनर्थ क्यों नहीं उत्पन्न करेगी, वह तो देगचीके ढक्कनके नीचे भापका जोर पकड रही है। आर्य-संस्कृतिके विचारक भी तो कहते थे—'वनेपि रागाः प्रभवन्ति योगिनाम्'—जंगलमें भाग जानेसे ही वासना नहीं चली जाती। अस्ली चीज़ अन्तःकरण है। जब हम अन्तःकरणसे

वासनाको बुरा समझकर उसे नष्ट कर डालते है, समाजके भयसे केवल उसे दबा नहीं देते, तब हम देगचीमेंसे पानी निकालकर बाहर फेंक देते हैं, भाप बनने ही नहीं देते जो जोर पकड़े। इसके अतिरिक्त फ्रॉयड भी तो यह नहीं कहता कि मनुष्य-जीवनमें ऊधम मचानेके लिये काम-वासनाको खुला छोड़ दिया जाय, वह भी तो यही कहता है कि इस वासनाका 'रूपान्तर' हो सकता है। इस दृष्टिसे विचार किया जाय तो भी ब्रह्मचारीका जीवन काम-वासनाके रूपान्तरणका जीवन था। जो हर समय शारीरिक तथा मानसिक श्रममें लगा रहेगा उसे काम-वासना कब आ पकड़ेगी? वर्तमान युगके आदित्य ब्रह्मचारी ऋषि दयानन्दसे किसीने पूछा, भगवन्! क्या आपको काम-भाव कभी नहीं सताता? उन्होंने उत्तर दिया, वह आता है, दरवाजा खटखटाता है, परन्तु मुझे कार्यमें लीन देखकर अपना-सा मुंह लिये लौट जाता है। अस्लमें यह वासना मनुष्यपर इतनी नहीं चढ़ी रहती जितना भौतिकवादी दृष्टि-कोणसे हम इसे सिरपर चढा लेते हैं। जहा चारो तरफ सिनेमामें गन्दे-गन्दे दृश्य कलाका नाम लेकर नवयुवकोंको दिखाये जाते हो, जहां प्रतिदिन रेडियोपर वेश्याओंद्वारा गीत सगीतके नामसे सुनाये जाते हो, जहां पाठ्य-पुस्तकोंमें कामुकता और विला-सिताकी बातें साहित्यके नामसे पढ़ाई जाती हो, वहां अगर कामदेव हमारे युवकोंके ठीक सिरपर चढकर उनकी चोटी पकड़कर बैठ जाय तो आश्चर्य ही क्या है? कौन पूछता है, हमारे बच्चोंका क्या बनता है, क्या बिगड़ता है। हम लेक्चरबाजी करते रहते हैं, इतना चिल्लाकर शान्त हो जाते हैं कि बच्चोंको सदाचारी बनना चाहिए। आर्य-संस्कृतिने जातिके बच्चोंको सदा-चारी बनानेका एक कार्य-क्रम बनाया था, और उसे जीवनमें घटाया था। सात वर्षका हरेक बच्चा एक योग्य गुरुकी देख-रेखमें रख दिया जाता था, ऐसा गुरु जो अनुभवी होता था, जीवनकी ऊंच-नीचमेंसे गुजर चुका

होता था, जो सब काम-काज छोडकर वानप्रस्थी बनकर सिर्फ शिक्षाके काम में जुट जाता था। बालकको 'विद्यार्थी' नहीं कहा जाता था, उसे 'ब्रह्मचारी' कहा जाता था, हर क्षण उसे एक ही विचार होता था—उसे ब्रह्मचारी बनना है, अपने आचारको बनाना है, इन्द्रियोपर काबू पाना है, आराम के नहीं तपस्याके दिन काटने है। ऐसा बालक जब किसी देवीको देखता था तब उसे बहिन या मा कहकर पुकारता था—'मातृवत् परदारेषु'—यह आर्य-संस्कृतिका नारा था। आज हमारे बालक जब किसी लडकीको देखते है तो चुहुलबाजी करते है। क्यों न करें, भौतिकवादने उनके दिमागमेंसे इस विचारको निकाल दिया है कि सब लडकिया उनकी बहिनोके समान है। रावण जब सीताको ले भागा, सीता रास्तेमें अपने कानके, पैरके आभूषण नीचे फेंकती गई। सुग्रीवके हाथ वे आभूषण पड़ गये। सुग्रीवने वे आभूषण रामचन्द्रजीको देकर पूछा, क्या ये आपकी सीताके है ? रामने लक्ष्मणके हाथमें उन्हें देते हुए कहा, भाई लक्ष्मण ! पहचानो, ये आभूषण सीताके ही है क्या? लक्ष्मणने क्या उत्तर दिया? रामायणमें वाल्मीकि ऋषि लिखते है, लक्ष्मणने कहा—'नाह जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले, नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्'—मै सीता माताके मुखके आभूषण को तो नहीं पहचानता, हा उनके पावोंके नूपरोको पहचानता हूं, क्योकि मै नित्य-प्रति उनके चरणोकी वन्दना किया करता था। यह बात भले ही कविने अपनी तरफसे कही हो, परन्तु आर्य-संस्कृतिके आदर्शको तो सूचित करती है। जब जीवनका दृष्टि-कोण ही भौतिकवादी हो तब मां-बहिन की दृष्टि कहा रह सकती है?

आज इस बातकी बड़ी जबर्दस्त चर्चा है कि सन्तति-निरोध होना चाहिये, जन-संख्या बहुत बढ़ती जा रही है, खानेवाले इतने है कि सबका पेट भरने जितना अनाज नहीं पैदा हो सकता। कृत्रिम उपायोसे सन्तति-नियमनका

प्रचार कैसे हो, इसपर सम्मेलन बुलाये जा रहे है, इन साधनोका इस्तेमाल सिखानेके लिये क्लिनिक खोले जा रहे हैं। ये सब विषय-वासनाको और भड-कानेकी बातें हैं। यह क्यो समझा जाता है कि मनुष्य सयमसे नहीं रह सकता, वह अपनेको काबूमें नहीं रख सकता, कामदेवका भूत उसके सिरपर चढा-ही-चढा रहता है? यह इसलिये क्योकि वातावरण चारो तरफ इस एक वासनासे भरा पड़ा है, एक-एक ईंट और एक-एक रोडेके नीचे कामुकताके विचार मनुष्यको परास्त करनेके लिये कमर बांधकर बैठे हैं। ऐसी हालतमें काम-वासनाको कौन रोके, ब्रह्मचर्यका कौन नाम ले? हमारा भौतिकवादी समाज काम-वासनाको बढा रहा है इसलिये इस वासनाका मुकाबिला करने के स्थानमें इस बातको खुली छूट दे रहा है, इस वासनाके अवश्यभावी परिणामोंसे कृत्रिम उपायोका सहारा लेकर बचना चाहता है। कृत्रिम उपायो से सन्तति-नियमन तो हो जायगा, परन्तु उनके निर्बाध प्रचारसे मनुष्यको पथ-भ्रष्ट न होने देनेकी अब जो थोड़ी-बहुत रोक-थाम बनी हुई है वह हट जायगी, और उच्छृंखलता और विलासिता अपना नंगा नाच नाचने लगेगी। एक बीमारी दूर होगी, उससे भयंकर बीमारी और उठ खड़ी होगी, ऐसी बीमारी जो फिर किसी डाक्टरके इलाजसे दूर न होगी। आर्य-संस्कृति में गृहस्थके लिये ब्रह्मचारी रहनेको कहा गया है। ब्रह्मचर्य-पूर्वक जो गृहस्थ-धर्मका पालन करेगा उसके सामने सन्तति-नियमनकी कोई समस्या ही नहीं होगी। परन्तु हां, यह ठीक है कि सारे वातावरणको कामुकतासे भर देने के बाद ब्रह्मचर्य-पूर्वक गृहस्थ-जीवन बितानेकी शिक्षा नहीं दी जा सकती। आर्य-संस्कृतिकी दृष्टिसे सन्तति-नियमनका प्रश्न समाजके सम्पूर्ण वातावरण को पलट देनेका प्रश्न है, संयमकी लहर चला देनेका, ब्रह्मचर्यकी भावना को जागृत कर देनेका प्रश्न है। माता-पिताके दिमाग़में यह बात घर कर जानेकी जरूरत है कि उन्हें अपने पीछे अपनेसे उत्तम सन्तानको

छोड जाना है, ऐसी संतान जो गधीकी दस सन्तानोंके समान न होकर शेरनीकी एक सन्तानके समान हो। 'एकेनैव सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भयम्, सहैव दशभि पुत्रै. भार वहति गर्दभी'--शेरनीकी एक सन्तान हो वह आरामसे सोती है, गधीके दस सन्तानें हो, सब भार ढोती है। इस भावनाको लेकर ही तो आर्य-संस्कृतिने संस्कारोंकी प्रथाको जन्म दिया था--ऐसी प्रथा जिसका उद्देश्य ही आध्यात्मिक दृष्टि-कोणसे संतति-नियमन या नव-मानवका निर्माण था। कृत्रिम उपायोंसे सन्तति-नियमनकी इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी ब्रह्मचर्यकी इस आध्यात्मिक-भावनाको जगानेकी कि जो सन्तान मानव-समाजमें जन्म ले वह वैसी हो जैसी हम चाहें। ब्रह्मचर्यका यह व्यापक दृष्टि-कोण आध्यात्मवादी दृष्टि-कोण है, भौतिकवादका भी वास्तविक भला इसीमें है, जिस रास्तेपर वह चला जा रहा है उसमें नहीं।

अपरिग्रह--

आत्म-तत्त्वको प्रकृत्तिके बन्धनमेंसे छुडानेवाला पांचवा तत्त्व 'अपरिग्रह' है। 'परि'का अर्थ है चारो तरफसे, 'ग्रह'का अर्थ है ग्रहण करना, पकड़ना। 'परिग्रह'का अर्थ हुआ किसी चीजको कसकर चारो तरफसे पकड़ लेना; 'अपरिगह'का अर्थ हुआ, पकडको ढीला कर देना, छोड देना। भौतिकवाद क्योंकि भोग-ऐश्वर्यको ही जीवनका चरम लक्ष्य मानता है इसलिये यह संसारको पकड़कर बैठ जाता है। ऐसा पकड़कर बैठता है कि यह खुद भले ही टूट जाय, इसका भोग न टूटे। परन्तु क्या यह हो सकनेवाली बात है? कौन-सा भोग है जो संसारमें अन्ततक टिक सके। भोगकी रचना ही ऐसी है कि भोगनेके बाद उसमेंसे मनुष्य हट जाता है, नहीं हटता तो भोग से ही घृणा हो जाती है। भौतिकवाद इस प्रक्रियाको देखता हुआ भी भोगसे

चिपटा हुआ है, इसे छोड़नेका नाम नहीं लेता। यह आत्म-तत्त्वका नियम है—भोगो और भोगकर स्वय हट जाओ। अध्यात्मवादमें इसीको 'अपरिग्रह' कहा है। हम ससारमें आये, ससार भोगनेके लिये है, हमने इसे भोगा—परन्तु ससारसे हमें जाना भी तो है, यह सदा टिकनेकी जगह तो नही। ससारमें हमारा आना जितना बडा सत्य है, ससारसे हमारा जाना भी तो उतना ही बडा सत्य है। जीवनकी पूर्णता इसीमें है कि इन दोनो सचाइयोका मेल किया जाय, समन्वय किया जाय। आर्य-सस्कृति संसारके सुख-ऐश्वर्यको भोगनेसे मना नहीं करती थी, परन्तु भोगते हुए भोगमें डूब नही जाती थी—भोगके साथ त्यागको स्मरण रखती थी, क्योंकि संसारकी अन्तिम सचाई भोग नहीं, भोगमेंसे गुजरकर, त्यागकी तरफ जाना है, प्रवृत्ति नहीं, प्रवृत्ति-मेंसे गुजरकर, निवृत्तिकी तरफ जाना है। जब ससार छोड़ना है तब खुद छोडें, या जबर्दस्ती, छुडवानेसे छोडें—यही तो सोचनेकी बात रह जाती है, छोडें या न छोडें—यह बात तो नहीं रहती। आर्य-सस्कृतिने अध्यात्मवादके इस नियमको जीवनमें व्यापक रूप दे दिया था—चारों आश्रमोंकी व्यवस्था इसी सत्यको लेकर की गई थी। संसारके सब भोग त्यागके लिये है, सब प्रवृत्तियां निवृत्तिके लिये है—यही अपरिग्रह वाद है। आज हम छोटी-छोटी चीजोंसे ऐसे चिपटते है मानो उन्हींमें हमारे प्राण अटके है, उन्हींमें हमारा सर्वस्व है। कोई किसी [illegible] हो जाता है, वह स्वयं उस पदको नहीं छोड़ता जबतक उससे छुड़वा नहीं दिया जाता, हम घरबारमें अपने बाल-बच्चोंके [illegible] बनकर तबतकके लिये बैठ जाते हैं जबतक मृत्यु हमें [illegible] कर उठाकर नहीं फेंक देती।

जरूरतके भी हर चीजको लेनेकी कोशिश करते हैं। जब हर चीजको लेना है, तो हर उपायसे लेते हैं। जितना अपनी आवश्यकताके लिये जरूरी है उतना संग्रह करना, उससे अधिक संग्रह न करना 'अस्तेय' है। हर चीजपर हाथ मारना, जरूरी हो-न हो, हमें तो लेना-ही-लेना है—यह 'स्तेय' है। स्तेय-अस्तेयकी इन दो प्रवृत्तियोंके बाद एक तीसरी प्रवृत्ति है। समय आता है जब जो-कुछ हमने अपनी आवश्यकताके लिये बटोरा है, संग्रह किया है, उसकी भी आवश्यकता नहीं रहती, वह काम दे चुका होता है। उस समय उसे छोड देना, उस समय उससे चिपटे न रहना 'अपरिग्रह' है, न छोडना, उस समय भी उससे चिपटे रहना 'परिग्रह' है। जरूरतसे ज्यादा न लेना 'अस्तेय' है, जरूरतके लिये जो-कुछ लिया है उसे भी समयपर छोड देना 'अपरिग्रह' है। भौतिकवादकी आधारभूत भावना 'परिग्रह' है। हम हर चीजको पकडना चाहते हैं, लेना चाहते हैं। पकडते-पकडते जिस चीजकी हमें जरूरत नहीं उसे भी पकडकर बैठ जाते हैं। 'परिग्रह' बढते-बढते 'स्तेय'का रूप धारण कर लेता है। अध्यात्मवादकी आधार-भूत भावना 'अपरिग्रह' है। इसमें, जिन चीजोंकी हमें जरूरत नहीं उन्हे लेनेका तो हम नाम ही नहीं लेते, 'अस्तेय'से तो हम शुरू करते हैं, परन्तु छोडते-छोडते जिन चीजोंकी हमें जरूरत थी उन्हें भी ठीक समयपर अपनी इच्छासे छोडकर अलग हो जाते हैं। 'अस्तेय'का चरम लक्ष्य 'अपरिग्रह' है, 'अस्तेय'से—आवश्यकताओंको घटानेसे हम शुरू करते हैं, 'अपरिग्रह'से—आवश्यकताओंको बिलकुल तिलाजलि देनेसे हम समाप्त करते हैं। दूसरेकी चीजको छोडना 'अस्तेय' है, अपनी चीजको भी छोड देना 'अपरिग्रह' है। वानप्रस्थ और सन्यास अपरिग्रहके मार्गपर चलनेके ही तो आश्रम थे। हर हालतमें अध्यात्मवादका लक्ष्य लेना नही देना है, पकड़ना नहीं छोडना है, डूबना नहीं तैरना है, कमर टेककर बैठ जाना नहीं मुकाबिला

करना है, प्रकृतिपर विजय पाकर आत्म-तत्त्वके विकासके मार्गको कांटोंसे शून्य कर देना है।

सदियां गुज़र गईं जब अध्यात्मवादके इन पांच तत्त्वोंकी घोषणा महर्षि पतजलिने योग-दर्शनमें की थी। यम-नियमके नामसे जिन दस साधनोंका वर्णन योग-दर्शनमें किया गया था उनमेंसे---'अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'—ये पाच वे ही अध्यात्मिक तत्त्व थे जिनका वर्णन हमने अभी किया। महात्मा बुद्ध अपने शिष्योंको दीक्षा देते हुए जो दस 'आदेश' देते थे वे यही यम-नियम थे। यहूदियोंमें भी कथानक प्रचलित है कि जिहोवा ने मूसाको मौंट सेनाईपर बुलाकर पत्थरकी दो पट्टियां दीं जिनपर दस आज्ञाएं (Ten Commandments) लिखी हुई थीं। वे दस आज्ञाए यही यम-नियम थे। हज़रत मसीहने पर्वतपर खड़े होकर उपदेश दिया था जिसे 'सरमन ऑन दी मौंट' (Sermon on the Mount) कहा जाता है। इसमें भी यम-नियमोंकी व्याख्याके अतिरिक्त कुछ नहीं। संसारके धर्म किन्हीं बातोंमें आपसमें लडते हों परन्तु आर्य-सस्कृतिके इन मूल-तत्त्वोंके सामने सब सिर झुकाते हैं। धर्म तो अलग, भौतिकवाद भी इन सचाइयोंके सामने मूक होकर खडा रह जाता है, वह भी इनकी यथार्थता से इन्कार नहीं कर सकता। ये वे तत्त्व हैं जो जितने दबाये जाते है उतने उभरते हैं। तेल पानीकी सतहपर उड़ेल दिया जाय, तो क्या वह नीचे बैठ जाता है? वह ऊपर उठता है, पानीकी सतहपर चमकने लगता है। ये पाचों तत्त्व भौतिकवादके इस विशाल विश्वरूपी समुद्रकी किसी भी निचली-से-निचली तहमें क्यों न दबा दिये जाय, ये दबते नहीं, ऊपर तैर आते हैं, सबको दीखने लगते हैं। हिंसा अहिंसाको, अनृत सत्यको, स्तेय अस्तेयको, अब्रह्मचर्य ब्रह्मचर्यको, परिग्रह अपरिग्रहको दबाते हैं, परन्तु सब रुकावटोंको तोडकर हिंसामेंसे अहिंसाकी आवाज़ आ रही है, अनृतके पीछे

से सत्य चमक रहा है, स्तेयमेंसे अस्तेय, अब्रह्मचर्यमेंसे ब्रह्मचर्य, परिग्रहमें
अपरिग्रह आगे बढते चले आ रहे है। भौतिकवाद भी देख रहा है कि
ये पाचो आध्यात्मिक-तत्त्व ऐसे उभरते आ रहे है जैसे कोई पैनी चीज
सब रुकावटोको, आवरणोको, विघ्न-बाधाओंको चीरती-फाड़ती बाह
निकलती आ रही हो।

हिमालयकी उन गुफाओमेंसे जहा कभी तपस्वीलोग भौतिकवाद
डूबी हुई सतप्त दुनियाको आध्यात्मिक शान्तिका सदेश दिया करते थे
आज भी, एक-दूसरेके रुधिरकी प्यासी, बावली दुनियाके लिये एक गूज
सुनाई दे रही है। मारनेके स्थानमें मरना सीखो, मक्कारीके स्थानमें
ईमानदारी सीखो, लेनेके स्थानमें देना सीखो, उच्छृंखलताके स्थानमें
सयम सीखो, फसनेके स्थानमें निकलना सीखो, प्रकृतिकी चाकाचौंधमें
अपनेको खो देनेके स्थानमें उसमेंसे आत्म-तत्त्वको समेटना सीखो, मशीन
बननेके स्थानमें मनुष्य बनना सीखो—'तेन त्यक्तेन भुजीथा' को याद करो,
कांचके टुकडोको मोती मत समझो, कागजके गुलदस्तेको अस्ली गुलाबके
फूल मत समझो, नकलीको असली मत समझो। आज भी यह सन्देश
आसमानमें लिखा है और पूर्वसे बहनेवाली हवामें गूज रहा है—
देखनेवाले देखते है, और सुननेवाले सुनते है।

[१२]

उपसंहार

भौतिकवाद तथा अध्यात्मवादका समन्वय--

हमने देखा कि आर्य-सस्कृतिका दृष्टि-कोण कोरा आध्यात्मिक दृष्टि-कोण नहीं था। कोरे आध्यात्मिक से हमारा अभिप्राय है ऐसा दृष्टि-कोण जिसमें भौतिकवादको सर्वथा हेय दृष्टिसे देखा जाता हो। आर्य-सस्कृतिका दृष्टि-कोण वर्तमान प्रचलित विचार-धाराकी दृष्टिसे एक वैज्ञानिक दृष्टि-कोण था। आजकलके विचारक जो-कुछ दीखता है उसको सत्य मानकर चलना अधिक युक्तियुक्त समझते है, इसे वे व्यावहारिक-दृष्टि कहते है, आर्य-सस्कृतिके विचारक भी जो-कुछ दीखता है उसे सत्य मानकर चले थे, व्यावहारिक-दृष्टिसे ही जीवनकी समस्यापर सोचते थे। ससार सत्य है—यह हमें अनुभव से दीखता है। आज जगत् है- और कल जब हम सोकर उठे तो जगत्का कहीं पता ही नहीं—ऐसा तो नहीं होता। लाखो करोडो सालोंसे यह विश्व अपनी नाना-प्रकारकी विभूतियोके साथ चला आ रहा है—इसे मिथ्या कैसे मानें ? परन्तु व्यावहारिक-दृष्टिसे यह भी सत्य है कि यह ससार और इसके विषय अन्ततक टिकनेवाले नहीं। आज जो वस्तु हमारे चित्तको लुभाती है, जिसके विना हम रह नहीं सकते, कल उसे हम विल्कुल भूल जाते है, उसकी तरफ़ देखने को भी जी नहीं चाहता। जिन विषयोंके प्रति हमारा खिचाव होता है उन्हींके प्रति हम उपराम हो जाते है।

यह विरोध-सा दीखता है, परन्तु इस विरोधका कारण है। इसका कारण यही है कि यद्यपि संसार सत्य है, इसके विषय सत्य हैं, तथापि जब हम संसारको पूर्ण-सत्य मानकर इसके विषयोंमें रम-रम जाते हैं, इतना रम जाते हैं कि इससे परे जो-कुछ है उसे भूल जाते हैं, तब यह संसार असत्य हो जाता है, मिथ्या हो जाता है, तब विषयोंमें अपने-आपेको खो देने-वालेके सामने यह सत्य-संसार ही अपनी असत्यता, निस्सारता और मिथ्यात्व खोलकर रख देता है। कौन है जो संसारके विषयोंमें रमनेके बाद उनसे उपराम नहीं हो जाता, उनसे लगावके बाद अलगाव नहीं अनुभव करता। संसारसे लगावको जैसे हम अनुभव करते हैं, वैसे इससे अलगाव को भी हमी अनुभव करते हैं। इस दृष्टिसे भौतिकवाद भी सत्य है, अध्यात्मवाद भी सत्य है—परन्तु पूर्ण-सत्य न भौतिकवाद है, न अध्यात्म-वाद है, पूर्ण-सत्य भौतिकवाद और अध्यात्मवादका समन्वय है। व्यापक दृष्टि तो वही है, जो अधूरी नहीं, पूरी सचाईको देखे, और पूरी सचाई है—संसारका सत्य होना, मनुष्यका संसारके भोगके लिये लालायित हो उठना, उसके बाद संसारका असत्य प्रतीत होने लगना, और संसार को भोग लेनेके बाद संसारसे उपराम हो जाना। यही सत्य दृष्टि है, व्याव-हारिक दृष्टि है—ऐसी दृष्टि जो हर-एकको अपने प्रतिदिनके व्यवहारमें अपने अनुभवमें आती दीख पड़ती है।

यह संसार जो सत्य प्रतीत होता है, कुछ देरके बाद असत्य क्यों प्रतीत होने लगता है, दुनियांको भोगनेका परिणाम दुनियांसे विरक्ति क्यों हो जाती है? इसके दो कारण हैं। एक बाह्य कारण है, दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य कारण तो यह है कि संसारकी सारताके पीछे असारता छिपी पड़ी है, और जब हम संसारको सत्य मानकर चलने लगते हैं तब वह धीरे-धीरे प्रकट होने लगती है। जो उत्पन्न हुआ है वह समय आनेपर नष्ट

हो जाता है—शस्य, वनस्पति, कीट-पतग, पक्षी, पशु, मनुष्य सभीमें उत्पत्ति और विनाशका एक अटल नियम है। ससारकी हर वस्तुमें क्षय है, नाश है, कोई वस्तु अपने मोहक रूपमें शाश्वतकालतक टिकनेवाली नहीं है। ससारके सुन्दर रूपको देखकर उसकी तरफ राग पैदा होता है, उस सुन्दरताको धीरे-धीरे नष्ट होते देखकर उससे विराग उत्पन्न हो जाता है। इस वाह्य कारणके अतिरिक्त विषयोसे उपरतिका दूसरा कारण आभ्यन्तर है। इच्छाकी तृप्तिके अनन्तर अनिच्छा, प्रवृत्तिके वाद निवृत्ति, भोगके बाद त्याग—यह मानसिक रचनाका अनुल्लघनीय नियम है। कोई खाना खानेके बाद फिर झट-से खाना खाने नहीं बैठ जाता, भरपेट पानी पीनेके बाद फिर झट-से पानी पीने नहीं लगता। भूख मिट जानेके कुछ देर बाद फिर भूख लगती है, प्यास बुझ जानेके कुछ देर बाद फिर प्यास लगती है, इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वैराग्य के बाद फिर राग उत्पन्न होना, ससारसे मोह छूट जानेके बाद फिर मोह उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। भूख-प्यास भौतिक है, उनका शरीरसे सबध है, वे लगती है, मिटती है, कुछ देर शांत रहनेके बाद फिर लगती है, उनका बार-बार लगना ही उनका नियम है; राग-मोह-ममता-प्रवृत्ति आध्यात्मिक है, उनका शरीरसे नहीं मनसे, आत्मासे सबंध है, रागके बाद वैराग्य, मोहके बाद विमोह, ममताके बाद ममताका नाश, प्रवृत्तिके बाद निवृत्ति—यही आध्यात्मिक नियम है। यह हो सकता है कि रागके बाद वैराग्य आये, कुछ देरतक वैराग्य टिके, और उसी वस्तुके लिये फिर राग, फिर प्रवृत्ति जाग उठे। परन्तु यह परखा हुआ आध्यात्मिक नियम है कि पहली वारका राग, पहली वारका मोह, पहली वारका आकर्षण जितना प्रवल होगा, दूसरी वारका उतना प्रबल नहीं होगा, दूसरी वारका जितना प्रवल होगा, तीसरी वारका

उतना प्रबल नहीं होगा, एक ही वस्तुके प्रति राग उत्तरोत्तर निर्बल होता जायगा, क्षीण होता जायगा, धीरे-धीरे मिटता जायगा। हां, यह हो सकता है कि रागके बाद एक वस्तुके लिये वैराग्य उत्पन्न हो जाय, परन्तु दूसरी वस्तुके लिये राग उत्पन्न हो जाय, उतना ही प्रबल राग जितना उस वस्तुके लिये हुआ था जिसके प्रति अब वैराग्य उत्पन्न हो गया है। परन्तु धीरे-धीरे वही बात फिर इसके साथ होने लगेगी, यह क्या और वह क्या, प्रत्येक भौतिक-पदार्थके साथ ऐसा ही होता है। जब प्रत्येक भौतिक-पदार्थके साथ रागके पीछे वैराग्य आना जरूरी है तब यह कह देनेमें कोई अत्युक्ति नहीं कि भूखके कुछ देर बाद भूख भले ही लगे, परन्तु राग-मोह-ममतासे होते-होते अन्तमें वैराग्य और त्याग उत्पन्न होना अवश्यम्भावी है। एक रागके बाद जब भी दूसरा राग होगा, वह अगर किसी प्राकृतिक विषयके साथ होगा तो उसका अन्त वैराग्य अवश्य होगा। जिस एक विषयके प्रति राग उत्पन्न हुआ है उसी विषयके प्रति वैराग्य भी उत्पन्न हो जायगा, जिसके प्रति आकर्षण है उसीके प्रति उदासीनता भी उत्पन्न होगी। रागके बाद वैराग्य, प्रवृत्तिके बाद निवृत्ति, भोगके बाद त्याग—इस नियमको कोई टाल नहीं सकता। कोई भी भौतिक पदार्थ होगा उसके साथ यही नियम घटता चला जायगा।

आत्मिक-जगतमें इस प्रकारके नियमका होना क्या सिद्ध करता है? हम एक चीजमें रस लेते है, कुछ देर वह वस्तु हमारी तृप्तिका साधन रहती है, हम उसीमें एकाग्र हो जाते है, तन्मय हो जाते है, उसीमें लीन हो जाते है। परन्तु कुछ देर बाद हम अनुभव करने लगते है कि वह वस्तु अब हमारी तृप्तिका साधन नहीं रही, वह बिल्कुल एक खोखली-सी, नीरस वस्तु है, हम उसे छोड आगे, किसी दूसरी वस्तुकी, तृप्तिके किसी दूसरे साधनकी तलाशमें निकल पडते हैं। मनुष्यका मन इसी प्रकार

एकसे दूसरे और दूसरेसे तीसरे पदार्थकी खोजमें भटकता फिरा करता है। क्या यह भटकना यह सिद्ध नहीं कर रहा कि ससारके पदार्थ मनुष्यको अपने पास खींच-खींचकर इसलिये बुलाते है कि उसके सामने अपनी असलीयतको, अपने यथार्थ-स्वरूपको खोलकर रख दें, और उसके कानमें चुपकेसे कह दें कि तेरी आत्मिक-प्यास ससारके विषयोमें पडे पानीके एक-एक बूदसे नहीं बुझेगी, इसे बुझाना है तो आगे देख, प्रकृतिसे आगे, प्रकृतिके विषयोंसे आगे—उस तरफ जहासे ये बूदें आती है, जो इन बूदोका आदिस्रोत है, इनका भडार है। आत्मामें अनन्त, अखंड आनन्दको पानेकी एक अमिट चाह है—इससे कौन इन्कार कर सकता है ? उस चाहकी पूर्तिके लिये ही तो यह मनुष्य ससारके विषयोमें जगह-जगह अटकता है। इन विषयोमें वह चाह पूर्ण नहीं होती इसीलिये तो कुछ देर भटकनेके बाद यह ऐसी वस्तुको जिसपर इसका जीना-मरना अवलम्बित था छोडकर आगे चल देता है। अगर यह बात न हो तो क्या कारण है कि प्रवृत्तिके बाद निवृत्ति अवश्य आती है, रागके बाद वैराग्य अवश्य आता है, बडे-से-बडे रागी, भोगी और विलासीको भी आता है। यह नहीं हो सकता कि आत्माका इस प्रकार भटकना सदा भटकनेके लिये ही है, यह भकटना एक ऐसी घुमरघेरी में पड जाना है जिसका कोई ओर-छोर नहीं। विश्वकी रचना ऐसी नहीं है। प्यास है तो उसे बुझानेके लिये पानी मौजूद है, आख है तो देखनेके लिये सूर्य मौजूद है, अनन्त सुखकी, आनन्दकी चाह है, तो वह चाह पूरी होनी ही चाहिये, इस खोजका कोई अन्त होना ही चाहिये—यह नहीं हो सकता कि यह चाह चाह ही बनी रहे, यह खोज खोज ही बनी रहे, भटकना भटकना ही बना रहे, सृष्टिकी रचनामें ऐसा कुछ भी नहीं है जो इस प्रकारके निराशाके दृष्टि-कोणकी पुष्टि करे।

आर्य-संस्कृतिके जिस दृष्टि-कोणका हमने अभी वर्णन किया उसका विश्लेषण किया जाय तो निम्न बातें उसमें आ जाती हैं :—

(१) यह संसार सत्य है, यह मनुष्यके भोगके लिये रचा गया है—मनुष्यके लिये यह कर्म-भूमि है, कर्म-क्षेत्र है।

(२) संसार सत्य है पर साथ ही असत्य भी है, कोई वस्तु यहां टिकती नहीं, अस्तिका अन्त नास्ति है, उत्पत्तिका अन्त विनाश है, जो आज है वह कालान्तरमें नहीं है।

(३) संसार सत्य है, सार-युक्त है, भोगके लिये रचा गया है इसलिये प्रवृत्ति-मार्ग, भौतिकवाद—यह ग़लत नहीं, सही रास्ता है।

(४) परन्तु संसारकी हर वस्तु नाशकी तरफ बढ़ रही है, किसी वस्तुमें अनन्त, शाश्वत सुख नहीं, इसलिये निवृत्ति-मार्ग, अध्यात्मवाद—यह भी सही रास्ता है।

(५) ऐसी अवस्थामें न केवल प्रवृत्ति-मार्गको ही सही कहा जा सकता है, न केवल निवृत्ति-मार्गको ही सही कहा जा सकता है। दोनों मार्ग अलग-अलग एकांगी मार्ग हैं, सर्वांगीण मार्ग वह है जिसमें दोनोंका समन्वय हो।

(६) परन्तु समन्वयमें भी भोग पहले है, त्याग पीछे, प्रवृत्ति पहले है, निवृत्ति पीछे। भोगके बाद त्याग है, त्यागके बाद भोग नहीं, प्रवृत्तिके पीछे निवृत्ति है, निवृत्तिके पीछे प्रवृत्ति नहीं।

(७) इस सबके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि प्रवृत्ति निवृत्तिकी तरफ ले जानेका साधन है, भोग त्यागकी तरफ संकेत करता है, संसारके विषयोंकी निस्सारता किसी अनन्त, शाश्वत सुखके स्रोतकी सत्ताकी तरफ अंगुली उठाकर कह रही है—इधर नहीं, उधर जाना है, इसे नहीं, उसे पाना है।

जो बातें हमने कहीं उनकी सत्यतासे कोई इन्कार नहीं कर सकता—न इनसे भौतिकवादी इन्कार कर सकता है, न अध्यात्मवादी। ससारके प्रति व्यावहारिक दृष्टि-कोण यही है। कोरा भौतिकवादी सच्चाईके एक पहलूको लिये खडा है, कोरा अध्यात्मवादी भी सच्चाईके दूसरे पहलूको लिये खडा है। भौतिकवादी इस बातसे इन्कार नहीं कर सकता कि ससार अनित्य है, नश्वर है, अध्यात्मवादी इस बातसे इन्कार नही कर सकता कि संसार सत् है, और सब कारोबार इसे सत् मानकर ही चलते हैं। ऐसी अवस्थामें व्यावहारिक तथा व्यापक-दृष्टि तो वही हो सकती है जो भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद दोनोको लेकर चले, दोनो का समन्वय करे। आर्य-सस्कृतिकी दृष्टि यही है, और इस सस्कृतिके विचारकोने इसी दृष्टिको लेकर जीवनके हर पहलूपर विचार किया है।

आर्य-सस्कृतिका आधिभौतिक उन्नतिका चित्र—

इस दृष्टिको आधार बनाकर जिस सभ्यताका उदय हुआ उसका स्वरूप क्या था? आर्य-सस्कृतिमें सब प्रकारकी भौतिक-समृद्धिकी कामना की जाती थी, सुख-ऐश्वर्यके लिये, ससारके प्राकृतिक वैभवके लिये दिल खोलकर प्रयत्न होता था। तभी तो राष्ट्रके उत्थानके लिये यजुर्वेदमें जो प्रार्थना की गई थी उसमें कहा गया था—

'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्,
आ राष्ट्रे राजन्य शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्,
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुसप्ति पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठा. सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्,
निकामे निकामे न पर्जन्योऽभिवर्षतु फलवत्यो न. ओषधय. पच्यन्ताम्,
योगक्षेमो न कल्पताम्'।

——राष्ट्रमें तेजस्वी ब्राह्मण हो, शूरवीर क्षत्रिय हो, भर-भरकर दूध देनेवाली गौएं हो, भारी-भारी भार ढोनेवाले बैल हो, सरपट दौडनेवाले घोडे हो, गांव तथा नगरमें अपनी बुद्धिके लिये मानी जानेवाली देवियां हो, यजमानके युवा, वीर पुत्र हो, जो जहां जाय विजयका डंका बजाते जाय, रथोंपर सवारी करें, सभाओंमें भाषण दें, जिस जगह हम चाहे वहां बादल बरसें, वनस्पतियोंमें पके हुए फल लदे हो, हम सबका योग-क्षेम हो, कल्याण हो, हम सबकी सब तरहकी समृद्धि हो ।

'धर्म'-'अर्थ'-'काम'-'मोक्ष' की चतुःसूत्री——

भौतिक-समृद्धिका इस तरहका उनका सपना था । परन्तु भौतिक-दृष्टिसे समृद्धिके मार्गपर पग बढाते हुए उनके जीवनका सूत्र था—— 'धर्म', 'अर्थ', 'काम' और 'मोक्ष' । इन चार शब्दोंमें आर्य-संस्कृतिकी जीवनके प्रति दृष्टि समा जाती थी । इन चारोंमें मुख्य स्थान 'धर्म' का था । 'धर्म'पर दो दृष्टियोंसे विचार किया जा सकता है—— विचारात्मक (Theoretical) तथा क्रियात्मक (Practical) । विचारात्मक-दृष्टिसे विचारकोंने नाना विचार रखे हैं——इन विचारोंका सम्बन्ध आत्मा-परमात्मा-प्रकृतिसे है, कोई कुछ मानता है, कोई कुछ. परन्तु इस ग्रन्थमें उनकी विवेचना करना हमारा लक्ष्य नहीं है । हम तो इस ग्रन्थमें आर्य-संस्कृतिके क्रियात्मक, व्यावहारिक स्वरूपपर विचार कर रहे हैं । क्रियात्मक-दृष्टिसे 'धर्म' का अभिप्राय उन व्यावहारिक बातोंसे है जो जीवनको प्रेरणा देती है——'चोदना लक्षणोऽर्थ. धर्म '——यह जैमिनीने मीमांसा-दर्शनमें कहा है, इसका अर्थ भी यही है——जो प्रेरणा दे वह धर्म है । जीवनको प्रेरणा देनेवाली बातें कौन-सी है ? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह——इन्हींसे तो व्यक्तियोंका, समाजका

और राष्ट्रका जीवन प्रभावित होता रहता है। शान्तिसे बर्तें या लडाई-झगडा करें, विश्व-शान्तिका नारा लगायें या डडेके जोरसे राज्य करें, सच बोलें या मतलबके लिये झूठ भी बोलें, दूसरेकी चीजपर हाथ डालें या न डालें, ब्रह्मचर्यसे जीवन बितायें या लपटताको भी जीवनमें स्थान दें, ससारको भोगते ही रहें या किसी समय इसे छोड भी दें—ये बातें जीवनको प्रेरणा देनेवाली है, क्रियात्मक है, व्यावहारिक है, इन्हींको आर्य-संस्कृतिमें क्रियात्मक 'धर्म' कहा गया है। आर्य-संस्कृतिका कहना था कि अहिसा, सत्य, अस्तेय आदि सार्वत्रिक है, और सार्वभौम है। योग-दर्शनमें इन्हे 'सार्वभौमा महाव्रतम्' कहा गया है। ये व्रत नहीं, महाव्रत है। 'अधर्म' और कुछ नहीं, किसी देश-कालमें इन महाव्रतोमेंसे किसी महाव्रतका उल्लंघन करना ही 'अधर्म' है। इस दृष्टिसे हिसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह—ये सब 'अधर्म' है। इसी दृष्टिसे आर्य-संस्कृतिकी राजनीतिमें उच्च-आदर्शोंको पालेके लिये नीच उपायोका अवलम्बन करना वर्जित है। साध्यकी सिद्धि हो गई, तो साधन उचित हो या अनुचित हो, कोई परवाह नहीं–जिसे अग्रेजीमें 'End justifies the means' कहा जाता है—यह बात आर्य-सस्कृति नहीं मानती। आर्य-सस्कृति तो कार्य-कारणके अटल नियमको आधार बनाकर चलती है। अगर साधन बुरे है तो उनका बुरा फल मिलना ही चाहिये, वर्तमान उद्देश्य की सिद्धि बुरे साधनोसे हो गई सो हो गई, परन्तु बुरे साधन स्वय एक कर्म है, और जैसे प्रत्येक कर्म कार्य-कारणके नियमसे बधा हुआ है, वैसे ये कर्म—ये बुरे साधन—अपना बुरा कर्म-फल लावेंगे और लावेंगे, फिर कैसे कहा जाय कि साध्यकी सिद्धि हो गई तो साधनका उचित-अनुचित होना कोई अर्थ नहीं रखता? जो विचार-धारा अहिसा-सत्य आदिको सार्वभौम महाव्रत मानती है, कार्य-कारणके नियमको अटल

मानती है, वह अनुचित साधनोंसे उद्देश्यकी सिद्धि करनेके लिये तय्यार नहीं हो सकती। अनुचित साधनोंसे उद्देश्यकी सिद्धिके लिये वही तय्यार हो सकता है, जो इन साधनोंको स्वतन्त्र कर्म न मानता हो, कर्म-फल को न मानता हो, कार्य-कारणके नियमको अखंड न मानता हो।

'धर्म'के बाद 'अर्थ' और 'काम' है। 'अर्थ' का सम्बन्ध है शारीरिक आवश्यकताओंसे, 'काम'का सम्बन्ध है मानसिक आवश्यकताओंसे—कामनाओंसे। 'अर्थ' और 'काम'को आर्य-संस्कृति जीवनका आवश्यक भाग समझती थी तभी तो जीवनकी इस चतुःसूत्रीमें इन दोनोंकी परिगणना की गई थी। परन्तु 'अर्थ' कैसा, और 'काम' कैसा ? आज 'अर्थ' का सम्पादन हो रहा है, धन-दौलतको हम पैदा कर रहे हैं, और जितना यह पैदा हो रहा है उतनी आर्थिक-समस्या विकट होती जा रही है। सबसे विकट समस्या यह है कि आज 'अर्थ' हमारे जीवनका आदि है, और 'अर्थ' ही हमारे जीवनका अन्त है। भौतिकवादके इस दृष्टि-कोणको महाभारतने कैसे उत्तम शब्दोंमें प्रकट किया था—'अर्थस्य पुरुषो दासः दासस्त्वर्थो न कस्यचित्'—पुरुष 'अर्थ'का दास है, 'अर्थ'के लिये सब-कुछ करता है, 'अर्थ' तो किसीका दास नहीं। भौतिकवाद तो सदा रहा है, आज है, महाभारत-कालमें भी था। हां, आज यह दृष्टि-कोण मानव-समाजके जीवनको चारों तरफसे व्याप रहा है, पहले व्याप नहीं रहा था। आज जितने नये-नये 'वाद' निकल रहे हैं, अर्थ'को आधार बनाकर आगे चलते हैं। पूंजीवाद है, समाजवाद है, कम्यूनिज्म है—ये सब 'अर्थ-वाद' हैं। आर्य-संस्कृति 'अर्थ'को जीवनका आवश्यक अंग समझती थी, परन्तु सर्वांग नहीं समझती थी। आर्य-संस्कृतिका दृष्टि-कोण ही दूसरा था। धन-दौलतकी उतनी ही आवश्यकता है जितना खाने-पीने, अच्छी तरहसे रहनेके लिये जरूरी है, उससे अधिक सम्पत्ति होगी तो

भोग बढेगा, विलासिता बढेगी, विलासितासे रोग बढेगा, ईर्ष्या, द्वेष, लालच, मोह, ममता, लडाई-झगडे—ये सब बढेंगे। आवश्यकतासे अधिक सम्पत्तिको जमा ही मनुष्य तब कर सकता है जब वह अधर्मका आश्रय ले, किसीको लूटे-खसोटे, ठगे, चोरबाजारी करे, खाने-पीनेकी चीजोंमें मिलावट करे, पूरेका आधा, आधेका चौथाई दे। आर्य-सस्कृति 'अर्थ' को जीवनके लिये आवश्यक समझती थी, परन्तु इस सस्कृतिमें 'धर्म'-पूर्वक 'अर्थ'के सम्पादनका विधान था, 'अधर्म'-पूर्वक 'अर्थ' का नहीं। 'धर्म'-पूर्वकका अभिप्राय है, सच्चे, ईमानदार साधनोसे सम्पत्तिका कमाना, झूठे, बईमानीके, ठगबाजीके साधनोसे अर्थ-सम्पादन न करना।

'अर्थ'की तरह 'काम'को भी वे जीवनका आवश्यक अग समझते थे, परन्तु आजकी तरह 'काम'को, 'वासनाओं'को वे बेलगाम नहीं छोड देते थे। अथर्ववेदमें लिखा है—'कामो जज्ञे प्रथम नैन देवा आपु पितरो न मर्त्या', ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महान्, तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि'—'यह काम सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ, इसका पार देव-पितर-मनुष्य कोई नहीं पा सका, यह ससारका सबसे बडा और सबसे महान् शत्रु है, नाश करनेवाला है, विश्वहा है, हे काम! मैं तुझे नमस्कार करता हू।' 'काम' कितना प्रबल है इसे आर्य-संस्कृति खूब अच्छी तरह समझती थी, परन्तु साथ ही यह भी समझती थी कि इसे आजकलकी तरह खुली छूट दे दी जाय तो यह समाजका सत्यानाश कर देता है। 'काम'की प्रबलताको आज भी समझा जा रहा है, आर्य-सस्कृति भी समझती थी, फर्क इतना है कि आज उसपर कोई रोक नहीं, उस संस्कृतिमें रोक थी। कैसे अश्लील, गन्दे इश्तिहार अखबारोमें छपते है, नव-युवकोको पथ-भ्रष्ट करनेवाले दृश्य सिनेमाओमें दिखाये जाते है, कामोत्तेजक गीत खुले बाजार ग्रामोफोन और रेडियोपर

गाये जाते और ध्वनि-निक्षेपक-यन्त्रों द्वारा दूर-दूरतक, जो सुनना चा
जो न सुनना चाहे, सबके कानोंतक पहुंचते हैं—यह सब कामुकता
वासनाको जगाना नहीं तो क्या है ? और, ऐसे वातावरणको उ
करनेके बाद यह कहना कि 'काम'पर विजय पाना कठिन है, इस
विषयके साथ हंसी-खेल करना नहीं तो क्या है ? आर्य-संस्कृति
बातको भली प्रकार समझती थी कि कामुकताके वातावरणको उ
करके इन्द्रिय-दमन और संयम असंभव है, ऐसे वातावरणमें रहनेवा
लिये इन्द्रिय-दमन और संयम निस्सन्देह फ्रॉयडके मनोविश्लेषणव
अनुसार स्नायु-रोग उत्पन्न कर सकता है, परन्तु आर्य-संस्कृ
विचारक कामुकताको कोई ऐसी भूत-बला नहीं समझते थे
अगर मनुष्य इनके अस्वाभाविक वातावरणमें न रहे, तो वह
वशमें ही नहीं कर सकता । अस्वाभाविक कामुकताको कौन वश
सकता है, परन्तु स्वाभाविक कामको कौन वश नहीं कर सकत
जैसे धर्म-पूर्वक 'अर्थ' का सम्पादन आर्य-संस्कृतिका अंग था, वैसे
पूर्वक 'काम'का भी इस संस्कृतिमें विधान था । हर तरहसे '
को जगाना, वासनाओंको भड़काते जाना, कामोत्तेजक भोजन क
कामोत्तेजक वस्त्र पहनना, कामोत्तेजक बातें करना, कामोत्तेजक
देखना—यह सब अधर्म-पूर्वक 'काम' है । स्वाभाविक काम
स्वाभाविक वासनाएं वे हैं जो अपने-आप स्वाभाविक रूपसे
जगाई न जायें । मनुने ठीक कहा है—'न जातु काम कामानामुपभो
शाम्यति, हविषा-कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते'—कामनाओंको बर
जगानेसे कामनाओंका शमन नहीं होता, इस प्रकार तो जैसे
आग प्रचंड हो उठती है वैसे लगातार एकके बाद दूसरा और दूस
बाद तीसरा भोग भोगते रहनेसे तो कामनाओंकी आग प्रचंड ह

जाती है। 'अर्थ' और 'काम'का आर्य-संस्कृतिमें स्थान है, जितना उचित स्थान होना चाहिये उतना स्थान, उससे अधिक नहीं, इसीलिये 'अर्थ' और 'काम'से पहले 'धर्म'को स्थान दिया गया है—धर्म-पूर्वक 'अर्थ' हो, और धर्म-पूर्वक 'काम' हो, तब न व्यक्तिको 'अर्थ' और 'काम'से खतरा रहता है, न समाजको, न राष्ट्रको, ये दोनो धर्म-पूर्वक न हो, तो 'अर्थ' और 'काम' व्यक्तिको, समाजको और राष्ट्रको—इन सबको किसी समय अपने साथ ले डूबते हैं।

जीवनकी इस चतु सूत्रीमें 'अर्थ' और 'काम'के बाद चौथा और अन्तिम स्थान 'मोक्ष'को दिया गया है। जैसा हमने बार-बार लिखा है, सृष्टिमें विकासकी दिशा -प्रवृत्तिसे निवृत्ति और भोगसे त्यागकी तरफ़ है। जीवनका प्रारंभ प्रवृत्तिसे है, परन्तु जीवनके विकासकी दिशा निवृत्तिकी तरफ जा रही है। इसी भावको संक्षेपमें कहनेके लिये आर्य-सस्कृतिने 'धर्म'-'अर्थ'-'काम' और 'मोक्ष'—इन चार शब्दोके मूत्रकी कल्पना की थी। 'अर्थ' और 'काम'का जीवनमें स्थान है, ठीक वही स्थान जो प्रवृत्तिका है, भोगका है—इसीको आर्य-संस्कृतिमें 'अभ्युदय' कहा गया था, परन्तु जीवनका अन्त निवृत्ति और त्यागमें है इसलिये 'अर्थ' और 'काम'की सार्थकता 'मोक्ष'में है—इसीको 'नि श्रेयस्' कहा गया था। 'अभ्युदय' और 'नि.श्रेयस्' जीवनके दो पक्ष है। 'मोक्ष'—अर्थात् सब-कुछ छोड देना, त्याग देना। 'मोक्ष'का अर्थ यहां 'मुक्ति'से नहीं है। 'मुक्ति'का प्रश्न तो मृत्युके अनन्तर उठता है, यह 'मोक्ष' तो जीवित रहते 'अर्थ'-'काम'से छूट जाना है। आर्य-सस्कृतिमें 'आश्रम-व्यवस्था'की रचना इसी दृष्टिसे की गई थी। 'अर्थ'-'काम'का सम्पादन गृहस्थ-आश्रममें होता था—यह 'अभ्युदय' था, 'अर्थ'-'काम'को छोड देना—'मोक्ष'—वानप्रस्थ तथा सन्यास-

आश्रममें होता था—यह 'निःश्रेयस्' था। 'धर्म'-'अर्थ'-'काम'-'मोक्ष'
मिलकर 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस्'—अर्थात्, इन दोनोंके मेलसे आर्य
संस्कृतिके जीवनका व्यापक दृष्टि-कोण बनता था। कालिदासने इक्ष्वाकु
वंशका वर्णन करते हुए रघुवंशमें लिखा है—'शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने
विषयैषिणाम्, वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्'—इस वंशके राजा
लोग शैशव-कालमें गुरुकुलोंमें विद्याका अभ्यास करते थे, यौवन-कालमें
गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके संसारके विषयोंका आनन्द लेते थे, वृद्धावस्थामें
विषयोंसे उपराम हो जाते थे, वानप्रस्थी हो जाते थे, मुनि बन जाते थे
अन्तमें योगद्वारा शरीर छोडते थे, संन्यासी हो जाते थे—इस प्रकारकी
उनकी जीवनकी बंधी हुई शृंखला थी। उनके जीवनका तीन-चौथाई
हिस्सा वन-उपवनमें, खुले मैदानोंमें, प्रकृतिके सम्पर्कमें, और एक
चौथाई हिस्सा शहरोंमें बीतता था, आयुका सबसे बड़ा भाग सादा जीवन
और उच्च-विचारोंमें तथा एक छोटा-सा हिस्सा 'अर्थ'-'काम'के
सम्पादनमें व्यतीत होता था।

साधनाका जीवन—

इस प्रकारका जीवन साधनाके बिना नहीं बन सकता था। इस
साधनाका आधार गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली तथा गुरु-शिष्य परंपरा थी
शिष्यको 'अन्तेवासी' कहा जाता था। 'अन्ते'का अर्थ है—समीप, जो
गुरुके अत्यन्त समीप रहे, इतना समीप मानो गुरुके हृदयके अन्दर
निवास करता हो। गुरुके इतना निकट होनेके कारण वह मानो गुरुके
सांचेमें ढल जाता था। यह उसकी साधना थी। जब शिष्य गुरुके निकट
विद्या ग्रहण करनेके लिये जाता था तब हाथमें समिधा लेकर जाता
था। इसका आशय यह था कि जैसे यह समिधा सूखी लकड़ी है, परन्तु

अग्निमें पड़कर प्रदीप्त हो उठती है, वैसे शिष्यको गुरु अपनी ज्ञानाग्निसे प्रदीप्त कर देता था, उसके जीवनकी एक निश्चित दिशा बना देता था। ब्रह्मचर्याश्रममें जबतक बालक निवास करता था तबतक साधना-ही-साधनाका जीवन बिताना होता था। आजकल हम 'डिसिप्लिन'का नाम लेते हैं, परन्तु 'डिसिप्लिन' कौन सीखे, कौन सिखाये? जब सिखानेवाले का जीवन साधनामय नहीं है तब सीखनेवाले क्या साधना करेंगे, किस प्रकारके नियन्त्रणमें रहेंगे! छान्दोग्यमें इन्द्र और विरोचनकी कथा आती है। वे दोनो आचार्य प्रजापतिके पास ३२ वर्षतक साधना करते रहे, तब जाकर प्रजापतिने उपदेश दिया। उपनिषदोंमें जहां-जहां गुरु-शिष्यका वर्णन आता है उसके साथ ही कई बरसोकी साधनाका भी साथ ही वर्णन आ जाता है। आर्य-संस्कृतिके दृष्टि-कोणमे यह मानव-जीवन हंसी-खेल-तमाशेका समय नहीं था, यह तो जन्म-जन्मान्तरके बाद इस चक्रमेंसे निकलनेका एक अपूर्व अवसर था, इसलिये इस जीवनका क्षण-क्षण बडा अमूल्य था, इसे हाथसे जाने देना 'महती-विनष्टि' कहा गया था। जब जीवनके प्रति इतनी गहरी, गंभीर दृष्टि हो, तब चौबीसों घंटे साधनामें ही लगे रहना स्वाभाविक था। साधनाका अर्थ है—तय्यारी। ब्रह्मचर्य-आश्रम साधनाका आश्रम था, तय्यारी का आश्रम था। जीवनके चरम-लक्ष्य—'मोक्ष'—के लिये तय्यारी, 'अर्थ'-'काम'की सिद्धि कर लेनेके बाद इन्हें छोड देनेकी तय्यारी। जबतक जीवनका एक अटल, अडिग दृष्टि-कोण न बन जाय, तबतक 'अर्थ-काम छोड दिया'—यह कह देने मात्रसे तो ये नहीं छूट सकते। गुरुका काम शिष्यके अन्तःकरणकी अन्तिम तहमें पहुंचकर उसको एक निश्चित विचार-धाराको बना देना था, और जब वह विचार-धारा बन गई तब फिर यह जीवनकी गाड़ी अपनी लकीर पर सीधी चल पड़ती थी, इसे अपने लक्ष्यतक पहुंचनेमें कोई शक्ति

रोक नही सकती थी। गुरुका काम सिर्फ विद्या पढा देना नहीं था, विद्या तो वह पढाता ही था, परन्तु विद्याके साथ आत्माको जगा देना उसका सबसे बडा काम था—ब्रह्मचारी 'विद्या-स्नातक' ही नहीं, 'व्रत-स्नातक' भी बनता था, 'मन्त्रवित्' ही नहीं, 'आत्म वित्' भी बनता था। जैसे दिशा-निदर्शक-यन्त्रकी सूई हिल-डुलकर उत्तर की तरफ आकर खडी हो जाती है, वैसे आर्य-संस्कृतिमें पले हुए युवकके जीवनकी सुई 'अर्थ'-'काम' में हिल डुलकर, संसारके विषयोके चक्कर काटकर अपने लक्ष्यपर आ खडी होती थी, इसलिये उस लक्ष्यपर आ खडी होती थी क्योकि जीवनके प्रारंभिक दिनसे वह संस्कारोकी चोटपर चोट खाकर पक्के लोहेकी तरह पानी खा चुका होता था, संस्कारी-जीव बन चुका होता था। 'ब्रह्मचर्य'की तरह 'गृहस्थ'-आश्रममें भी साधना जारी रहती थी। प्रायः सभी संस्कार गृहस्थाश्रममें किये जाते थे। संस्कार-प्रणाली एक नियमित साधना नहीं थी तो क्या थी? क्योकि एक लक्ष्यको सम्मुख रखकर जीवनकी दिशा बनती थी, उस लक्ष्यतक पहुचनेकी जीवनमें लगातार साधना होती थी, इसलिये समय आनेपर संसारको भोगकर संसारको छोड देना, विषयोमेंसे गुजरकर विषयोमे उपराम हो जाना. 'अर्थ'-'काम' की यथार्थता देखकर 'मोक्ष'की तरफ कदम बढा देना आर्य-संस्कृतिके विकासका स्वाभाविक क्रम था।

वासनाओको भोगे या वासनाओको दबाये—

इस स्थलपर एक अत्यन्त गहन प्रश्न उठ खडा होता है। क्या विषयोको भोगकर विषयोके प्रति वासना मिट सकती है, या वासनाओको कुचलकर वासनाओको मिटाया जा सकता है? वर्तमान मनोविज्ञानका कथन है कि विषयोको कुचलनेसे वे कुचले नही जाते, वासनाओको, इच्छाओ

को दवानेसे वे दबती नही। इस क्षेत्रमें फ़्रॉयडके मनोविश्लेषणवादको सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता है। फ्रॉयडका कथन है कि इच्छा भोगनेसे मिटती है, दबानेसे वह मिटती नहीं, चेतनाके भीतर जाकर छिप जाती है। वहा छिपकर उसकी क्रियाशीलता मरती नहीं, और अधिक बढ जाती है। अपने स्पष्ट रूपमें तो वह नहीं प्रकट होती, परन्तु अन्य भिन्न-भिन्न रूपोसे वह चेतनासे बाहर आनेका प्रयत्न किया करती है। इच्छाओमें सबसे प्रबल इच्छा जिसे समाजमें कुत्सित समझनेके कारण दबा दिया जाता है, 'काम' (Sex) की इच्छा है। फ़्रॉयड का कहना है कि यह इच्छा, या इसी तरहकी अन्य कोई भी इच्छा, दबती नहीं है, यह दवकर चेतनामें विकार उत्पन्न कर देती है, और मनुष्यका व्यवहार स्वाभाविक व्यवहार नहीं रहता। कोई-कोई तो पागल हो जाते है। साथके लोगोको उसके इस अस्वाभाविक व्यवहारका कारण नहीं मालूम पडता, परन्तु मनोविश्लेषणका पडित ऐसे रोगीके जीवनका विश्लेषण करके सचाईका पता लगा सकता है। एक तरफ तो यह दृष्टि-कोण है। दूसरी तरफ जो दृष्टि-कोण है वह यह है कि इच्छाओको जितना भोगा जाता है उतनी ही इन्हे भोगनेकी लालसा बढती जाती है। इच्छाओको भोगनेसे इच्छाए नहीं मिटतीं, इन्हे तो दबाना ही पडता है। आगमें जैसे घृतकी हवि डाली जाय तो आगकी लपट और चमक उठती है, वैसे विषय-भोगकी वासनामें ससारके विषयोकी हवि वासनाको और अधिक भडका देती है। महाभारतमें ययाति राजाका वर्णन आता है। वर्णन काल्पनिक है, परन्तु लेखकके भावको व्यक्त करता है। उसे ससारके विषयोको भोगनेकी बड़ी चाह थी। अपनी आयुमें तो वह भोगता ही रहा, उसकी सन्तानने भी अपनी आयु उसीको दे दी ताकि वह लगातार विषयोको भोगता रहे। दीर्घ-काल तक विषयोको भोगनेके बाद भी उसने देखा कि उसकी वासना

नही मिटी, उसकी इच्छा बढती ही चली गई, बढ़ती ही चली गई।

इन दोनो परस्पर-विरोधी दृष्टियोमें कौन-सी दृष्टि ठीक है ? दोनो दृष्टिया वासनाको मिटाना चाहती हैं, इस बातमें तो दोनोंमें कोई अन्तर नहीं। एक विषयोको भोगकर वासनाको मिटाना चाहती है, दूसरी विषयोको दबाकर। जो दृष्टि विषयोको भोगकर वासनाको मिटाना चाहती है, उसे दूसरा पक्ष कहता है कि यह रास्ता वासनाको मिटानेका नहीं, वासनाको जगानेका है। जो दृष्टि विषयोसे भागकर वासनाको दबाना चाहती है, उसे वर्तमान मनोविश्लेषणवादियोका कहना है कि यह रास्ता विषय-वासनाको 'अवचेतना' (Sub-conscious) में धकेलकर और अधिक क्रियाशील बना देनेका है, वासनाको मिटा देनेका नहीं। ऐसी स्थितिमें क्या किया जाय, किस रास्तेको सही समझा जाय ?

इन दोनो दृष्टि-कोणोका आधार क्या है ? इनका आधार है—'अनुभव'। अनुभवके आधारपर ही एक पक्ष विषयोंसे भागनेको कहता है, दूसरा पक्ष विषयोको भोगनेको कहता है। परन्तु ससारके विषयोके प्रति हमारा 'अनुभव' क्या है—हमारे अपने अनुभवका विश्लेषण करनेसे शायद स्थिति अधिक स्पष्ट हो जायगी।

इसमें सन्देह नही कि इच्छाके उत्पन्न हो जानेके बाद मनमें जो बेचैनी-सी उत्पन्न हो जाती है वह इच्छाके पूर्ण हो जानेपर नही रहती। इच्छा दबानेसे नहीं मिटती, पूरी होने से मिटती है। बच्चा एक खिलौनेको लेनेके लिये रो रहा है। जबतक वह खिलौना उसे दे नही दिया जाता तबतक वह आसमान-पाताल एक बनाये रखता है। कोई दूसरी उससे बढिया चीज भी उसके हाथमें दी जाती है, तो वह उसे दूर पटक मारता है। बच्चा जो बात जाहिर कर देता है हम उसे जाहिर नही करते, परन्तु हालत सबकी बच्चोकी-सी है। इच्छा पूरी न होनेपर बच्चा

चिल्ला-चिल्लाकर रोता है, हम मन-मन रोते हैं। अनुभव तो यही बतलाता है कि इच्छा जबतक पूरी न हो जाय तबतक यह जीवको बेचैन बनाये रखती है। परन्तु इस अनुभवका एक दूसरा पहलू भी है। यह ठीक है कि इच्छा पूरी होने के बाद शान्त हो जाती है परन्तु यह भी ठीक है कि कुछ देर शान्त रहनेके बाद यह फिर जाग उठती है। एक बार पूरी हुई, कुछ समयके लिये शान्त हो गई, परन्तु दुर्भाग्यसे यह शान्त ही नहीं पड़ी रहती। जैसे मनुष्य सो-सोकर फिर जागता है, वैसे इच्छा, वासना, मर-मरकर फिर-फिर आंख खोल बैठती है। यह ठीक है कि पहले-की-सी इच्छा दूसरी बार नहीं होती, दूसरी बारकी-सी तीसरी बार नहीं होती—इच्छाको पूर्ण कर लेनेके बाद उसका वेग उत्तरोत्तर कम होता जाता है। परन्तु यह तो ठीक है न कि शान्त होनेके बाद, कम वेगसे ही क्यों न हो, यह जाग फिर उठती है। वेग कम जरूर होता है, परन्तु वेगके कम होनेका कारण यह नहीं है कि वासना मिट गई, इसका कारण यह है कि वासना तो बनी रही, परन्तु उसे तृप्त करनेका जो साधन है—शरीर—उसमें शक्ति नहीं रही।

प्राणीमें दो बातें हैं—'वासना', और वासनाको भोगनेकी 'शक्ति'। भोगनेकी 'शक्ति'का आधार भौतिक है, 'वासना'का आधार मानसिक है। ज्यों-ज्यों शारीरिक-'शक्ति' क्षीण होती जाती है, त्यों-त्यों 'वासना' अपने-आप क्षीण होती जाती है। साथ ही, विषयोंके भोगद्वारा 'वासना' को क्षीण किया जायगा तो शारीरिक-'शक्ति' अपने-आप क्षीण होती जायगी। 'वासना'के क्षीण होनेके साथ-साथ शारीरिक-'शक्ति' भी क्षीण होती जायगी, परन्तु यह आदर्श स्थिति नहीं है। आदर्श स्थिति तो वह है जिसमें 'वासना' तो क्षीण हो जाय, परन्तु शारीरिक-शक्ति बनी रहे, मनुष्यमें विषयोंको भोगनेकी सामर्थ्य रहे, परन्तु भोगोंके

लिये वासना, उनके लिये लालसा न रहे, शक्ति बनी रहे, बेचैनी न रहे। ऐसी अवस्था विषयोको भोगनेसे नहीं आती। विषयोको भोगनेसे वासनाका वेग कम जरूर हो जाता है परन्तु वासनाके वेगके कम होनेके साथ-साथ शक्ति भी जाती रहती है। हमें वासनाका क्षय तो करना है, परन्तु वासनाके साथ शक्तिको तो नहीं मिटा देना।

समस्याकी इस कठिनाईको आर्य-संस्कृतिने हल कर दिया था। आर्य-संस्कृति वर्तमान मनोविश्लेषणवादकी इस बातको मानती थी कि संसारके विषय—'छोड दिया'—यह कह देनेमात्रसे नहीं छूट जाते। विषयोको छोडनेके लिये विषयोको पकडना जरूरी है, जो पकडा है वही छूटेगा, जो भोगा है उसीका त्याग होगा, जिधर प्रवृत्ति है उधरसे ही निवृत्ति होगी। परन्तु कब छोड़ा जाय, कब त्याग हो, कब निवृत्ति हो? क्या विषय-वासनाको तब छोडें जब उसे पकड़नेकी शक्ति न रहे, तब त्यागें जब भोगनेका सामर्थ्य न रहे, या शक्ति रहते, सामर्थ्य रहते उसे छोड दें, त्याग दें? आर्य-संस्कृतिका कहना था कि शक्ति रहते छोड देना, सामर्थ्य रहते त्याग देना—यही सही रास्ता है। संसारको छोडनेके लिये भोगना तो जरूरी है—तभी आर्य-संस्कृतिमें संसारको त्याज्य या हेय नहीं माना था. संसारको भोगना, गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करना, 'अर्थ' और 'काम'की सिद्धि करना—'अभ्युदय'—यह सब आर्य-संस्कृतिका आवश्यक अंग था, परन्तु वासनाओंकी तृप्तिमें अपनी सम्पूर्ण शक्तिका नाश कर देना—यह आर्य-संस्कृतिको मान्य नहीं था। जैसे वर्तमान मनोविश्लेषणवादका आधार 'अनुभव' है, वैसे आर्य-संस्कृतिका 'अनुभव'के आधारपर ही कहना था कि संसारके विषयोको भोगनेकी दो अवस्थाएं है। एक तो प्रारंभिक अवस्था है—वह अवस्था जब अभी हमने विषयोको भोगा नहीं होता, अभी हमारा उनके प्रति आकर्षण

प्रारभ ही हुआ होता है। यह अवस्था प्रायः यौवनके प्रारभमें आती
इस अवस्थामें मनुष्य पशु होता है, विषयोको छोड़ ही नहीं सकता।
अवस्थामें विषयोका भोगना जरूरी भी है, कम-से-कम आम व्यक्तिय
लिये जरूरी है। जो लोग अपवाद है उनका यहां जिक्र नहीं। आ
मनोविज्ञानके पीछे चलकर अगर मनुष्य पशु बनकर विषयोको भोग
ही चला जाय तो भोगते-भोगते वासना तो मर मिटे परन्तु साथ ही
स्वय भी तो मर मिटे। ख़ुद ही न रहा तो वासना क्या रहेगी। प
नहीं, आर्य-सस्कृतिका कहना था कि यौवन-कालका विषयोका भोग
विषयोंकी अस्लीयतको सामने ला रखता है। विषयोंकी अस्लीयत क्या
भोगनेके बाद त्यागनेकी भावना पैदा होती है, अवश्य होती है—
ससारके विषय-भोगकी अस्लीयत है। भोगके बाद त्यागकी भावना आये
त्यागके बाद, जैसा हमने अभी ऊपर कहा, फिर भोगकी प्रवृत्ति ज
उठेगी, भोगनेसे वासना शान्त होगी, परन्तु कुछ देर शान्त रहने के ब
फिर जाग उठेगी। फिर भोगनेसे शान्त होगी तो, कुछ देर बाद फिर ज
उठेगी—यह चक्र तो चलता ही चला जायगा। मनुष्य कहां बस कर
कहा अंगदकी तरह पाव रखकर खडा हो जाय, कहा कह दे कि नहीं,
इस चक्रको अब आगे नहीं चलने दूगा? आखिर मनुष्यमें कुछ मनुष्य
भी है, या निरा 'पशुपन' ही है? आर्य-संस्कृतिका कहना था कि
विषयोकी अस्लीयतको अन्दरसे देख लिया, तो इस अस्लीयतके पैदा हो ज
के बाद मनकी वह दूसरी अवस्था आती है जिसमें मनुष्य जान चुका हो
है, कि भोगके बाद त्याग, प्रवृत्तिके बाद निवृत्ति आती है, सदा आती
अवश्य आती है। इसका आना एक आध्यात्मिक नियम है। मनकी
दूसरी स्थितिमें अपनेको टिका लेना, शान्त होनेके बाद मनकी फिर अशा
वैराग्यके बाद फिर रागकी अवस्था आयेगी—इसे जानते हुए अपने

अशान्त या रागकी अवस्थामें न जाने देना, भोगकी अस्लीयतको समझकर बार-बार भोगकी तरफ न लौटना—आर्य-संस्कृतिने इसीको जीवनका सही रास्ता कहा था। आर्य-संस्कृतिका कहना था कि यह तो ठीक है कि संसारके विषयोंको बिना भोगे उन्हे छोड देनेसे वे छूटते नही, मनकी अवचेतनामें चले जाते है, वहा रड़क पैदा किया करते है, बेचैनी पैदा किया करते है, परन्तु रड़क तो विषयोंको बिल्कुल न भोगनेसे, उन्हें अवचेतनामें धकेल देनेसे पैदा होती है, उन्हें यूही नहीं, परन्तु भोगकर छोड़ देनेसे तो रडक नहीं बच रहती। तब भी बच रहती है, तो संयम करो, क्या हर्ज है ? हां, अगर भोगकर इन्द्रियोंको बार-बार जगाया जायगा, गन्दे तथा अश्लील वातावरणसे जगाया जायगा, तब तो भोगनेका यह सिलसिला कहीं रुकनेका नाम नहीं लेगा। भोगते-भोगते कहीं रुकनेकी न सोचना पशु-जीवन है, पशु जो 'प्राकृतिक-भावना' (Instinct) से काम लेता है, भोग और त्यागके चक्रमें किसी जगह भोगको छोडकर त्यागपर अटक जाना मनुष्य-जीवन है, मनुष्य जो 'बुद्धि' (Intelligence) से काम लेता है। दो ही तो संभावनाएं है। या तो मनुष्य संसारके विषयोंके भोग भोगता ही जाय, तबतक बस न करे जबतक स्वयं ही बस न हो जाय; या भोगोंको भोगकर, बीचमें किसी पडावपर, अभी अपनेमें शक्ति रहते बस कर दे, छोड़ दे, यह समझकर छोड़ दे कि यह चक्कर तो ऐसे ही चलता रहेगा, देख लिया, बहुत देख लिया, अब और अधिक देखनेकी जरूरत नहीं। इस प्रकार बस कर देनेमें अपनी शक्ति, अपना सामर्थ्य भी बना रहता था, और विषय-वासना भी नष्ट हो जाती थी, वह अपनी किसी प्रकारकी बेचैनी भी पीछे नहीं छोडती थी। आर्य-संस्कृतिने इस प्रकार कोरे भौतिकवाद तथा कोरे अध्यात्मवादका उसी 'अनुभव'के आधारपर जिसका मनोविश्लेषणवाद नाम लेता है

व्यावहारिक समन्वय कर दिया था और इस समन्वयके आधारपर ही जीवनकी सम्पूर्ण रूप-रेखाका निर्माण किया था ।

आर्य-सस्कृतिके जिन मूल-तत्त्वोका इस पुस्तकमें विवेचन किया गया है वे एक हजार सालसे, फिरसे पनपनेकी, प्राणवान् होनेकी बाट जोह रहे थे। इस अरसेमें भारतवर्षमें कई सस्कृतिया आईं और पीछेको लौट गई परन्तु भारतकी आर्य-सस्कृति वैसी-की-वैसी बैठी अपना समय देखती रही। आज हम स्वतन्त्र हुए है, आज उस सस्कृतिको फिरसे सिर ऊचा करनेका, हमारे जीवनको चारो तरफसे पकडकर एक साचेमें ढाल देनेका अवसर मिला है । इस समय हम भौतिकवादकी चकाचौंधमें जीवनके इन आधार-भूत तत्त्वोको भूल जायेंगे, या साहस बटोरकर इन आदर्शोंको अपने दिन-दिनके चलनमें उतारनेका प्रयत्न करेंगे ? आजका भारतका मानव एक चौराहेपर खडा है । आगे-पीछे, दायें-बायें कई रास्ते फट रहे है । स्वतन्त्र भारतके मानव ! तेरे देशकी सदियोंसे अपने समयकी प्रतीक्षामें बैठी हुई आर्य-संस्कृति तुझसे पूछ रही है—तू किधर जायगा ?